श्री देवसेनाचार्यविरचित

तत्त्वसार

श्री सत्श्रुतसेवा-साधना केन्द्र
अहमदाबाद

श्रीदेवसेनाचार्यविरचित

तत्त्वसार

(श्री कमलकीर्त्तिकृत संस्कृतटीका, श्री पं० पन्नालालजी चौधरी कृत भाषावचनिका, पंडितप्रवर द्यानतरायजीकृत हिन्दीपद्यानुवाद तथा गुर्जरभाषानुवादसहित)

अनुवादक एवं सम्पादक
पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री, साढूमल

प्रकाशक
श्री सत्श्रुतसेवा--साधना केन्द्र
अहमदाबाद

प्रकाशक : चंदुलाल छोटालाल महेता, प्रमुख–
श्री सत्श्रुतसेवा–साधना केन्द्र,
पुष्पविला, मीठाखली, महाराष्ट्र सोसायटी,
अहमदाबाद–३८०००६

प्रथम संस्करण : १५०० प्रतियाँ
वीर नि० सं० २५०७ वि० सं० २०३७ ई० सन् १९८१

मूल्य : पन्द्रह रुपये

प्राप्तिस्थान :
गुजरात टयूब एण्ड सेनिटरी स्टोर्स
खाडिया चार रस्ता, अहमदाबाद–३८०००१

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी–२२१००१

प्रकाशकीय निवेदन

श्री सत्श्रुत-सेवा-साधना केन्द्र, अहमदाबादकी ओरसे यह 'तत्त्वसार' ग्रन्थ प्रकाशित करके अभ्यासी और स्वाध्यायप्रेमी मुमुक्षुओंकी सेवामें प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नताका अनुभव करते हैं। हिन्दी भाषामें इस संस्थाकी ओरसे यह प्रथम प्रकाशन है, इसलिये हिन्दीभाषी समाजको संस्थाका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक समझते हैं।

संस्थाका परिचय और उद्देश्य

भगवान् महावीरके उदार और अनेकान्तयुक्त उपदेशको उनके बाद अनेक आचार्योंने और साधु-सन्तोंने अपनी-अपनी पद्धतिसे लिपिबद्ध किया और आजतक उस निर्मल परमपावनी ज्ञान-गंगामें डुबकी लगाकर अनेकोंने अपने जीवनको उन्नत और समृद्ध बनाया। गत शताब्दीमें, पश्चिम भारतमें अपने विशिष्ट ज्ञान और साधनामय जीवनसे श्रीमद् राजचन्द्रजीने एक आध्यात्मिक वायुमण्डलका निर्माण किया, जिसके फलस्वरूप महात्मा गांधीने सत्य और अहिंसाके सिद्धान्तको अपने जीवनमें अग्रिम स्थान दिया। श्रीमद्‌जीने अनन्य शिष्य श्री लघुराजस्वामीसे प्रभावित ब्र० श्री सीतलप्रसादजीने जैनशासनकी अनेकविध सेवा की और अनेक ग्रन्थोंके साथ 'सहज सुख-साधन' ग्रन्थका निर्माण भी किया। श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा संस्थापित 'परमश्रुत-प्रभावक मण्डल'ने जैनाचार्योंके अनेक उत्तम ग्रन्थोंको प्रकाशित करके जैन साहित्य और भारतीय वाङ्मयकी विशिष्ट सेवा की और अब भी वह कार्य श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगासकी ओरसे चल ही रहा है।

श्रीमद् राजचन्द्रजीकी विशाल, बिनसाम्प्रदायिक विशिष्ट अनुभवपूत आध्यात्मिक दृष्टिसे प्रेरणा लेकर अहमदाबादमें सन् १९७५ में इस संस्थाका शुभारम्भ हुआ, जिसके मुख्य प्रयोजक डॉ० मुकुन्द सोनेजी हैं। अबतक संस्थाकी ओरसे आठ पुस्तकोंका प्रकाशन हुआ है जो सभी गुजराती भाषामें हैं, जिनके नाम अन्यत्र दिये गये हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिको मुख्य रखते हुए तत्त्वज्ञान, साधनापथ, इतिहास, योगसाधना, भक्ति-मार्ग, नीतिशास्त्र, सिद्धान्तशास्त्र आदि भारतीय संस्कृतिके अंगभूत विविध विषयोंपर लिखे गये प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यको प्रगट करना संस्थाका मुख्य उद्देश्य है। समाजको उन्नतिकी ओर ले जानेवाले हर प्रकारके संस्कारपूर्ण साहित्यको पुस्तकालयोंके माध्यमसे समाजकी सेवामें रखना, और युवावर्गकी रुचि सत्साहित्यकी ओर बढ़े ऐसी व्यवस्था करना भी संस्थाका एक उद्देश्य रहा है, जिसके भागरूप एक पुस्तकालयकी स्थापना अहमदाबादमें की गई है।

इसके अतिरिक्त स्वाध्याय-शिविरों, प्रवचनमालाओं और तीर्थयात्राओंका आयोजन करके समाजमें आध्यात्मिक संस्कारोंका निर्माण करना, यह भी एक खास प्रयोजन संस्थाने अपने सामने रक्खा है। जिसमें अभी तक ६ बड़ी यात्राओंका आयोजन किया गया, जिसका लाभ एक हजारसे अधिक यात्रियोंने लिया है। यात्राके दौरान भारतके सभी मुख्य जैन तीर्थोंकी वन्दनाका लाभ मुमुक्षुओंको मिला है। अभीतकके शिविरोंका आयोजन गुजरात तक सीमित रहा है, परन्तु स्वाध्याय-सत्संगकी आराधना गुजरातसे बाहर बम्बई, कलकत्ता, कुम्भोज-बाहुबली, मद्रास,

टाटानगर, इन्दौर, देवलाली, बैंगलोर, हम्पी (विजयनगर), हैदराबाद, कारंजा आदि स्थानोंपर हुई है। संस्था, गच्छ-मत-सम्प्रदायकी संकीर्णतामें उलझे बिना वीतराग महर्षियोंके स्वपर-कल्याणकारी उपदेशको जनता तक पहुँचानेमें प्रयत्नशील है।

प्रस्तुत प्रकाशन

श्रीमद् राजचन्द्रजीने 'उपदेश नोंध-१५ पृ० ६६९' पर 'श्रीसत्श्रुत'—शीर्षकके अन्तर्गत अनेक ग्रन्थोंका उल्लेख किया है, और उन ग्रन्थोंका इन्द्रियनिग्रहपूर्वक अभ्यास करनेकी प्रेरणा दी है। उपरोक्त स्थानपर निर्दिष्ट प्रायः सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, और यह 'तत्त्वसार' ग्रन्थ भी सन् १९३७ में स्व० जैनधर्मभूषण ब्र० सीतलप्रसादजीकृत संक्षिप्त हिन्दी टीका सहित दि० जैन पुस्तकालय, सूरतकी ओरसे प्रगट हुआ था, परन्तु वर्तमानमें कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक अति उत्तम आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसमें जैन दृष्टिसे तत्त्वोंका संक्षिप्त स्वरूप बताकर समस्त साधकोंको परम उपकारी ऐसे आत्मज्ञान और ध्यानमार्गकी आराधनाकी प्रेरणा व शिक्ष दी गई है। सभी अध्यात्मप्रेमी मुमुक्षुओंके लिए यह ग्रन्थ स्वाध्याय-ध्यान-तत्त्वाभ्यासमें अत्यन्त उपकारी जानकर और वर्तमानमें अनुपलब्ध होनेसे इसका प्रकाशन किया गया है।

जैन समाजके लब्धप्रतिष्ठ मूर्धन्य विद्वान् श्रीमान् पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीसे संस्थाकी ग्रन्थ-प्रकाशन-समितिके सदस्योंकी भेंट कुंभोज—बाहुबली एवं थुबौनजी तीर्थोंमें हुई और समितिने अपना सुझाव पंडितजीके समक्ष रक्खा। उन्होंने इस सम्बन्धमें अनुकूल प्रत्युत्तर दिया और बहुत सहज भावसे ग्रन्थके सम्पादनका कार्य संभालनेकी स्वीकृति दे दी। मात्र पाँच-छह महीनोंमें ही उन्होंने इस कठिन ग्रन्थका जिस प्रकार सुचारुरुपसे और वैज्ञानिक ढंगसे सम्पादन कर दिया है, इससे पाठकवर्गको उनके श्रुतप्रेम, कर्त्तव्यनिष्ठा और विशाल अध्ययनकी सहजमें प्रतीति हो जाती है। आपके सर्वांगीण सहयोगके लिए हम आपका अत्यन्त आभार प्रगट करते हैं, और हमें आशा ही नहीं, किन्तु विश्वास है कि आप जिनवाणीकी अविरल सेवा करके स्वपर-कल्याणमें लगे रहेंगे एवं अन्य नूतन पंडित-समाजको भी श्रुतसेवाकी प्रेरणा देते रहेंगे।

इस प्रकाशनके प्रूफरीडिंग आदिका सब कार्य श्रीमान् पंडित बाबूलाल सिद्धसेन जैन, अहमदाबाद वालोंने सत्श्रुतभक्तिसे प्रेरित होकर किया है। इस विशिष्ट सहयोगके लिए हम उनके आभारी हैं।

ग्रन्थका सुन्दर और सावधानीपूर्वक मुद्रणका कार्य श्री बाबूलालजी फागुल्ल, महावीर प्रेस, वाराणसीने तत्परतासे किया है, अतः वे धन्यवादके पात्र हैं।

अन्तमें, अभ्यासी और साधकसमुदाय इस उत्तम ग्रन्थका अध्ययन-अध्यापन करके स्वपर-कल्याणमें लगेंगे ऐसी भावनासहित,

अध्यात्मसाधकोंकी सेवामें तत्पर
ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति,
श्री सत्श्रुत सेवा-साधना केन्द्र

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन शास्त्रोंमें जहाँ कहीं भी ध्यानका वर्णन किया गया है, वहाँ सर्वत्र ध्यानकी सिद्धिके लिए कहा गया है कि साधक इष्ट प्रिय वस्तुको पाकर हर्षित न हो और अप्रिय वस्तुको पाकर उद्विग्न न हो, किन्तु दोनोंमें समानरूपसे स्थिर बुद्धि रहे, परमें मोहित न हो, आत्मस्वरूपमें स्थित रहे[1]। इन्द्रियोंका विजेता हो, सर्व प्राणियों पर अपने समान बुद्धि रखें। प्रशान्त चित्त हो, परमात्मामें समाहित बुद्धि हो, शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमानमें समान भाव रखने वाला हो[2]। मित्र और शत्रुमें उदासीन हो, बन्धु और द्वेष रखने वालों पर मध्यस्थ हो, साधुजनोंमें और पापी पुरुषोंमें तथा स्वर्ण और पाषाणमें भी समान बुद्धि रखने वाला हो। आशा-तृष्णासे रहित हो, अपरिग्रही हो, और सावधान चित्त हो, ऐसा योगी ही एकान्तमें एकाकी बैठकर अपने आत्मामें अपने आपको संलग्न करे[3]।

ध्यानकी सिद्धि घरके व्यापारोंमें संलग्न आरम्भी और परिग्रही गृहस्थके सम्भव नहीं है। गृहस्थ ध्यान करनेके लिए जब भी आँख बन्द करके बैठता है, तभी घरके व्यापार उसके सम्मुख आकर खड़े हो जाते हैं[4]। चंचल मनको वशमें करना गृहस्थके लिए शक्य नहीं है। यही कारण है कि चित्तकी चंचलता शान्त करनेके लिए सत्पुरुषोंने पूर्व कालमें घरके निवासका त्याग किया है। कदाचित् आकाश-कुसुम और खर-शृंगका होना सम्भव है किन्तु किसी भी देश या कालमें गृहस्थाश्रमके भीतर रहते हुए ध्यानकी सिद्धि सम्भव नहीं है[5]।

यही कारण है कि आ० देवसेनने भावसंग्रहमें पंचम गुणस्थानका वर्णन करते हुए जहाँ गृहस्थके ध्यानका निषेध किया है, वहाँ छठे गुणस्थानवर्ती साधुके उपचार रूपसे धर्मध्यानका

---

१. न हृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिर बुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ (गीता० ५,२०)

२. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ (गीता० ५,७)

३. समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण-सुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥ (गीता० १२,१८)
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ (गीता० १४,२४)
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ (गीता० ६,१०)

४. घर-वावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठन्ति णिमीलियच्छिस्स॥ (भावसंग्रह० ३८५)

५. शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहस्थितिः॥ (ज्ञानार्णव० ४,१०)
खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देश-कालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे॥ (ज्ञानार्णव० ४,१७)

और सातवें गुणस्थानवर्ती साधुके मुख्यरूपसे धर्मध्यानका विधान किया है। आगेके गुणस्थानोंमें तो शुक्लध्यान ही होता है।

प्रस्तुत तत्त्वसारमें आदिसे लेकर अन्त तक आरम्भ और परिग्रहसे रहित साधुको और उसमें भी ध्यान करने वाले योगीको लक्ष्यमें रखकर ही ध्यानका वर्णन किया गया है। आचार्य देवसेनका स्पष्ट कथन है कि मुख्य धर्मध्यान तो प्रमाद-रहित सप्तम गुणस्थानमें ही होता है। पाँचवें और छठे गुणस्थानमें तो वह उपचारसे ही जानना चाहिए[1]। इसका कारण यह है कि पाँचवें गुणस्थान तक आर्त और रौद्र ध्यान होते हैं और छठे गुणस्थानमें आर्तध्यानके साथ पन्द्रह प्रकारका प्रमाद भी पाया जाता है। जब इनमें दोनोंकी परिणति रहेगी, तब धर्मध्यान कहाँ सम्भव है? हाँ, यह बात अवश्य है कि मिथ्यात्वीके अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें आर्त रौद्र-ध्यान और प्रमाद तीव्र होंगे। अविरतसम्यक्त्वीके अनन्तानुबन्धी के उदयके अभावमें और शेष तीन कषायोंके उदयमें उससे मन्द होंगे। देशव्रतीके शेष दो कषायोंके उदयमें और भी मन्द आर्त-रौद्रध्यान एवं प्रमाद होंगे। जहाँ जिस समय कषायोंका जितना मन्द उदय होगा, वहाँ उस समय संक्लेशकी हानि और विशुद्धिकी वृद्धिसे धर्मध्यान होना सम्भव है, यही कारण कारण है कि पूज्यपाद आदि आचार्योंने चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान कहा है[2]। किन्तु उसे आचार्य देवसेनने धर्मध्यान न कह कर भद्रध्यान कहा है। इसका कारण यह है कि जितने समय तक कषायकी मन्दतासे परिणामोंमें विशुद्धि बनी रहती है, उतने समय तक तो धर्मध्यान रहता है, किन्तु कषायोंके उदयकी तीव्रता होते ही उसकी प्रवृत्ति पुनः भोग-सेवनकी हो जाती है और प्रमत्त संयतकी प्रवृत्ति प्रमाद रूपसे परिणत हो जाती है। आचार्य देवसेनने भद्रध्यानका लक्षण ही यह कहा है[3]।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि छठे और सातवें गुणस्थानका काल केवल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इससे अधिक काल तक साधु न छठे गुणस्थानमें रह सकता है और न सातवें गुणस्थान में। जैसे आँख खुलती और बन्द होती रहती है, अथवा श्वास आती और जाती रहती है, उसी प्रकार साधु छठेंसे सातवेंमें और सातवेंसे छठे गुणस्थानमें आता जाता रहता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि भावलिंगी संयमी साधुकी प्रवृत्ति अन्तर्मुहूर्तसे अधिक न प्रमाद-युक्त ही रहती है और न प्रमाद-रहित ही रह सकती है। इसी कारणसे प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानका उत्कृष्ट भी काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है[4]। छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती संयत संसारमें सदा ही पाये जाते हैं, अतः उनकी अपेक्षा दोनों गुणस्थानोंका सर्वकाल कहा गया है।

---

१. मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरइए ठाणे।
देशविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥ (भावसंग्रह गा० ३७१)

२. तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति। (सर्वार्थसिद्धि० अ० ९ सू० ३६ टीका)

३. भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चिन्तेइ भोयपरिमुक्को।
चिन्तिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए ॥ (भावसंग्रह० गा० ३६५)

४. पमत्त-अप्पमत्तसंजदा केवचिरं कालादो होंति? णाणाजीवं पडुच्च सव्वद्धा ।१९। एगजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं ।२०। उक्कस्सेण अन्तोमुहुत्तं ।२१। (छक्खंडागम, कालानुयोगद्वार, पुस्तक ५ पृ० ३५०-३५१) प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एक जीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः। (सर्वार्थसिद्धि, अ० १ सू० ८)

तत्त्वसार का सार

आचार्य देवसेनने पंच परमेष्ठीरूप परगत तत्त्वके ध्यानको साक्षात् तो पुण्यका कारण और परम्परासे मोक्षका कारण कहा है। (देखो गाथा ४) उन्होंने आत्म-चिन्तन रूप स्वगत तत्त्वके भी दो भेद किये हैं—सविकल्प और निर्विकल्प। इनमें सविकल्प तत्त्वको विकल्प युक्त होनेके कारण सास्रव अर्थात् कर्मोंके आस्रवसे युक्त कहा है और निर्विकल्प तत्त्वको संकल्प विकल्पों से रहित होनेके कारण निरास्रव अर्थात् कर्मोंके आस्रवसे रहित कहा है। (गाथा ५) यहाँ यह ज्ञातव्य है कि टीकाकारने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य आराधकको आदि लेकर तारतम्यके क्रमसे दशम गुणस्थानवर्ती सूक्ष्मसाम्यराय संयत तक सविकल्प आत्म-चिन्तन होता है, अतः वह मोहकर्मके सद्भाव बने रहने तक सास्रव है। ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहकर्मका उपशम होनेसे तथा बारहवें गुणस्थानमें मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेके कारण यहाँ निर्विकल्प रूप जो आत्मध्यान है, वह निरास्रव है। केवल एक सातावेदनीय प्रकृतिका आस्रव होता है, सो वह एक समयकी स्थिति वाला है अतः आनेके साथ ही निर्जीण हो जानेसे आस्रवमें गिना नहीं गया है।

निर्विकल्प ध्यानके लिए इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे विराम लेना सबसे पहिले आवश्यक है। जब इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्ति रुकेगी, तब मनकी चंचलता रुकेगी और मनकी चंचलता रुकने से सर्व प्रकारके संकल्प विकल्प रुकेंगे। संकल्प-विकल्पोंके नष्ट होने पर ही निर्विकल्प निश्चल स्थायी शुद्ध स्वभाव प्रकट होगा। (गाथा ६-७) यह सम्पूर्ण ग्रन्थका अर्थात् तत्त्वसारका सार है।

आत्माके उस निर्विकल्प रूप शुद्ध स्वभावका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है और उसे ही शुद्ध चेतना भी कहा जाता है। (गाथा ८) वह निर्विकल्प तत्त्व ही सार है और वही मोक्षका कारण है। यह जानकर ध्याता पुरुषको निर्ग्रन्थ होकर उस विशुद्ध तत्त्वका ध्यान करना चाहिए। (गाथा ९)

निर्ग्रन्थ किसे कहते हैं? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए आचार्य देवसेन कहते हैं कि जिसने मन, वचन, कायसे बाहिरी और भीतरी सब प्रकारके ग्रन्थ (परिग्रह) का त्याग कर नग्न दिगम्बर रूप जिनलिंग धारण कर लिया है ऐसे श्रमणको निर्ग्रन्थ कहते हैं। बाहिरी परिग्रह दश प्रकार का है—१ क्षेत्र (खेत), २ वास्तु (मकान), ३ हिरण्य (चाँदी), ४ सुवर्ण (सोना), ५ धन (गाय-भैंस आदि), ६ धान्य (गेहूँ आदि अन्न), ७ दासी (नौकरानी), ८ दास (नौकर-चाकर), ९ कुप्य (वस्त्र) और १० भांड (बर्तनादि)। अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकारका कहा गया है—१ मिथ्यात्व, २ क्रोध, ३ मान, ४ माया, ५ लोभकषाय, ६ हास्य, ७ रति, ८ अरति, ९ शोक, १० भय, ११ जुगुप्सा, १२ स्त्री वेद, १३ पुरुष वेद और १४ नपुंसक वेद। इन बहिरंग और अन्तरंग रूप चौबीस प्रकारके परिग्रहका त्रियोगसे त्याग करने पर ही निर्ग्रन्थ संज्ञा प्राप्त होती है। (गाथा १०)

निर्ग्रन्थ लिंग धारण कर लेनेके पश्चात् भी ध्यान करने वाले योगीको भिक्षा, वसतिका आदिके लाभ या अलाभमें, सुख-दुःखमें, जीवन-मरणमें और शत्रु-मित्रमें समान बुद्धि रखना आवश्यक है, तभी वह ध्यान करनेमें समर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं। (गाथा ११)

आगे आचार्य देवसेन कहते हैं कि यदि तुम शाश्वत मोक्ष सुखकी इच्छा करते हो तो परमें राग, द्वेष, मोहका त्याग कर सदा ध्यानका अभ्यास करो और अपनी शुद्ध आत्माको ध्याओ। (गाथा १६)

आत्मा कैसा है ? इस प्रश्न के उत्तरमें बताया गया है कि निश्चय नयसे आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुणोंसे युक्त है, असंख्यात प्रदेशी है, अमूर्त है, वर्तमानमें गृहीत शरीर-प्रमाण है, निरंजन है, क्रोधादिसे रहित है, शल्य और लेश्याओंसे रहित है, रूप-रसादिसे रहित है, कर्मोंके बन्ध, उदयादि स्थानोंसे रहित है, मार्गणा, जीवसमास और गुणस्थानोंसे भी रहित है। (गाथा १७-२१) किन्तु व्यवहार नयसे कर्म-नोकर्मादि जनित उक्त विभावोंसे युक्त भी है। (गाथा २२)

जीव और कर्मका संयोग दूध-पानीके मिलापके समान है। दोनों एकमेक होकर भी अपने-अपने स्वभावसे युक्त रहते हैं। उन्हें जैसे विधि-विशेषसे भिन्न-भिन्न कर दिया जाता है उसी प्रकार ध्यानके योगसे जीव और कर्मके संयोगको भी ज्ञानी पुरुष भिन्न-भिन्न कर सकता है। (गाथा २३-२४) अतः उन्हें भिन्न-भिन्न करके सिद्धके समान अपने शुद्ध परमब्रह्मस्वभावरूप आत्माको ग्रहण करना चाहिए। (गाथा २५)

उस शुद्ध परम ब्रह्मका क्या स्वरूप है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा गया है कि कर्म-मलसे रहित, ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा जैसा सिद्धालयमें निवास करता है, वैसा ही इस देहमें स्थित परम ब्रह्मरूप आत्माको जानना चाहिए। वह कर्म-नोकर्म से रहित है, केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंसे समृद्ध है, नित्य है, एक है, निरालम्ब है, असंख्यात प्रदेशी और अमूर्त है (गाथा २६-२८)

उक्त स्वरूपवाले परम ब्रह्मकी प्राप्ति मनके संकल्प रुक जानेपर और इन्द्रियोंके विषय-व्यापार बन्द हो जानेपर ध्यानके द्वारा होती है। (गाथा २९) मनका संचार ज्यों-ज्यों रुकता है और इन्द्रियोंके विषय ज्यों-ज्यों शान्त होते हैं, त्यों-त्यों आत्माका परम ब्रह्मरूप स्वभाव प्रकट होता जाता है। जैसे सूर्य ज्यों-ज्यों मेघ-पटलसे रहित होता हुआ उत्तरोत्तर प्रकाशमान होता जाता है और मेघ-पटलसे सर्वथा रहित होने पर पूर्ण रूपसे प्रकाशमान हो जाता है। इसी प्रकार कर्म-पटलके दूर होनेपर आत्माका शुद्ध स्वभाव भी पूर्णरूपसे प्रकट हो जाता है। इसके लिए मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका निर्विकार होना परम आवश्यक है। (गाथा ३०-३१) मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति रुकनेपर नवीन कर्मोंका आस्रव भी रुक जाता है और पूर्व-बद्ध कर्मोंकी निर्जरा भी होती है। (गाथा ३२)।

जबतक मन पर-द्रव्योंमें आसक्त रहता है, तबतक उग्र तपको करता हुआ भव्य पुरुष भी मोक्षको नहीं पाता है। किन्तु पर-द्रव्योंसे आसक्ति छोड़नेपर एवं निज स्वभावमें स्थिर होनेपर मोक्षकी प्राप्ति अल्प समयमें ही हो जाती है। (गाथा ३३) इसके विपरीत जबतक देहादि पर-द्रव्यसे ममत्व करता है, तबतक वह पर समय-रत है और विविध प्रकारके कर्मोंसे बँधता रहता है। (गाथा ३४)।

ज्ञानी और अज्ञानीकी व्याख्या करते हुए बताया गया है कि जो पुरुष इन्द्रियोंके वश होकर अनिष्ट वस्तुसे रुष्ट होता है और इष्ट वस्तुसे तुष्ट होता है, वह अज्ञानी है। जो न अनिष्ट वस्तुसे रुष्ट हो और न इष्ट वस्तुसे तुष्ट हो वह ज्ञानी है। (गाथा ३५) ज्ञानी पुरुष विचार करता है कि जो चेतना-रहित है वह तो दिखाई देता है और जो चेतना-सहित है वह दिखाई नहीं देता। फिर मैं किससे रुष्ट होऊँ, या किससे तुष्ट होऊँ ? अतएव मध्यस्थ ही रहना श्रेष्ठ है। (गाथा ३६) योगी पुरुषको त्रिभुवनवर्ती सब जीव अपने समान ही ज्ञानमय और अनन्त गुणवाले दिखाई देते हैं, इसलिए वह न किसीसे रुष्ट होता है और न तुष्ट होता है। किन्तु मध्यस्थ ही रहता है।

(गाथा ३७-३८) इस प्रकार जो वस्तु-स्वभावको जानता है उसका मन राग, द्वेष और मोहसे डँवाडोल नहीं होता हैं। (गाथा ३९) जिसका मन राग-द्वेषादिसे डँवाडोल नहीं होता, वही आत्म-तत्त्वका दर्शन करता है। इससे विपरीत पुरुषको आत्म-दर्शन नहीं होता है। (गाथा ४०)।

आगे बताया गया है कि मनके स्थिर होनेपर ही आत्म-दर्शन होता है। जैसे कि सरोवरका जल स्थिर होनेपर उसके भीतर गिरा हुआ रत्न दिखने लगता है। (गाथा ४१) इन्द्रियोंके विषयोंसे विमुक्त विमल-स्वभावी आत्मतत्त्वके दर्शन होते ही क्षणमात्रमें योगीके सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। (गाथा ४२) इसलिये सभी पर-गत भावोंको छोड़कर अपने ज्ञानमयी शुद्ध स्वभावकी भावना करनी चाहिये। (गाथा ४३) जो साधु स्व-संवेदन ज्ञानमें उपयुक्त होकर आत्माका ध्यान करता है, वह वीतराग और निर्मल रत्नत्रयका धारक है। (गाथा ४४) जो शुद्ध आत्माका अनुभव करता है, उसके ही निश्चय दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहा गया है। (गाथा ४५)

आगे कहा गया है कि यदि कोई योगी ध्यान-स्थित होकर भी अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपका अनुभव नहीं करता है तो वह शुद्ध आत्म-स्वरूपको नहीं प्राप्त कर पाता है। जैसे कि भाग्य-हीन मनुष्य रत्नको नहीं प्राप्त कर पाता। (गाथा ४६) शारीरिक-सुखमें आसक्त योगी नित्य ध्यान करते हुए भी शुद्ध आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह अचेतन देहमें ममत्व करता है, अतः बहिरात्मा है। (गाथा ४७-४८) किन्तु जो योगी शरीरके रोगोंको उसके सड़ने-गलनेको और जन्म-मरणको देखकर उससे विरक्त होकर अपने आत्माका ध्यान करता है, वह पाँचों शरीरोंसे मुक्त होकर सिद्ध हो जाता है। (गाथा ४९)

योगी साधुके आत्म-साधना करते हुए अनेक प्रकारके परीषह और उपसर्ग आते हैं, उस समय वह विचारता है कि उग्र तपस्यासे जो कर्म उदीरणा करके उदयमें लाकर भोगनेके योग्य थे, वे यदि स्वयं ही उदयमें आ गये हैं, तो यह मेरे बड़ा लाभ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। (गाथा ५०) इस प्रकारसे जो साधु उदयागत कर्मके फलको भोगते हुए उसमें न राग करता है और न द्वेष करता है, वह नवीन कर्मका बन्ध नहीं करता है और संचित कर्मका विनाश करता है। (गाथा ५१) किन्तु जो कर्म-फलको भोगते हुए शुभऔर अशुभ भाव करता है, वह पुनरपि कर्मोंका बन्ध करता है। (गाथा ५२)

आगे बताया गया है कि परमार्थका ज्ञाता भी साधु यदि अपने मनमें पर-वस्तुके प्रति पर-माणुमात्र भी राग रखता है तो वह कर्म-बन्धनसे नहीं छूटता है। (गाथा ५३) किन्तु जो सुख-दुःखको सहते हुए भी परमें राग-द्वेष न करके ध्यानमें दृढ़चित्त रहता है, उसका तप कर्मोंकी निर्जरा करता है। (गाथा ५४) क्योंकि ज्ञानी अपने स्वभावको छोड़ता नहीं है और पर-भाव-रूपसे परिणमन भी नहीं करता है, किन्तु आत्म-स्वरूपका अनुभव करता है, अतः वह कर्मोंका संवर भी करता है और उनकी निर्जरा भी करता है। (गाथा ५५)

आगे कहा गया है कि जो साधु पर-भावोंसे विमुक्त होकर निश्चल चित्तसे अपने स्वभावका अनुभव करता है, वही निश्चय दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप है। (गाथा ५६) क्योंकि निश्चयनयसे जो आत्मा है वही दर्शन है, वही ज्ञान है, वही चारित्र है और वही शुद्ध चेतना है। (गाथा ५७)

आगे बताया गया है कि राग-द्वेषके नष्ट होने पर तथा निज शुद्ध स्वरूपके उपलब्ध होनेपर योगियोंके योगशक्तिसे परम आनन्द प्रकट होता है। (गाथा ५८) यदि ध्यान करते हुए भी वह

सुखद परम आनन्द प्रकट नहीं होता है तो फिर उस ध्यान या योगसे क्या करना है ? कुछ भी नहीं। (गाथा ५९) ध्यान-स्थित भी योगीका मन जब तक किंचित् मात्र भी चंचल रहेगा। तब तक परम सुखदायक परमानन्द प्रकट नहीं हो सकता। (गाथा ६०) किन्तु जब मनकी चंचलता रुक जाती है और सर्व संकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं, तब जो आत्माका शाश्वत स्वभाव प्रकट होता है वही मोक्षका कारण है। (गाथा ६१)

आत्म-स्वभावमें स्थित योगीको कर्मोदयसे आनेवाले भी इन्द्रियोंके विषयोंका भान नहीं होता, किन्तु उस समय वह अपनी शुद्ध आत्माको ही जानता और देखता है। (गाथा ६२) जिस योगीको आत्मस्वभावकी उपलब्धि हो जाती है, उसका मन इन्द्रियोंके विषयोंमें नहीं रमता। किन्तु निराश होकर आत्माके साथ एकमेक हो जाता है, अथवा यों कहना चाहिए कि वह ध्यान-रूपी शस्त्रसे मर जाता है। (गाथा ६३)

मन कब तक नहीं मरता ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए बताया गया है कि जब तक सम्पूर्ण मोहकर्मका क्षय नहीं होता, तब तक मन नहीं मरता है। किन्तु मोहकर्मका क्षय होते ही मनका मरण तो होता ही है, साथमें शेष रहे घातिया कर्मोंका भी क्षय हो जाता है। (गाथा ६४) इसका कारण यह है कि मोहकर्म सब कर्मोंका राजा है। युद्धमें राजाके मर जानेपर सेना जैसे स्वयं गलितमान होकर भाग जाती है, उसी प्रकार मोहरूपी राजाके मरतेही शेष घातिया कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। (गाथा ६५) चारों घातिया कर्मोंके क्षय होते ही लोकालोकका प्रकाशक और तीनों कालोंके सर्व द्रव्योंकी गुण-पर्यायोंको जानने वाला निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह योगी सयोगी-सकल परमात्मा बन जाता है। (गाथा ६६) भावसंग्रह गाथा ६७३-६७४)

जबतक योगीका आयुकर्म विद्यमान रहता है तबतक वह तीर्थंकरकेवली या सामान्यकेवली की अवस्थामें भव्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हुए विहार करते रहते हैं। जब आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाता है, तब वे योगोंका निरोधकर अयोगिकेवली बन जाते हैं। (भावसंग्रह गाथा ६७९) उस अवस्थामें वे शेष अघातिया कर्मोंका क्षय करते हुए त्रिभुवन-पूज्य और लोकाग्र-निवासी सिद्ध परमेष्ठी हो जाते हैं। (गाथा ६७)

सिद्ध जीव गमनागमनसे विमुक्त, हलन-चलनसे रहित, अव्याबाध सुखमें स्थित और पर-मार्थ गुणोंसे या परम आठ गुणोंसे संयुक्त होते हैं। (गाथा ६८) उस समय वे इन्द्रियोंके क्रमसे रहित होकर सम्पूर्ण लोक-अलोकको और अनन्त गुण-पर्यायोंसे युक्त सर्व मूर्त-अमूर्त द्रव्योंको एक साथ जानते और देखते हैं। (गाथा ६९) लोकके अग्रभागसे ऊपर धर्मद्रव्यका अभाव होनेसे उनका गमन नहीं होता। अतः वे अनन्तकाल तक उसी लोकाग्रपर निवास करते हैं। (गाथा ७०)

यहाँ पर किसीने यह शंका की कि कर्मोंसे मुक्त होते ही जीव नीचेकी ओर या तिरछे पूर्व आदि आठों दिशाओंकी ओर क्यों नहीं जाता ? जबकि सर्वत्र धर्मद्रव्य विद्यमान है ? इसका समाधान करते हुए आ० देवसेन कहते हैं कि यतः जीवका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, अतः वह कर्म-मुक्त होते ही ऊपर जाता है। (गाथा ७१)

सिद्ध जीव पाँच प्रकारके शरीरोंसे रहित, चरम शरीरसे कुछ कम आकारवाले और आगे जन्म-मरणसे विमुक्त रहते हैं। ऐसे सर्व सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूँ। (गाथा ७२)

इस प्रकार जैसे आ० देवसेनने सिद्धोंको नमस्कारकर तत्त्वसारकी रचना प्रारम्भ की थी,

उसी प्रकार सिद्धोंको नमस्कारकर तत्त्वसारको उन्होंने पूर्ण किया है।

अन्तमें आ० देवसेन कहते हैं कि जिस स्व-परगत तत्त्वमें तल्लीन होकर जीव इस विषम संसार-सागरको पार करते हैं वह सर्व जीवोंको शरण देनेवाला तत्त्व सदा काल कल्याणमय रहे। (गाथा ७३) जो सम्यग्दृष्टि पुरुष देवसेन मुनि-द्वारा रचित इस तत्त्वसारको सुनकर आत्मतत्त्वकी भावना करेगा, वह शाश्वत सुखको पावेगा। (गाथा ७४)

तत्त्वसारके आद्योपान्त अध्ययन करनेके पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि स्वगत तत्त्वकी उपलब्धि तो सर्व परिग्रह, आरम्भ और इन्द्रिय-विषयोंसे रहित परमयोगियों—निर्ग्रन्थ साधुओंको ही हो सकती है, तब आजका मुमुक्षु या आत्महितेच्छु श्रावक या जैन क्या करे? इस प्रश्नका उत्तर आ० देवसेनने तत्त्वसारकी तीसरी गाथाके चतुर्थ चरण और चौथी गाथामें संक्षेप रूपसे सर्वप्रथम ही दे दिया है और विस्तृत उत्तर उन्होंने अपने द्वारा रचित भावसंग्रहके पंचम गुण-स्थानके वर्णनमें दिया है। उसका संक्षेपसे यहाँ वर्णन किया जाता है।

मुमुक्षु या आत्म हितेच्छु साधकको आर्त-रौद्रध्यानकी उग्र प्रवृत्तिको रोकनेके लिए सर्वप्रथम सम्यक्त्वको धारणके साथ स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी और कुशीलका त्याग, परिग्रहका परिमाण करना, तथा मद्य, मांस, मधुके सेवनका यावज्जीवनके लिए त्याग करना आवश्यक है। उक्त अशुभ कार्योंके परित्यागके साथ उनकी रक्षाके लिए दिग्व्रत, देशव्रतके परिणामकर व्यर्थके संकल्प विकल्पोंके त्यागके लिए अनर्थदण्डोंका—जिनसे अपना कोई भी प्रयोजन नहीं है—ऐसे पापोपदेश, हिंसादान, प्रमादचर्या, अपध्यान सौर खोटी कथाओंके सुननेका त्याग करना चाहिए।

इन अशुभ कार्योंको छोड़नेके पश्चात् शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना आवश्यक है। शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेके लिए ऐसे स्थान पर बैठना आवश्यक है कि जहाँ चित्तके विक्षेप करने वाले बालकोंका, दुष्ट स्त्री, पुरुष और पशु-पक्षियोंका संचार एवं कोलाहल सुनाई न दे। यदि अपने घरमें यह संभव न हो तो किसी धर्मस्थान या एकान्त स्थानमें जाकर नियत कालके लिए सामयिकको स्वीकारकर बैठना चाहिए।

सामायिक स्वीकारकर सर्वप्रथम नौवार णमोकार मंत्रका स्मरण २७ श्वासोच्छ्वासोंमें करना चाहिए। अर्थात् 'णमो अरिहंताणं' पदका श्वास खींचते हुए, 'णमो सिद्धाणं' पदका श्वास छोड़ते हुए स्मरण करे। इसप्रकार एक श्वासोच्छ्वासमें दो पदोंका स्मरण करे। पुनः श्वास खींचते हुए 'णमो आयरियाणं' पदका और श्वास छोड़ते हुए 'णमो उवज्झायाणं' पदका स्मरण करे। तत्पश्चात् श्वास खींचते हुए 'णमो लोए' और श्वास छोड़ते हुए 'सव्वसाहूणं' पदका स्मरण करे। इस प्रकार एकवार णमोकार मंत्रको तीन श्वासोच्छ्वासोंमें स्मरण करते हुए नौ वार णमोकारमंत्रका मनमें स्मरण करना चाहिए। इस प्रक्रियाके करनेसे दो लाभ तत्काल प्राप्त होते हैं—पहिला यह कि सामायिक स्वीकार करनेके पूर्व मनमें जो आरम्भ-परिग्रह सम्बन्धी आर्त्त और रौद्रध्यानरूप संकल्प-विकल्प उठ रहे थे, उनका निरोध होता है और दूसरा लाभ पंच परमेष्ठीके स्मरणरूप शुभकार्यमें प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है।

तत्पश्चात् कुछ देर तक पांचों परमेष्ठियोंके स्वरूपका चिन्तन करते हुए उनकी प्राकृत, संस्कृत या हिन्दी आदि भाषामें रचित जो स्तोत्र पाठ आदि कंठस्थ हो उसे बोले, या पुस्तकके आधारसे मन्द-मन्द स्वरमें उच्चारण करे। पुनः चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति पढ़े। तदनन्तर प्राकृत,

संस्कृत या हिन्दी आदि भाषामें रचित सामयिक पाठ बोले। अन्तमें समाधिभक्ति और इष्ट प्रार्थना बोलते हुए कायोत्सर्गकर सामायिकका काल पूरा करे। यह एक दिशानिर्देश है। कभी-कभी बारह भावनाओंका चिन्तन करे। अनेक कवियोंकी रची हुई बारह भावनाएँ प्रकाशित हो गई हैं, उनका पाठ करे। इस क्रममें प्रतिदिन नवीन-पाठ अपनी रुचिके अनुसार बोला जा सकता है।

उक्त सामायिककी साधना तीनों सन्ध्याओंमें और कम-से-कम दो घड़ी, या एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट तक एक आसनसे स्थिर बैठ करनी चाहिए। जब सामायिकमें स्थिरता आ जावे, तब उसी सामयिकके कालको बढ़ाकर या उक्त समयमें ही आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय रूप धर्मध्यानके चार भेदोंका चिन्तन करे। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१. **आज्ञाविचय**—वीतराग सर्वज्ञ जिनदेवने आत्माके प्रयोजनभूत जिन जीव आदि सात तत्त्वोंका निरूपण किया है, उनके स्वरूपका चिन्तन करना, मोक्षमार्ग-दर्शक शास्त्रोंका स्वाध्याय करना और जिन-आज्ञाको प्रमाण मानना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। (भावसंग्रह गाथा ३६७)

अपायविचय—मेरे द्वारा उपार्जित कर्म ही मुझे दुःखके देने वाले हैं, किस उपायसे मैं इन कर्मोंसे छूटूं, और किस उपायसे आत्मीय स्वरूपको प्राप्त करूँ, ऐसा विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। (भाव संग्रह गाथा ३६८)

३. **विपाकविचय**—इस चतुर्गतिस्वरूप संसारमें जीव अपने-अपने उपार्जित कर्मोंके विपाक-रूप फलको भोगते हुए दुःखी हो रहे हैं। किस कर्मका क्या और कैसा फल भोगना पड़ता है ? इस प्रकार कर्मोंके फलका विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है। (भावसंग्रह गाथा ३६९)

४. **संस्थानविचय**—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकके स्वरूपका चिन्तन करते हुए वह विचार करना कि इस ३४३ राजू घनाकार लोकमें ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है, जहाँपर कि मैंने अनन्तवार जन्म और मरण न किया हो ? अब यह सुअवसर प्राप्त हुआ है कि जब मैं इस जन्म-मरणके चक्रसे छूट सकता हूँ। अतः मुझे अब विषय-कषायोंकी चाह-दाहसे दूर होकर आत्म-हितमें लगना चाहिए। ऐसा विचार करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। (भावसंग्रह गाथा ३७०)

अहिंसामयी धर्मका स्वरूप-चिन्तन करना, उत्तम क्षमादि दशधर्मोंका विचार करना और वस्तुस्वरूपका निर्णय करना, पंचपरमेष्ठीके गुणोंका चिन्तन करना, संसार, देह और भोगोंका स्वरूप विचारते हुए उदासीन रहना, ये सभी कार्य धर्मध्यानस्वरूप ही हैं। (भावसंग्रह गाथा ३७२-३७३)

आत्म-चिन्तन करते समय कषायोदयसे कोई आर्त्तध्यान इष्ट-वियोग, अनिष्टसंयोग और वेदना-जनित संकल्प-विकल्परूप प्रकट हो जाये, तो आत्मनिन्दा-गर्हा करते हुए स्वाध्याय और बारह भावनाओंके द्वारा उसे शान्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। तथा अपने आत्मारामको संबोधित करते हुए कहना चाहिए कि हे आत्मन् ! तुम क्या करनेके लिए बैठे थे और अब क्या विचारने लगे ? अहो, आत्म-स्वरूप भूलकर और बाहिरी पदार्थोंमें मोहित होकर फिर राग-द्वेषके चक्रमें फँस गये[१] ? इस प्रकार अपने आपको संबोधित करते हुए पुनः ध्यानमें स्थिर होनेका प्रयत्न

---

१. किन्तु कर्तुं त्वयाऽऽरब्धं किन्तु वा क्रियतेऽधुना।
आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य हन्त बाह्येन मुह्यसे ॥ (आ० वादीभसिंह)

करते रहनेसे धीरे-धीरे कुछ दिनोंमें संकल्प-विकल्पोंका उठना कम होता जायगा और आत्म-स्वरूपमें स्थिरता बढ़ने लगेगी।

उक्त चार भेदोंके अतिरिक्त धर्मध्यानके और भी चार भेदोंका वर्णन ध्यान-विषयक शास्त्रोंमें किया गया है—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। यद्यपि इन भेदोंका उल्लेख तत्त्वार्थ-सूत्र एवं उसकी दि० श्वे० टीकाओंमें, तथा मूलाचार, भगवती आराधना, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवतीसूत्र, ध्यानशतक आदि ग्रन्थोंमें नहीं किया गया है। किन्तु आ० देवसेनने अपने भावसंग्रह-में इनका वर्णन किया है और परवर्ती ज्ञानसार, तत्त्वानुशासन ध्यानस्तव और ज्ञानार्णव आदि ध्यान-विषयक शास्त्रोंमें तथा वसुनन्दि श्रावकाचार आदि अनेक श्रावकाचारोंमें इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्रावकाचारोंमें श्रावकोंके कर्तव्य-विशेषोंके रूपमें इनका वर्णन किया गया है, वहाँ भाव-संग्रह आदि ध्यान-विषयक शास्त्रोंमें साधुके लिए धर्मध्यानके रूपमें इनका वर्णन है।

१. **पिण्डस्थध्यान**—पिण्ड नाम देहका है, उसके भीतर स्थित अपनी आत्माको अतिविशुद्ध, स्फुरायमान श्वेत किरण रूप निर्मल तेजस्वी सूर्यके समान प्रकाशवान् एवं विमल गुणवाले आत्म-स्वरूपका चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान है[1]।

२. **पदस्थध्यान**—पंचपरमेष्ठीके वाचक एक अक्षररूप 'ओं', दो अक्षररूप 'सिद्ध', तीन अक्षररूप 'ओं नमः', चार अक्षररूप 'अरहंत', पाँच अक्षररूप 'अ सि आ उ सा' आदि से लगाकर ३५ अक्षररूप पंच परमेष्ठी-नमस्कार (णमोकार) मंत्रका जप करना, पंच परमेष्ठीके स्वरूपका चिन्तन करना पदस्थध्यान है[2]।

३. **रूपस्थध्यान**—शरीरमें स्थित आत्माको समवशरणमें स्थित अरिहंत भगवान्के समान आठ प्रातिहार्य और अनन्तचतुष्टयसे संयुक्त चिन्तन करना रूपस्थध्यान है।[3]

४. **रूपातीतध्यान**—अपनी आत्माको सर्व कर्ममलसे रहित, अनन्तज्ञानादि अनन्त गुणोंसे

---

१. पिंडो वुच्चइ देहो तस्स मज्झट्ठिओ हु णिय अप्पा।
झाइज्जइ अइसुद्धो विप्फुरिओ सेयकिरणट्ठो॥ ६२०॥
देहत्थो झाइज्जइ देहस्संबंधविरहिओ णिच्चं।
णिम्मलतेयफुरंतो गयणतले सूर बिंवेव॥ ६२१॥
जीवपएसप्पचयं पुरिसायारं हि णिययदेहत्थं।
अमलगुणं झायंतं णाणं पिंडत्थअहियाणं॥ ६२२॥ (भावसंग्रह)

२. एयपयमक्खरं जवियइ जं पंचगुरुरूवसंबंधं।
तं पिय होइ पयत्थं झाणं कम्माण णिद्दहणं॥६२७॥ (भावसंग्रह)
पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसादो॥४८॥ (द्रव्यसंग्रह)

३. वर अट्ठपाडिहेरेहिं परिउट्ठो समवसरणमज्झगओ।
परमप्पाणंतचउट्ठयणिओ पवणमग्गट्ठो॥ (४७३)
जं झाइज्जइ एवं रूवत्थं जाण तं झाणं॥ ४७५ उत्तरार्ध (वसुनंदिश्राव०)

संयुक्त, रूपादिसे रहित अरूपी सिद्धोंके समान, अचल, अविनश्वर और शुद्ध विचार करना रूपातीत ध्यान है।[1]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आ० देवसेनने रूपस्थ ध्यानको सालम्ब कहकर दो भेद किये हैं—स्वगत और परगत। पंचपरमेष्ठीके स्वरूप-चिन्तनको परगत रूपस्थ ध्यान कहा है और अपने शरीरसे बाहिर स्फुरायमान तेजस्वी सूर्यके सदृश आत्माके स्वरूप-चिन्तनको स्वगत रूपस्थ ध्यान कहा है। उन्होंने रूपातीत ध्यानको 'गतरूप' नाम दिया है और उसे निरालम्ब कहते हुए लिखा है कि जहाँ न देहके भीतर कोई चिन्तन हो, न देहके बाहर हो और न स्वगत-परगतरूप कोई चिन्तन हो। न धारणा-ध्येयका विकल्प हो, न मनका कोई व्यापार हो। जहाँ इन्द्रियों के विषय-विकार न हों और जहाँ राग-द्वेषका अभाव हो, ऐसी निर्विकल्प समाधिको निरालम्ब गतरूप (रूपातीत) ध्यान जानना चाहिए।[2]

यद्यपि आ० देवसेनने भाव संग्रहमें पिण्डस्थ ध्यानके पार्थिवी धारणा आदि भेद नहीं किये हैं, तथापि परवर्ती ध्यान-विषयक ग्रन्थोंमें, अनेक श्रावकाचारोंमें और खासकर ज्ञानार्णवमें धारणाओंका बहुत विशद और विस्तृत वर्णन किया गया है। पाठकोंकी जानकारीके लिए यहाँ उन पाँचों धारणाओंका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है—

१. पार्थिवी धारणा—इस मध्यलोकको क्षीरसमुद्रके समान निर्मल जलसे भरा हुआ चिन्तन करे। पुनः उसके मध्यमें जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजन विस्तृत, एक हजार पत्रवाला, संतप्त सुवर्णके सदृश चमकता हुआ एक कमल विचारे। कमलके बीचमें कर्णिकापर सुमेरु पर्वतका चिन्तन करे। उसके ऊपर पांडुकवनमें पांडुक शिला पर स्फटिकमणिमयी सिंहासनके ऊपर अपनेको बैठा हुआ कल्पना करे और यह विचारे कि मैं यहाँ कर्मोंको जलाकर अपनी आत्माको पवित्र करनेके लिए बैठा हूँ। इस प्रकारसे चिन्तन करनेको पार्थिवी धारणा कहते हैं।[3]

२. आग्नेयी धारणा—उक्त पांडुक शिलापर बैठा हुआ ध्यानी अपनी नाभिके मध्यमें ऊपरकी ओर उठा हुआ एवं खिले हुए सोलह पत्रवाला एक श्वेत कमल विचार करे। उसके प्रत्येक पत्र पर पीत वर्णके अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन सोलह स्वरोंको प्रदक्षिणाके क्रमसे लिखा हुआ विचार करे। इस कमलके मध्यमें श्वेत वर्णकी कर्णिका पर 'र्हं' अक्षर लिखा हुआ सोचे। इस कमलके ठीक ऊपर हृदय-प्रदेशमें अधोमुख, आठ पत्रवाला मलिन वर्णका आठ दलवाला एक कमल कल्पना करे और उसके आठों पत्रों पर कृष्ण वर्ण

---

१. वण्ण-रस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसण सरूवो।
जं झाइज्जइ एवं तं झाणं रूवरहियं ति ॥४७६॥ (वसुनन्दि श्रावकाचार)

२. ण य चिंतइ देहत्थं देहबहित्थं ण चिंतए किंपि।
ण सगय-परगयरूवं तं गयरूवं णिरालंवं ॥६२८॥
जत्थ ण करणं चिंता अक्खररूवं ण धारणा धेयं।
ण य वावारो कोई चित्तस्स य तं णिरालंबं ॥६२९॥
इंदियविसयवियारा जत्थ खयं जंति राय-दोसं च।
मणवावारा सव्वे तं गयरूवं मुणेयव्वं ॥६३०॥ (भावसंग्रह)

३. ज्ञानार्णव सर्ग ३७ श्लोक ४–९।

के ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंको लिखा हुआ विचार करे। तत्पश्चात् नाभिस्थ कमलके मध्य लिखे हुए 'र्हं' से धुँआ निकलता विचारे। धीरे-धीरे वह धूम ज्वालाके रूपसे परिणत होकर हृदयस्थित आठ कर्मवाले कमलको भस्म करता हुआ चिन्तन करे। फिर वह अग्नि ज्वाला कमलका मध्य भाग जलाकर, मस्तक पर पहुँच कर उसकी एक रेखा दक्षिण कन्धेसे और दूसरी रेखा वाम कन्धे से नीचेकी ओर आकर पद्मासनके नीचे मिलती हुई चिन्तन करे। अर्थात् अपने शरीरके बाहिर तीन कोणका अग्नि मंडल हो गया विचारे। पुनः उक्त तीनों रेखाओंमें र र र र अग्निमय लिखा विचारे। पुनः इस त्रिकोणके बाहिर तीनों कोणों पर अग्निमयी सांथियाकी कल्पना करे और भीतरी तीनों कोणोंमें ॐ र्हं को अग्निमय लिखा चिन्तन करे। पुनः यह विचार करे कि उक्त त्रिकोण अग्निमंडलके 'र'—कार वर्णसे अग्निशिखा धांय धांय होकर प्रज्ज्वलित होती हुई भीतर तो आठों कर्मोंको और बाहिर शरीरको जला रहा है। जलते-जलते कर्म और शरीर भस्म हो गये हैं और अग्नि ज्वाला शान्त हो गई है। इस प्रकारसे चिन्तन करनेको आग्नेयी धारणा कहते हैं।[1]

३. मारुती या वायवी धारणा—आग्नेयी धारणाके पश्चात् वह ध्यानी ऐसा चिन्तन करे कि निर्मल एवं प्रबल वेगसे बहती हुई वायुने आकर मेरे सर्व ओर एक गोल मंडल बना लिया है और सांय-सांय करता हुआ वह वायुमण्डल उस दग्ध शरीरकी एवं कर्मोंकी भस्मको उड़ा रहा है और कुछ क्षणमें उसे उड़ाकर वह शान्त हो गया है। ऐसा चिन्तन करनेको मारुती धारणा कहते हैं।[2]

४. वारुणी या जलधारणा--उक्त सर्व भस्मके उड़ जाने पर ध्यानी पुरुष ऐसा विचार करे कि आकाशमें मेघोंके समूह गरजते और बिजली चमकाते हुए आ गये हैं और मूसलाधार पानी बरसने लगा है, मेरे ऊपर अर्धचन्द्राकार मेघमण्डलमें प प प प जलके बीजाक्षर लिखे हुए हैं और उनसे मेरे ऊपर गिरती हुई जलकी धारासे आत्मा पर लगी हुई भस्म धुल रही है और कुछ देरमें धुल कर मेरा आत्मा बिलकुल निर्मल हो गया है। ऐसा चिन्तन करनेको वारुणी धारणा कहते हैं।[3]

५. तत्त्वरूपवती धारणा—तदनन्तर वह ध्यानी ऐसा चिन्तवन करे कि अब मैं सिद्धोंके समान निर्मल, शुद्ध, अनन्त ज्ञानादि गुणोंके अखण्ड चैतन्यपिण्डरूपसे अवस्थित हूँ, पूर्णचन्द्रके समान निर्मल प्रभावाला हूँ, अज, अजर, अमर और अनन्त अविनश्वर स्वरूप मैंने प्राप्त कर लिया है। इस प्रकारसे शुद्ध आत्म स्वरूपके चिन्तन करनेको तत्त्वरूपवती धारणा कहते हैं।[4]

उक्त प्रकारसे प्रतिदिन पाँचों धारणाओंके चिन्तन करते रहनेसे मनकी चंचलता दूर होती है, इन्द्रिय-विषयोंकी प्रवृत्तिका निरोध होता है और आत्मा निराकुलतारूप परम शान्तिका अनुभव करने लगता है।

---

१. ज्ञानार्णव सर्ग ३७ श्लोक १०–१९।

२. ज्ञानार्णव सर्ग ३७ श्लोक २०–२३।

३. ज्ञानार्णव, सर्ग ३७ श्लोक २४–२७।

४. ज्ञानार्णव, सर्ग ३७ श्लोक २८–३०।

अतः साधकका कर्तव्य है कि जब भी गृहस्थीको आरम्भ आदि कार्योंसे अवकाश मिले और जिस समयको अनुकूल समझे, उस समय पद्मासन से बैठकर पाँचों धारणाओंके रूपमें पिण्डस्थ ध्यान करे। इसके पश्चात् परमेष्ठी वाचक मंत्रोंका जाप करे। पुनः रूपस्थ ध्यान करते हुए रूपातीत ध्यान करे।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आ० देवसेनने इन पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका वर्णन सप्तम गुणस्थान के अन्तर्गत कहा है। इसका कारण यह है कि वे इसके पूर्व पाँचवें और छठे गुणस्थानमें उपचार से धर्मध्यान कहते हैं और मुख्य धर्मध्यानका अधिकारी वे सप्तम गुणस्थानवर्ती ध्यानस्थ साधुको ही मानते हैं। (देखो भावसंग्रह गाथा ३७१)

जब ध्यानमें चित्त न लगे तो अध्यात्मशास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि अन्तरंग तपोंमें ध्यानके पूर्व स्वाध्याय तप कहा है।

तत्त्वसार पर पूर्ववर्ती ग्रन्थोंका प्रभाव

जिस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने पूर्वगत अनेक प्राभृतोंका सार खींचकर समयप्राभृत या समयसार, प्रवचनसार, नियमसार और अनेक प्राभृतोंकी रचना की है, उसीप्रकार आचार्य देवसेनने अपने समयमें उपलब्ध भगवती आराधनाका सार खींचकर आराधनासारकी, तथा समयसार, परमात्मप्रकाश और योग-विषयक समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि अनेक ग्रन्थोंका सार खींचकर प्रस्तुत तत्त्वसारकी रचनाकी है, यह बात आगेके विवरणसे स्पष्ट ज्ञात होती है। यथा—

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णविय फासो।
णवि रूवं ण शरीरं णवि संठाणं ण संहणणं॥ ५५॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि॥ ५६॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि॥ ५७॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा य बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई॥ ५८॥
णो ट्ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजम लद्धिठाणा वा॥ ५९॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥ ६०॥

—समयसार, अजीवाधिकार

यही बात तत्त्वसारमें इस प्रकार कही है—

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।
जाइ जरा मरणं विय णिरंजणो सो अहं भणिओ॥ १९॥
णत्थि कला संठाणं मग्गण गुणठाण जीवठाणाइं।
ण य लद्धि-बंधठाणा णोदयठाणाइया केई॥ २०॥

फास रस रूव गंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥ २१ ॥

समयसार और तत्त्वसार दोनोंकी उक्त गाथाओंका अर्थ एक ही है कि निश्चयनयसे जीवके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शब्द आदि कुछ भी नहीं है, क्योंकि ये पुद्‌गल द्रव्यके परिणाम हैं। इसी प्रकार कर्मके बन्धस्थान, उदयस्थान, स्थिति बन्धस्थान, संक्लेशस्थान आदि भी नहीं हैं। न मार्गणा-स्थान हैं, न गुणस्थान हैं, न जीवस्थान हैं, न क्रोध, मान, माया, लोभ, लेश्यादि भी नहीं हैं, क्योंकि ये सब कर्मजनित हैं। इसी प्रकार कला, संस्थान संहनन आदि भी नहीं है।

समयसारमें जीव और कर्मके सम्बन्धको जिस प्रकार दूध और पानीके समान सहजात वतलाया गया है, ठीक उसीके अनुसार तत्त्वसारमें भी कहा गया है। यथा—

समयसार—एदेसिं सम्वन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
णत हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधिको जम्हा ॥६९॥

तत्त्वसार—एदेसिं सम्बन्धो णायव्वो खीर-णीरणाएण।
एकत्तो मिलियाणं णिय-णियसब्भाव जुत्ताणं ॥२३॥

दोनों गाथाओंका भाव एक ही है। समयसारमें जीवको पुरुषकी अपेक्षा उपयोग गुणसे अधिक कहा है और तत्त्वसारमें जीव-कर्मके एक साथ मिलनेपर भी दोनोंको निज-निज स्वभावसे युक्त कहा गया है।

३

समयसारमें कहा गया है कि जिसके हृदयमें परमाणुमात्र भी राग विद्यमान है, वह सर्व आगमका वेत्ता हो करके भी अपनी आत्माको नहीं जानता है। इसी बातको तत्त्वसारमें इस प्रकार कहा गया है कि जब तक योगी अपने मनमें परमाणुमात्र भी राग रखता है, उसे नहीं छोड़ता, तवतक परमार्थका ज्ञाता भी वह श्रमण कर्मोसे नहीं छूटता है। यथा—

समयसार—परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२१२॥

तत्त्वसार—परमाणुमित्तरायं जाम ण छंडेइ जोइ समणम्मि।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणओ समणो ॥५३॥

पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि दोनों गाथाओंका भाव एक ही है।

४

समयसारमें कहा गया है कि निश्चयनयमें संलीन मुनि ही निर्वाणको पाते हैं। यथा—
णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं। (गाथा २९१ उत्तरार्ध)
इसी बातको तत्त्वसारमें इस प्रकार कहा गया है—
जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरं विसमं। (गाथा ७३ पूर्वार्ध)
अर्थात् निश्चयनयका आश्रय करनेवाले जीव इस विषम संसार-सागरके पार उतरते हैं।

५

जो लोग वर्तमानकालमें ध्यानका निषेध करते हैं, उनको फटकारते हुए आ० कुन्दकुन्द कहते हैं—

जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ।। ७५ ।। उत्तरार्ध ।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहाव ठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ।।७६।।
अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं ।
लोयंहिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ।।७७।। (मोक्षप्राभृत)

अर्थात्—जो यह कहते हैं कि आज ध्यान करनेका काल नहीं हैं, वे अज्ञानी हैं। आज इस भरत क्षेत्रमें दुषमाकालमें भी आत्मस्वभावमें स्थित साधुके धर्मध्यान होता है और रत्नत्रयसे विशुद्ध जीव आत्माका ध्यानकरके इन्द्रपना या लौकान्तिक देवपना पाकर वहाँसे च्युत होकर निर्वाणको जाते हैं।

इसी बातको तत्त्वसारमें इन शब्दोंके द्वारा प्रकट किया गया है—

संका कंखा गहिया विसयपसत्था सुमग्गपब्भट्ठा ।
एवं भणंति केई णहु कालो होइ झाणस्स ।।१४।।
अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं ।
तत्थ चुआ मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं ।।१५।।

अर्थात्—शंका-कांक्षासे गृहीत, विषयोंसे वशीभूत और सन्मार्गसे भ्रष्ट कितने ही लोग कहते हैं कि यह ध्यानका काल नहीं है। किन्तु आज भी रत्नत्रयधारी जीव आत्माका ध्यान करके देवलोकमें जाते हैं और वहाँसे विदेहक्षेत्रके उत्तम मनुष्योंमें उत्पन्न होकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि दोनों ग्रन्थोंकी गाथाओंमें शब्द और अर्थगत बिलकुल समानता है।

उक्त उद्धरणोंसे यह बात भली-भाँतिसे सिद्ध है कि तत्त्वसार पर आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंका स्पष्ट प्रभाव है।

इसी प्रकार योगका पर्यायवाचक जो समाधि शब्द है, उसका तन्त्र या रहस्यको प्रकट करने वाले पूज्यपाद-रचित समाधितन्त्रका भी अनुसरण तत्त्वसारमें देखा जाता है। यथा—

१

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्क तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ।।४६।। (समाधितन्त्र)

चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ इत्थ चेयणासहिओ ।
तम्हा मज्झत्थोहं रूसेमि य कस्स तूसेमि ।।३६।। (तत्त्वसार)

दोनों उद्धरणोंका एक ही अर्थ है—जो कुछ दिखाई देता है वह चेतना-रहित अचेतन पुद्गल है और जो चेतना-सहित जीव है, वह अदृश्य है—दिखाई नहीं देता। अतः मैं किससे रुष्ट होऊँ और किससे सन्तुष्ट होऊँ? इस कारण मैं मध्यस्थ होता हूँ।

२

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ।। ३५ ।।
(समाधितन्त्र)

रागद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं ।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥ ४० ॥

(तत्त्वसार)

अर्थात् राग-द्वेषादि कल्लोलोंसे जिसका मनोजल डंवाडोल नहीं होता, किन्तु अलोल बना रहता है, वही पुरुष अपने आत्मतत्त्वको देखता है किन्तु इससे विपरीत पुरुष उस आत्मतत्त्वको नहीं देखता है ।

पूज्यपाद-रचित इष्टोपदेशका भी प्रभाव तत्त्वसार पर स्पष्ट दिखाई देता है । आत्मा कैसा है ? इसका उत्तर देते हुए इष्टोपदेशमें कहा है—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अनन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥

यही बात तत्त्वसारमें इस प्रकार कही गई है—

दंसण-णाण पहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो ।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥ १७ ॥

अर्थात्-आत्मा स्वसंवेदनसे प्रकट है, अपने ग्रहण किये गये शरीरके प्रमाण है, विनाश-रहित नित्य है, अनन्त सुखवाला है और अनन्त ज्ञानदर्शनसे लोक और अलोकको देखनेवाला है ।

२

अध्यात्मयोगका लाभ बतलाते हुए इष्टोपदेशमें कहा गया है—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

यही बात तत्त्वसारमें इसप्रकारसे कही गई है—

मणवयणकाय रोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं ।
चिरबद्धं गलइ सयं फलरहियं जाइ जोईणं ॥ ३२ ॥

अर्थात्—अध्यात्मयोगसे मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका निरोध होनेपर कर्मोंका आस्रव रुकता है और चिर-संचित कर्मोंकी नियमसे शीघ्र निर्जरा हो जाती है ।

स्वामी समन्तभद्रके वृहत्स्वयम्भूस्तोत्रका भी प्रभाव तत्त्वसारकी कुछ गाथाओंपर स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है । भ० कुन्थुनाथकी स्तुति करते हुए कहा गया है कि घातिया कर्मोंके क्षय करनेपर रत्नत्रयके अतिशय तेजसे आप उसीप्रकार शोभायमान होते हैं जैसे कि अभ्र-रहित आकाशमें प्रदीप्त किरणवाला सूर्य शोभित होता है ।[1] इसी भावको तत्त्वसारकी गाथा ३० में 'जह णहे सूरो' कह कर प्रकट किया गया है ।[2]

भ० धर्मनाथकी स्तुति करते हुए स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि घातिया कर्मोंका क्षय करके

---

१. हुत्वा स्वकर्मकटुक प्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्यः ।
विभ्राजिपे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥ ८४ ॥

२. जह जह मणसंचारा इंदिय विसया वि उवसमं जंति ।
तह तह पयडइ अप्पा अप्पाणं जह णहे सूरो ॥ ३० ॥

आपने मानुषी प्रकृतिका अतिक्रमण कर दिया और देवताओंके भी देवता हो गये ।[1] इसी भावको तत्त्वसारकी गाथा ४२ में 'अमाणुसत्तं खणद्धेण' कहकर व्यक्त किया गया है ।[2]

तत्त्वसारका परवर्ती ग्रन्थोंपर प्रभाव

तत्त्वसारके पश्चात् रचे गये ग्रन्थोंपर भी तत्त्वसारका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। तत्त्वसारकी गाथा ६५ में कहा गया है कि जैसे राजाके मारे जानेपर सेना स्वयं विनष्ट हो जाती है, उसीप्रकार मोहराजाके नष्ट होनेपर शेष घातिकर्म स्वयं ही विनष्ट हो जाते हैं। यही बात आप्तस्वरूपमें कही गई है—

मोहकर्मरिपौ नष्टे सर्वे दोषाश्च विद्रुताः ।
छिन्नमूलतरोर्यद्वद् ध्वस्तं सैन्यमराजवत् ॥ ७ ॥

तत्त्वसारकी गाथा ३३ में कहा गया है कि जबतक योगीका चित्त परद्रव्यमें संलग्न रहता है, तब तक वह उग्र तपको करता हुआ भी मोक्ष नहीं पाता। यही बात ज्ञानार्णवमें भी कही गई है—

पृथगित्थं न मां वेत्ति यस्तनोर्वीतविभ्रमः ।
कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं न स मुच्येत बन्धनैः ॥ (३२, ४७)

भावसंग्रह और तत्त्वसारके रचयिता एक हैं

कुछ विद्वान् भावसंग्रह और तत्त्वसारके रचयिता भिन्न-भिन्न दो देवसेन आचार्य मानते हैं। परन्तु ध्यान-विषयक प्रकरणको देखनेपर दोनोंके रचयिता एक ही देवसेन हैं यह बात आगे दिये जाने वाले प्रमाणोंके आधारपर भलीभांतिसे सिद्ध होती है।

भावसंग्रहमें रूपस्थ ध्यानका वर्णन करते हुए कहा गया है—

रूवत्थं पुण दुविहं सगयं तह परगयं च णायव्वं ।
सं परगयं भणिज्जइ झाइज्जइ जत्थ पंचपरमेट्ठी ॥ ६२४ ॥
सगयं तं रूवत्थं झाइज्जइ जत्थ अप्पणो अप्पा ।
णियदेहस्स वहित्थो फुरंतरवि-तेजसंकासो ॥ ६२५ ॥

अर्थात्—रूपस्थ ध्यान दो प्रकारका है—स्वगत और परगत। जिसमें पंच परमेष्ठीका ध्यान किया जाय, वह परगत ध्यान है और जिसमें अपने आत्माको ध्याया जावे, वह स्वगत ध्यान है। वह आत्मा निज शरीरसे भिन्न स्फुरायमान सूर्यके सदृश तेजस्वी है।

भावसंग्रहमें जो बात दो गाथाओंमें कही गई है, वही तत्त्वसारमें एक गाथा-द्वारा कही गई है। यथा—

एगं सगयं तच्चं अण्णं तह परगयं पुणो भणियं ।
सगयं णिय अप्पाणं इयरं पंचावि परमेट्ठी ॥ ३ ॥

---

१. मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिन वृष प्रसीद नः ॥ ७५ ॥

२. दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इंदियत्थपरिचत्ते ।
जायइ जोइस्स फुडं अमाणुसत्तं खणद्धेण ॥ ४२ ॥

अर्थात्—तत्त्व दो प्रकारका है—एक स्वगततत्त्व और दूसरा परगत तत्त्व। निज आत्मा स्वगत तत्त्व है और पाँचों परमेष्ठी परगत तत्त्व हैं।

स्वगत तत्त्वको भावसंग्रहमें गतरूप शब्दसे और तत्त्वसारमें अविकल्प शब्दसे कहा गया है और दोनों ध्यानोंकी प्राप्तिके लिए इन्द्रियों तथा मनके व्यापारोंका और राग-द्वेषका अभाव आवश्यक बताया गया है। यथा—

भावसंग्रह—इंदियविसयवियारा जत्थ खयं जंति राय दोसं च।
मणवावारा सव्वे तं गयरूवं मुणेयव्वं॥ ६३०॥

तत्त्वसार—इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया।
तइया तं अवियप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु॥ ६॥

पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि दोनों गाथाओंमें जो शब्द और अर्थगत समानता है, वह दोनोंका एक कर्तृत्व सिद्ध करती है।

इससे आगे चलकर चार घातिया कर्मोंके नष्ट होनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्तिको भी समान शब्दोंमें बताई गई है। यथा—

भावसंग्रह—घाइचउक्कविणासे उप्पज्जइ सयल विमल केवलयं।
लोयालोयपयासं णाणं णिरुपद्दवं णिच्चं॥ ६६५॥

तत्त्वसार—घाइचउक्के णट्ठे उपज्जइ विमलकेवलं णाणं।
लोयालोयपयासं कालत्तय जाणगं परमं॥ ६६॥

उक्त प्रमाणोंके आधारपर भावसंग्रह और तत्त्वसारके रचयिता एक ही देवसेन सिद्ध होते हैं।

आ० देवसेनका समय और अन्य रचनायें

यद्यपि तत्त्वसारके अन्तमें अपने नामके अतिरिक्त उसके रचनेका कोई समय नहीं दिया है, तथापि उन्होंने दर्शनसारके अन्तमें जो दो गाथाएँ दी हैं, उनसे उनके समय और रचना-स्थानका पता चलता है। वे दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थं।
सिरिदेवसेनगणिणा धाराए संवसंवेण॥
रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥

अर्थात्—पूर्वाचार्य-रचित गाथाओंका एकत्र संग्रह करके देवसेन गणीने धारानगरीमें निवास करते हुए यह दर्शनसार जोकि भव्योंके लिये हाररूप है—श्री पार्श्वनाथ-जिनालयमें वि० सं० ९९० की माघसुदी दशमीको रचा है।

इस प्रकार आ० देवसेनने दर्शनसारके अन्तमें उसके रचना-काल और रचना-स्थानका निर्देश किया है, किन्तु अन्य रचनाओंमें कोई निर्देश नहीं किया है। दर्शनसारमें उन्होंने अपनेको 'देवसेनगणी' कहा है। तत्त्वसारमें 'मुनिनाथ देवसेन' कहा है और आराधनासारमें केवल 'देवसेन' कहा है। गणी और मुनिनाथ पदको एकार्थक मान लेनेपर दोनोंके रचयिता एक ही देवसेन सिद्ध होते हैं।

भावसंग्रहके अतिरिक्त अन्य किसी भी रचनामें देवसेनने अपने गुरुके नामका कोई उल्लेख नहीं किया है। भावसंग्रहकी अन्तिम गाथामें उन्होंने अपनेको श्री विमलसेन गणधरका शिष्य कहा है। वह गाथा इस प्रकार है—

सिरिविमलसेणगणहरसिस्सो णामेण देवसेणो त्ति।
अबुहजणबोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥७०१॥

अन्य रचनाओंमें प्रकारान्तरसे गुरुके नामका संकेत अवश्य उपलब्ध होता है। यथा—आराधनासारकी मंगल गाथामें 'विमलगुणसमिद्ध' पदसे, दर्शनसारमें 'विमलणाण' पदसे, नयचक्रमें 'विगयमल' और 'विमलणाणसंजुत्त' पदसे गुरुके 'विमलसेन' इस नामका आभास मिलता है। अतः ये सब ग्रन्थ एक ही देवसेन-रचित सिद्ध होते हैं। दर्शनसार और भावसंग्रह तो एक ही देवसेनके रचे हैं, यह बात दोनों ग्रन्थोंमें श्वेताम्बरमतकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें दी गई एक ही गाथाकी अक्षरशः समानतासे सिद्ध है। इस विषयकी अन्य गाथाओंमें भी शब्द और अर्थगत बहुत अधिक समानता पाई जाती है।[1]

अभी तक आ० देवसेनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशमें आई हैं—

१. **भावसंग्रह**—इसमें चौदह गुणस्थानोंके स्वरूपका विस्तृत वर्णन करनेके साथ उनमें पाये जानेवाले औपशमिक आदि भावोंका भी निरूपण किया गया है। इसमें सबसे अधिक १८२ गाथाओं द्वारा मिथ्यात्व गुणस्थानका वर्णन है। मिश्रगुणस्थानका ६१ गाथाओंमें, अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानका ९१ गाथाओंमें, देशविरत गुणस्थानका २५० गाथाओंमें, प्रमत्तविरतगुणस्थानका ४२ गाथाओंमें और अयोगिकेवली गुणस्थानका २२ गाथाओंमें वर्णन किया गया है। शेष उपशम-क्षपक श्रेणीगत गुणस्थानोंका और सयोगिकेवली गुणस्थानका ६४ गाथाओंमें वर्णन है। मंगलाचरण, उत्थानिका एवं अन्तिम उपसंहार गाथाओंको मिलाकर पूरे ग्रन्थमें ७०१ गाथाएँ हैं। इनमें गुणस्थानके स्वरूप-वर्णन एवं अन्य मतोंकी उत्पत्ति-निरूपण करने वाली गाथाएँ प्रायः प्राचीन ग्रन्थोंसे संकलित की गई हैं, अतः इसका भावसंग्रह यह नाम सार्थक है। आ० देवसेनकी रचनाओंमें यह सबसे बड़ी रचना है।

२. **आराधनासार**—इसमें ११५ गाथाओंके द्वारा दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तपाराधना इन चार आराधनाओंका वर्णन किया गया है। भगवती आराधना नामसे प्रसिद्ध आ० शिवार्यकी विस्तृत मूलाराधनाका सार खींचकर इसकी रचना की गई है।

३. **लघुचक्रनय**—इसमें ८७ गाथाओंके द्वारा नयोंका स्वरूप, उनकी उपयोगिता और भेद-प्रभेदोंका वर्णन किया गया है।

४. **दर्शनसार**—इसमें ५१ गाथाओंके द्वारा श्वेताम्बरमत, बौद्धमत, द्राविड़संघ यापनीय-संघ, काष्ठासंघ, माथुरसंघ और भिल्लकसंघकी उत्पत्तिका वर्णनकर उनकी समीक्षा की गई है।

५. **तत्त्वसार**—इस प्रस्तुत ग्रन्थमें ७४ गाथाओंके द्वारा जीवोंके सबसे अधिक उपादेय शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि कैसे होती है, इसका वर्णन किया गया है। वस्तुतः इसके पूर्व-रचित द्वादशांग वाणीके सारभूत समयसारादि ग्रन्थोंका सार ही खींचकर इसमें निबद्ध कर दिया गया है।

---

१. देखो—दर्शनसार गाथा ११-१३ और भावसंग्रह गाथा १३७-१४०।

उपरिलिखित सभी ग्रन्थ प्राकृत भाषामें रचे गये हैं।

६. **आलापपद्धति**—यह गद्य संस्कृत भाषामें रचित एकमात्र ग्रन्थ अभी तक आ० देवसेनका उपलब्ध हुआ है। इसमें १६ अधिकारोंके द्वारा क्रमसे द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रमाण, नय, गुण व्युत्पत्ति, पर्याय-व्युत्पत्ति, स्वभाव-व्युत्पत्ति, एकान्त पक्षमें दोष, नययोजना, प्रमाणलक्षण, नयस्वरूप और भेद, निक्षेप-व्युत्पत्ति, नय भेदोंकी व्युत्पत्ति और अध्यात्मनयोंका बहुत सुन्दर विवेचन किया गया है। जैन स्याद्वादको जाननेके लिये यह नयवाद जानना अत्यावश्यक है।

संस्कृत टीका और उसके रचयिता

तत्त्वसारकी प्रस्तुत एक ही संस्कृत टीका प्राप्त हुई है। शास्त्र-भण्डारोंकी अनेक सूचियोंके देखनेपर भी अन्य कोई दूसरी टीकाके होनेका कोई संकेत नहीं मिला। प्रस्तुत संस्कृत टीकाकी प्रति ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावर की है जो किसी प्राचीन प्रतिसे हालमें ही नकल की गई है। लेखककी असावधानीसे एवं प्राचीन प्रतिको ठीक नहीं पढ़ सकनेसे अनेक पाठ अशुद्ध हो गये हैं और दो-तीन स्थलोंके पाठ छूट भी गये हैं। उन छूटे पाठोंके प्रकरणके अनुसार बनाकर ( ) कोष्ठकमें दिया गया है। (देखो—गाथा २० की टीकामें पाँचवीं और छठी नरक भूमिका कोष्ठकान्तर्गत रिक्त पाठ)

जिन अनेक स्थलों परके अशुद्ध पाठ प्रयत्न करनेपर भी शुद्ध नहीं किये जा सके हैं, उन्हें ज्यों का त्यों देकर (?) इस प्रकारसे कोष्ठक भीतर प्रश्नचिह्न दे दिया गया है।

टीकाकारने अपने मंगलाचरणके बाद श्री नेमीश्वर आदि तीर्थोंकी यात्रासे लौटकर जहाँ धर्मोपदेश देते हुए श्री अमरसिंहके लिये तत्त्वसारकी टीका रचनेका निर्णय किया है उस नगरका नाम हस्तलिखित प्रतिमें '**श्रीयथपुर**' को हमने '**श्रीपथपुर**' किया है। पर यह वर्तमानमें कौन-सा नगर है, यह हम नहीं जान सके हैं। इससे आगेके '**तथैत्वदान्नक्ष्मीकृत**' पाठको भी शुद्ध नहीं किया जा सका और इसी कारण उसका भाव भी स्पष्ट नहीं हो सका है। इसीके आगे दिये गये 'ठः' पदका क्या भाव है, यह समझमें नहीं आनेसे हमने 'ठाकुर' अर्थ किया है। यदि किसी विद्वान्को उक्त पाठ शुद्ध प्रतीत हो जावें तो वे सूचित करनेकी कृपा करें।

प्रस्तुत संस्कृत टीकाके रचयिताने टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है, उससे सिद्ध है कि काष्ठासंघ, माथुरगच्छ और पुष्करगणके भट्टारक क्षेमकीर्तिके प्रशिष्य और श्री हेमकीर्तिके शिष्य श्री कमलकीर्त्तिने इस टीकाको रचा है। काष्ठासंघकी जो गुर्वावली 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' के चतुर्थ भागमें दी गई है, उससे भी उनके उक्त कथनको पुष्टि होती है। उक्त गुर्वावलीमें दिये गये कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

अध्यात्मनिष्ठः प्रसरत्प्रतिष्ठः कृपावरिष्ठः प्रतिभावरिष्ठः।
पट्टे स्थितस्य त्रिजगत्प्रशस्यः **श्रीक्षेमकीर्त्तिः** कुमुदेन्दुकीर्त्तिः ॥३३॥

तत्पट्टोदयभूधरेऽतिमहति प्राप्तोदयाद् दुर्जयं
रागद्वेषमदान्धकारपटलं सञ्चित्करैर्दीरुपान्।
श्रीमान् राजित **हेमकीर्त्तितरणिः** स्फीतां विकासश्रियं
भव्याम्भोजचये दिगम्बरपथालङ्कारभूतां दधत् ॥३४॥

कुमुदविशदकीर्तेर्हेमकीर्तेः सुपट्टे विजितमदनमायः शीलसम्पत्सहायः ।
मुनिवरगणवन्द्यो विश्वलोकैरनिन्द्यो जयति **कमलकीर्त्तिः** जैनसिद्धान्तवादी ।।३५।।

भावार्थ—काष्ठा संघकी गुरुपरम्परामें अनन्तकीर्ति हुए। उनके पट्टपर अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न, अध्यात्मनिष्ठ श्रीक्षेमकीर्ति आसीन हुए। उनके पट्ट पर, राग, द्वेष और मदरूप अन्धकार को नाश करनेके लिए सूर्यके समान श्री हेमकीर्ति विराजमान हुए और उनके पट्टपर मदनकी मायाको जीतने वाले, शीलरूप सम्पत्तिके धारक, उत्तम मुनिगणसे वन्द्य, लोकमें प्रशंसाको प्राप्त एवं जैनसिद्धान्तवादी श्रीकमलकीत्ति बैठे।

संस्कृत टीकाकी प्रशस्तिके अन्तमें कमलकीर्त्तिने अपने लिए जिन विशेषणोंको दिया है, उसकी पुष्टि गुर्वावलीके उक्त ३५ वें पद्यसे भी होती है।

इतना स्पष्ट ज्ञात हो जाने पर भी न तो गुर्वावलीमें उनके समयका कोई उल्लेख है और न टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें ही स्वयं टीकाकारने अपने समय और स्थान आदिका कोई उल्लेख किया है। अन्य सूत्रोंसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि उक्त गुर्वावलीमें कमलकीर्तिके पश्चात् कुमारसेन, हेमचन्द्र, पद्मनन्दि और यशःकीर्ति क्रमशः पट्ट पर बैठे हैं। यतः भ० पद्मनन्दि श्रावकाचार सारोद्धारकी प्रति वि० सं० १५८० की लिखी प्रति प्राप्त हुई है, जिसका उल्लेख हमने श्रावकाचार संग्रहकी प्रस्तावनामें किया है। और इसके पूर्व उसका रचा जाना सिद्ध है।

भट्टारक सम्प्रदायके लेखाङ्क २३९ के अनुसार इन्होंने भ० आदिनाथकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा वि० सं० १४५० में करायी है। वि० सं० १४६५ और वि० सं० १४८३ में उत्कीर्ण किये गये बिजौ-लियाके शिलालेखोंमें इनकी प्रशंसा की गयी है, अतः पद्मनन्दिका उक्त समय निश्चित है। यदि कमलकीर्त्तिके पश्चात् उनके पट्टपर बैठनेवाले कुमारसेन और हेमचन्द्रका समय २० + २० वर्ष भी माना जाये तो कमलकीर्त्तिका समय वि० सं० १४१० के आस-पास माना जा सकता है।

श्री कमलकीर्त्तिने अपनी टीकामें पं० वामदेव-रचित त्रैलोक्य दीपक नामक ग्रन्थका उल्लेख कर उसके एक श्लोकको उद्धृत किया है और त्रैलोक्य दीपककी एक प्रति-जो योगिनीपुर (दिल्ली) में लिखी गई है—उसमें लेखन-काल वि० सं० १४२६ दिया हुआ है।, अतः इनका समय इससे पूर्व और पं० वामदेवसे पीछेका होना निश्चित है। इस प्रकार ऊपर अनुमानके आधार पर जिस समयको कल्पनाकी गई है, यह ठीक प्रतीत होता है।

कमलकीर्त्तिकी शिष्य-परम्पराका उल्लेख वि० सं० १५२५ में उत्कीर्ण ग्वालियरके मूर्त्ति-लेखमें पाया जाता है। उसके अनुसार कमलकीर्त्तिके पट्टपर सोनागिरमें भ० शुभचन्द्र प्रतिष्ठित हुए। इसका उल्लेख रयधू कविने अपने हरिवंशपुराणकी आदि वा अन्तकी प्रशस्तिमें भी किया है। यथा—

कमलकित्ति उत्तमखम धारउ, भव्वइ भव-अम्भोणिहि-तारउ ।।
तस्य पट्ट **कणयद्दि परिट्ठिउ**, सिरि सुहचंदु सु तव उक्कंठिउ ।।

(हरि वं० आदि-प्रशस्ति)

जिण सुत्त-अत्थअलहंएण, **सिरिकमलकित्ति**-पयसेववएण ।
सिरिकंजकित्ति-पट्टं बरेसु तच्चत्थ-सत्थ-भासण-दिणेसु ।
उइण-मिच्छत्त-तमोहणासु सुहचंदुभडारउ सुजसवासु ।।

(हरि वं० अन्तिम प्रशस्ति)

आदिम प्रशस्तिमें आये हुए 'कणयद्दि' पदका संस्कृत रूप 'कनकाद्रि' है और यतः कनक नाम सुवर्ण (सोना) का है और अद्रि नाम गिरि (पर्वत) का है, अतः कनकाद्रि नाम 'सोनागिरि' का सिद्ध है।

अन्तिम प्रशस्तिकी प्रथम पंक्तिमें 'कमलकित्ति' और दूसरी पंक्तिमें 'पंकजकित्ति' नाम पर्यायवाची है, अतः वे एक ही 'कमलकीर्त्ति' को सिद्ध करते हैं।

उक्त प्रमाणोंके आधार पर यह सिद्ध होता है कि कमलकीर्ति सोनागिरिके भट्टारक-पट्ट पर आसीन रहे हैं।

कमलकीर्तिने अपनेको कहीं मुनि, कहीं यति और कहीं भट्टारक नामके साथ गाथाओंकी टीका करनेका उल्लेख किया है। जिनके निमित्तसे प्रस्तुत टीकाका निर्माण हुआ है उन श्री अमरसिंहने भी २-१ स्थलों पर उन्हें भट्टारक नामसे सम्बोधित किया है। गाथाओंकी टीका प्रारम्भ करते हुए इन्होंने कहीं अपनेको टीकाकार, कहीं टीकाकर्त्ता, कहीं वृत्तिकार और कहीं वृत्तिकर्त्ता कहा है। इसी प्रकार कई स्थानों पर अपनेको 'पंकजकीर्त्ति' भी कहा है, क्योंकि पंकज कमलका पर्यायवाची नाम है।

टीकामें उद्धृत गाथाओं एवं श्लोकोंको देखते हुए यह ज्ञात होता है कि ये व्याकरण और शब्द-कोषके वेत्ता होनेके साथ गोम्मटसार जीवकांड आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंके भी अच्छे ज्ञाता थे।

टीकामें इन्होंने एकत्त्वसप्तति नामक अनेकार्थ-कोषका, पूज्यपाद-रचित सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिका और त्रैलोक्यप्रदीपकका नामोल्लेख करके उनके उद्धरण दिये हैं।

टीकाकारने गाथा ६२ की टीकामें एक भावलिंगी शिवकुमारका उल्लेख किया है, जो कि अपने अन्तःपुरके भीतर रहते हुए ही षष्ठोपवास करते थे और पारणाके दिन पर-घरसे लाये हुए कांजिक आहारको ग्रहण करते थे। टीकाकारने यह उदाहरण चतुर्थकालके किसी शिवकुमारका दिया है, या पंचमकालके किसी उदासीन शिवकुमार का ? यह ज्ञात नहीं हो सका है।

इस टीकाकी सबसे बड़ी विशेषता मूल तत्त्वसारकी गाथाओंको पर्वोंमें विभाजित करना है। प्रारम्भकी आठ गाथाओंको स्वगत और परगत तत्त्वका वर्णन करनेवाला प्रथम पर्व कहा है। दूसरे पर्वमें ९ से लेकर २१ तककी १३ गाथाओंकी व्याख्या कर उसे निरंजनस्वरूप स्वगत तत्त्वका प्रतिपादक कहा है। तीसरे पर्वमें २२ से लेकर ३२ तककी ११ गाथाओंकी व्याख्या कर उसे ध्यानके माहात्म्यका वर्णन करने वाला कहा है। चौथे पर्वमें ३३ से लेकर ४५ तककी १३ गाथाओंकी व्याख्या कर उसे भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गकी भावनाके फलका वर्णन करने वाला कहा है। पाँचवें पर्वमें ४६ से लेकर ६६ तककी २१ गाथाओंकी व्याख्या कर उसे धर्म ध्यानकी परम्परासे प्राप्त शुक्लध्यानके फलस्वरूप केवलज्ञानकी प्राप्तिका वर्णन करने वाला कहा है। अन्तिम छठे पर्वमें ६७ से लेकर ७४ तककी ८ गाथाओंकी व्याख्या करके उसे सिद्धोंके स्वरूपका वर्णन करनेवाला कहा है।

टीकाकार कमलकीर्तिने प्रत्येक गाथाकी उत्थानिकामें तत्त्वसारके रचयिता देवसेनको पर-माराध्य, परमपूज्य भट्टारक विशेषणके साथ, कहीं 'भगवान्' पदके साथ, कहीं 'देवसेनदेव' कहकर और कहीं सूत्रकार कहकर अति परम पूज्य विशेषणोंके द्वारा उनके नामका उल्लेख किया है।

प्रत्येक पर्वके प्रारम्भमें टीकाकार कमलकीर्त्तिने अमरसिंहको सम्बोधन करने वाला एक-

एक आशीर्वादात्मक पद्य दिया है। तथा ग्रन्थके अन्तमें भी उन्हींको सम्बोधित करके कहा है कि हे संसारभीरु अमरसिंह, प्रसिद्ध अष्ट गुणोंसे युक्त सिद्ध भगवन्त तुझे सिद्धि-प्रदाता हों।

प्रत्येक पर्वकी अन्तिम प्रशस्तिका निर्माण सर्वत्र एक ही प्रकारकी पदावलीमें करके अपनी टीकाको अति निकट भव्यजनोंको आनन्दकारक, कायस्थ माथुरान्वय शिरोमणिभूत, भव्यवर पुण्डरीक अमरसिंहके मानस-कमलको विकसित करनेके लिए दिनकरके समान, भट्टारकश्रीकमलकीर्तिदेव विरचित तत्त्वसारका विस्तारावतार कहा है।

प्रत्येक गाथाकी टोका प्रारम्भ करते हुए गाथाके प्रथम चरणको देकर इत्यादि कहते हुए उसे पद-खण्डनाके रूपसे व्याख्यान करनेका उल्लेख किया गया है। पदखण्डना पदका अर्थ खण्डान्वयी टीकासे है, जिसमें प्रायः क्रियापदको देकर पुनः 'कम्', 'कथम्भूतम्' आदि प्रश्न उठाते हुए गाथाका विवरण किया जाता है। हमने कहीं भी 'पदखण्डनारूपेण' इस पदका अर्थ नहीं लिखा है।

टीकाके अध्ययन करने पर पाठक स्वयं ही यह अनुभव करेंगे कि टीकाकार कमलकीर्तिको गुरुपरम्परासे अध्यात्मशास्त्रोंका अच्छा ज्ञान प्राप्त था और वे तत्त्वसारके रहस्यके पारंगत विद्वान् थे।

भाषा छन्दकारका परिचय

प्रस्तुत तत्त्वसारकी मूलगाथाओंका पं० द्यानतरायजीने दोहा, चौपाई और सोरठा छन्दमें पद्यानुवाद किया है, जिसे मूलगाथाकी संस्कृत छायाके नीचे दिया गया है। इन छन्दोंको पढ़ते हुए पाठक अनुभव करेंगे कि उन्होंने तत्त्वसारके मर्मको किस प्रकारसे एक-एक छन्दमें भरकर 'गागरमें सागर' भरनेकी लोकोक्तिको चरितार्थ किया है।

यह छन्दोबद्ध-रचना द्यानतरायजी द्वारा रचित धर्म-विलासमें संकलित है। इसमें कुल ७९ छन्द हैं। जिसमेंसे तत्त्वसारकी ७४ गाथाओंसे ७४ छन्दोंके अतिरिक्त एक दोहा मंगलाचरणका है और ४ सोरठा अन्तमें प्रार्थनारूप हैं।

कवि द्यानतरायजी आगरा-निवासी थे। इनका जन्म अग्रवाल जातिके गोयल गोत्रमें हुआ था। इनके पितामहका नाम वीरदास और पिताका नाम श्यामदास था। द्यानतरायजीका जन्म वि० सं० १७३३ में हुआ था। इन्होंने अनेक उपदेशी भजन, पूजा-पाठ, स्तोत्र आदि स्वतंत्र रचनाओंके अतिरिक्त अनेक प्राचीन संस्कृत और प्राकृत रचनाओंका भी हिन्दी भाषाके छन्दोंमें पद्यानुवाद किया है।

कविने अपनी समस्त रचनाओंका संकलन वि० सं० १७८० में धर्मविलासके नामसे किया है।

भाषा-वचनिकाकारका परिचय

तत्त्वसारके प्रस्तुत संस्करणमें ब्यावर-सरस्वती भवनसे प्राप्त एक भाषावचनिका भी दी गई है। इसे श्री पन्नालाल चौधरीने वि० सं० १९३१ के वैशाखवदी सप्तमी गुरुवारके दिन रच कर पूर्ण किया है। यह बात वचनिकाके अन्तमें दी गई प्रशस्तिसे सिद्ध है। ये पन्नालाल चौधरी कहाँके रहने वाले थे और किस जैनकुलमें उनका जन्म हुआ था, इसका कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। वचनिकाकी भाषाको देखते हुए ये राजस्थानके रहने वाले होना चाहिए।

गाथा ११, १५, ४१, ४५, ५३, ७२ और ७४ की वचनिकाको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उसके सामने तत्त्वसारकी संस्कृत टीका रही हैं, जिसके आधार पर उन्होंने उक्त गाथाओं पर अधिक विवेचन किया है। गाथाका अर्थ करनेके पूर्व दी गई उत्थानिकाओंसे भी उक्त बात सिद्ध होती है।

उक्त गाथाओंके आधार पर किये गये विवेचनके अतिरिक्त गाथा ७२ की वचनिकामें दिये गये 'संसार-भीरु अमरसिंह, तू भी सिद्धनिकूँ नमस्कार करि' इस वाक्यसे तो स्पष्टरूपसे सिद्ध है कि उनके सामने कमलकीर्त्ति-रचित संस्कृत टीका थी। क्योंकि उक्त वाक्य संस्कृत टीकाके 'भो संसारभीरो अमरसिंह, त्वमपि नमस्कुरु, इस वाक्यका शब्दशः अनुवाद है। दूसरे, अमरसिंहके नामका उल्लेख टीकाके सिवाय मूल गाथाओंमें कहींभी नहीं है। टीकाकारने ही आरम्भसे लेकर अन्ततक अनेक बार अमरसिंहके नाम का उल्लेख किया है।

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

विषय-सूची

द्वितीय पर्व

तीसरा पर्व

चौथा पर्व

पाँचवाँ पर्व

छठा पर्व

श्री देवसेनाचार्य-विरचित

तत्त्वसार

(श्री कमलकीर्त्ति-रचित वृत्ति-संयुक्त)

मङ्गलाचरणम्

यज्ज्ञानं विश्वभावार्थदीपकं संशयादिहृत् ।
तं वन्दे तत्त्वसारज्ञं देवं सर्वविदांवरम् ॥१॥
सर्वविद्-हिमवद्-वक्त्र-सरोरुह-विनिर्गता ।
वाग्गङ्गा हि भवत्वेषा मे मनोमल-हारिणी ॥२॥
गुरूणां पादपद्मं च मुक्तिलक्ष्मी-निकेतनम् ।
मे हृत्सरसि सानन्दं क्रीडतामन्तरायहृत् ॥३॥
पुनः श्रीगौतमादीनां स्मृत्वा चरणपङ्कजम् ।
वक्ष्ये श्रीतत्त्वसारस्य वृत्तिं संक्षेपतो मुदा ॥४॥

भाषा वचनिकाकारका मंगलाचरण

दोहा

प्रणमि श्री अरहंतकूं सिद्धनिकूं शिर नाय ।
आचार्य उवझाय मुनीनिकूं पूजूं मन वच काय ॥१॥
गौतम गुरुकूं वंदि करि वंदिं जिनोक्त सुवाणि ।
तत्त्वसारकी देशना करूँ वचनिका जाणि ॥२॥

जिनका ज्ञान समस्त तत्त्वार्थोंको प्रकाशित करनेके लिए दीपकरूप है, संशय, विभ्रम, विमोहका नाशक है, जो तत्त्वोंके सारके ज्ञायक हैं, और सर्वतत्त्व-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं ऐसे उन सर्वज्ञदेवकी मैं टीकाकार कमलकीर्त्ति वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

सर्वज्ञरूप हिमवान् पर्वतके मुख-कमलसे निकली हुई यह वचन-गंगा मेरे मनके मलको दूर करनेवाली होवे ॥ २ ॥

गुरुजनोंके चरण-कमल मुक्ति-लक्ष्मीके निकेतन (ध्वजारूप या गृहस्वरूप) हैं और प्रारब्ध कार्यमें आनेवाले विघ्नोंके विनाशक हैं, वे चरण-कमल मेरे हृदय-सरोवरमें नित्य क्रीडा करें ॥ ३ ॥

पुनः श्रीगौतम आदि गणधरोंके चरण-कमलोंका स्मरण कर मैं हर्ष-पूर्वक श्रीतत्त्वसारकी वृत्तिको संक्षेपसे कहूँगा ॥ ४ ॥

अथ श्रीनेमीश्वर-महातीर्थादियात्राविहारकर्म विधाय व्याघुटच च श्रीपथपुरमागत्य महामहोत्सवपूर्वकं धर्मोपदेशं कुर्वतः सत्यतो मे यथा भेदेतररत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गभावनां भावयतस्तर्थत्वदान्न(?) क्षनीकृतपरमार्थरतसुलक्षणेन श्रंतोषतनयेन मतिमयेन ठः श्रीलब्धनामधेयेनेदं वचः प्रोक्तम्—भो कृपावारिसागर, चतुर्गतिसंसाराम्बुधियान, भट्टारक श्रीकमलकीर्त्तिदेव, चतुर्विधसंघकृतसेव, संसार-शरीर-भोगनिर्ममो मदीयो नाथोऽयं तत्त्वातत्त्व-हेयोपादेयपरिज्ञानलालसः श्री अमरसिंहो वरीवर्त्ति। ततस्तत्त्वोपदेशेन बोध्यते चेत्तदा वरम्। इत्याकर्ण्याऽऽकुलीभूतमानसे मुहुर्विमृश्याल्पमतिनापि मया चिन्तितमिति सर्वविद्योक्ततत्त्वोपदेशे पुण्यं भविष्यति, पुण्येन तत्त्वसारोपदेशाख्यं शास्त्रं सम्पूर्णं भविष्यतीति मत्वा तत्त्वसारविस्तारावतारं भावनाग्रन्थं कर्तुं समुद्यतोऽहमभवम्।

अथासन्नीकृतोऽपारसंसारतीरेणान्तर्भावितसकल—केवलज्ञानमूर्त्तिसर्वविन्महावीरेण समाविष्कृत-समयसार-चारित्रसार-पञ्चास्तिकायसार—सिद्धान्तसारादिसारणसमूरीकृतबाह्याभ्यन्तर—दुर्द्धरद्वादशविधतपोभारेण समभ्यसितसम्यक्त्वाद्यष्टगुणालङ्कृतपरमात्मस्वभावेन तिरस्कृतासंसारायाताज्ञानोद्भवलोकमात्रसङ्कल्पविकल्पात्मकविभावेन भस्मीकृतद्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्ममलकलङ्कानां सिद्धानां द्रव्य-भावरूपां स्तुतिं कर्तुकामेन भेदाभेदरत्नत्रयानुभवोद्भवसम्यग्ज्ञानमहा-

---

श्रीनेमीश्वर-महातीर्थ ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) महातीर्थ आदि सिद्ध क्षेत्रोंकी (वन्दना) यात्रारूप विहार कार्यकर और लौटकर [1]श्रीपथपुरमें आकर महामहोत्सव-पूर्वक धर्मोपदेश करते हुए जब मैं भेदाभेदरूप रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गकी भावना कर रहा था, तब वहाँके······ परमार्थरत सुलक्षणवाले ठाकुर सन्तोषके सुपुत्र, मतिमान् ठाकुर श्रीनामधारकने यह वचन कहे—हे कृपावारिसागर, हे चतुर्गति रूप संसार-सागरसे तारनेके लिए यान (जहाज) रूप, हे चतुर्विध संघद्वारा सेवित भट्टारक श्री कमलकीर्ति देव! संसार, शरीर और भोगसे ममता-रहित मेरा यह स्वामी श्री अमरसिंह, तत्त्व-अतत्त्व और हेय-उपादेयके जाननेकी लालसावाला है, इसलिए तत्त्वोंके उपदेश द्वारा यदि इसे आप प्रबोधित करें, तो बहुत उत्तम हो! यह सुनकर आकुलित हुए अपने मनमें बार-बार विचार कर अल्पबुद्धि होते हुए भी मैंने चिन्तवन किया—सर्वज्ञ-देव-द्वारा कहे गये तत्त्वोंका उपदेश करनेपर मेरे महान् पुण्य होगा और उस पुण्यसे यह सारभूत तत्त्वोंका उपदेश करनेवाला यह तत्त्वसार नामक शास्त्र सम्पूर्ण हो जायगा, ऐसा विचार कर मैं तत्त्वसारके विस्तारावताररूप भावना ग्रन्थको करनेके लिए उद्यत हो गया।

जिन्होंने इस अपार संसार-सागरके तीरको समीपवर्ती किया है, जिन्होंने अपने अन्तरमें सम्पूर्ण केवलज्ञान मूर्तिरूप सर्वज्ञ महावीरको भावित किया है, जिन्होंने सम्यक् प्रकार आविष्कार किये गये समयसार, चारित्रसार, पंचास्तिकायसार, सिद्धान्तसार आदि ग्रन्थोंके अध्ययन और अनुस्मरणसे बाह्य और आभ्यन्तर द्वादश प्रकारके दुर्धर तपोभारको स्वीकार किया है, जिन्होंने सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे अलंकृत सिद्ध परमात्माके स्वभावका सम्यक् प्रकारसे अभ्यास किया है, जिन्होंने अनादि संसारवाससे संलग्न अज्ञानसे उत्पन्न हुए लोक-प्रमाण असंख्यात संकल्प और विकल्पात्मक विभावोंका तिरस्कार किया है, जिन्होंने द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मल और कलंकको भस्म करनेवाले सिद्ध भगवन्तोंकी द्रव्य और भावरूप स्तुति करनेकी इच्छा की है, भेदा-

---

१. रयधु-रचित हरिवंश पुराणकी प्रशस्तिके अनुसार कमलकीर्ति सोनागिरिके भट्टारक थे। अतः उसके समीपवर्ती वर्तमान शिवपुरी नगरीका ही उन्होंने 'श्रीपथपुर' नामसे उल्लेख किया है।—अनुवादक

धामेन आसंसारप्रधावितमोहमहाराजशीघ्रगामितमःसंग्लिलितपदगायमानाऽनादिमिथ्यादर्शनाज्ञाना-विरतिभावादिविषय-कषाय — ठकपेटकदुर्जयनिर्जीयसर्वविद्वीतरागोपदिष्टागमाध्यात्मसिद्धान्त—शास्त्रावतारितोपायकृतोपयोगेन समीप्सितसाक्षादुपेयसंसिद्धिशिष्टाचारपरिपालन-नास्तिकतापरि-हारनिर्विघ्न-(शास्त्र)-परिसमाप्तिफलचतुष्टयेन स्वगततत्त्व-परगततत्त्वभेदभिन्नं तत्त्वसाराख्यं ग्रन्थमहं प्रवक्ष्यामीति कृतप्रतिज्ञेन परमाराध्य-परमपूज्य-भट्टारकश्रीदेवसेनकृतसूत्रमिदं संवर्ण्यते—

मूलगाथा— झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे ।
णमिऊण परमसिद्धे सुतच्चसारं पवोच्छामि ।। १ ।।

संस्कृतछाया—ध्यानाग्निदग्धकर्मकान् निर्मलसुविशुद्धलब्धसद्भावान् ।
नत्वा परमसिद्धान् सुतत्त्वसारं प्रवक्ष्यामि ।। १ ।।

टीका—प्रवक्ष्यामि कथयिष्यामि । कम् ? तं सुतत्त्वसारम् । तद्यथा—तत्त्वमित्यादि, तस्य भावस्तत्त्वम् । 'तस्यौ भावे' इति त्वप्रत्ययः । शोभनानि च तानि तत्त्वानि सुतत्त्वानि, सुतत्त्वानां

भा० व०—मैं जो देवसेननामा आचार्य हूँ सो सुंदर जे तत्त्व तिनका सारकूं कहूंगा । कहाकरि कि उत्कृष्ट जे सिद्ध तिनकूं नमस्कार करि। कैसे हैं सिद्ध ? ध्यानरूप जो अग्नि ता करि दग्ध किये हैं कर्म जिननैं, अर नष्ट भये हैं कर्ममल जातैं सो तो निर्मल कहिए अतिशय करि विशुद्ध, रागादिक दोष-रहित प्राप्त भया है सुविशुद्ध समीचीन स्वभाव जिनका, ऐसे ॥१॥

भेदरूप रत्नत्रयके अनुभव करनेसे जिनके सम्यग्ज्ञानरूप सूर्य प्रकट हुआ है, अनादि संसारसे साथ दौड़नेवाले मोहमहाराजके शीघ्रगामी, मोहान्धकारसे पाद-चारी यात्रियोंको निगलनेवाले ऐसे अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिभावादि विषय-कषायरूप दुर्जय ठगोंके समूहको जीत कर सर्वज्ञ वीतरागदेवके द्वारा उपदिष्ट आगम और अध्यात्म सिद्धान्तशास्त्रोंके अवतारके उपायमें जिन्होंने अपना उपयोग लगाया है, तथा जो साक्षात् उपेय (मोक्ष) तत्त्वकी संसिद्धि, शिष्टाचार-परिपालन, नास्तिकता-परिहार और निर्विघ्न शास्त्र-परिसमाप्तिरूप चार फलोंकी प्राप्तिकी इच्छा वाले हैं ऐसे परम आराध्य, परम पूज्य, भट्टारक श्रीदेवसेनाचार्यने 'स्वगत तत्त्व और परगत तत्त्वसे दो भेदवाले तत्त्वसार नामक ग्रन्थको मैं कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करते हुए यह वक्ष्यमाण गाथासूत्र कहा है—

अन्वयार्थ—(झाणग्गिदड्ढकम्मे) आत्मध्यानरूप अग्निसे ज्ञानावरणादि कर्मोंको दग्ध करने-वाले, (णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे) निर्मल और परम विशुद्ध आत्मस्वभावको प्राप्त करनेवाले (परमसिद्धे) परम सिद्ध परमात्माओंको (णमिऊण) नमस्कार करके (सुतच्चसारं) श्रेष्ठ तत्त्वसार-को मैं देवसेन (पवोच्छामि) कहूँगा ।

टीकार्थ—यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे आत्मा सर्वप्रकारके मलोंसे रहित निर्मल और सर्व प्रकारके कलंकोंसे रहित परमशुद्ध है, तथापि अनादि कालसे उसके साथ जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, राग-द्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म लग रहे हैं, उनसे यह वर्तमानमें समल और अशुद्ध हो रहा है । आत्माकी इस मलिनता और अशुद्धताको शुक्ल-ध्यानरूप अग्निके द्वारा जला करके अपने निर्मल

सारः सुतत्त्वसारः, तं सुतत्त्वसारम् । किं कृत्वा ? नत्वा नमस्कृत्य । कान् ? परमसिद्धान्–परा उत्कृष्टा, मा लक्ष्मीः सम्यग्ज्ञानरूपा येषां ते परमाः, परमाश्च ते सिद्धाश्च परमसिद्धाः, तान् परमसिद्धान् । कथंभूतान् ? 'झाणग्गिदड्ढकम्मे' ध्यानमेवाग्निः ध्यानाग्निः, ध्यानाग्निना दग्धानि कर्माणि यैस्ते ध्यानाग्निदग्धकर्माणः, तान् ध्यानाग्निदग्धकर्मकान् । समासान्तर्गतानां च राजादीनामदन्तत्वाद् बहुव्रीहौ समासे कप्रत्ययो वा भवति, यथा—तद्धर्मा तद्धर्मकः परमस्वधर्मकः द्विमूर्द्धः त्रिमूर्द्ध इत्यादिषु अदन्तता भवति । पुनश्च किंविशिष्टान् परमसिद्धान् ? 'णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे' निर्गतानि कर्ममलानि यस्मादसौ निर्मलः सुविशुद्धो लब्धः प्राप्तः समीचीनः शाश्वतो वा भावः सद्भावो यैस्ते निर्मलसुविशुद्धलब्धसद्भावास्तान्, एवं गुणविशिष्टान् परमसिद्धान् नत्वा—वचनात्मकरूपेण द्रव्यस्तवेन, अन्तरङ्गे भावशुद्धया केवलज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण भावस्तवेन च स्तुत्वा सुतत्त्वसारं प्रवक्ष्यामि ॥१॥

और अति विशुद्ध स्वभावको जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, ऐसे सिद्ध भगवन्तोंको ग्रन्थकार देवसेनने नमस्कार कर सुतत्त्वसारको कहनेकी प्रतिज्ञा की है। सिद्धोंके लिए उन्होंने 'परम' विशेषण लगाया है। 'पर' नाम उत्कृष्टका है और 'मा' नाम लक्ष्मीका है। जिनको सम्यग्ज्ञानरूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी प्राप्त हो गई है, ऐसे परम सिद्धोंको उन्होंने नमस्कार किया है। 'नत्वा' इस वचनात्मक पदके द्वारा द्रव्यस्तव या द्रव्य नमस्कार किया है और केवलज्ञानादि गुणोंके स्मरणरूप भावस्तव या भावनमस्कार किया है। जिनका अस्तित्व पाया जाता है उसे तत्त्व कहते हैं। उनमें आत्माके लिए प्रयोजनभूत तत्त्व 'सुतत्त्व' कहलाते हैं। ऐसे सात तत्त्वोंमें उपादेय शुद्ध आत्मतत्त्व है, वही सर्व तत्त्वोंमें सारभूत है, ऐसे सुन्दर तत्त्वसारको देवसेनाचार्य अपने इस ग्रन्थमें कहेंगे।

विशेषार्थ—अनादि मूल मंत्रमें यद्यपि अरहंत परमेष्ठीको प्रथम स्थान प्राप्त है, तथापि श्री देवसेनाचार्यने उनको नमस्कार न करके इस गाथामें सिद्धोंको जो नमस्कार किया है, उसका अभिप्राय यह है कि उनका उद्देश्य शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेका है, और यतः सिद्ध परमेष्ठी अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर चुके हैं, अतः उनका स्वरूप सदा मेरे सम्मुख रहे, इसलिए उन्होंने उन्हें नमस्कार किया है। इसका कारण यह है कि जो जिसके गुणोंको पानेका अभिलाषी होता है, वह उसकी उपासना करता है। सिद्धोंने अपना शुद्धस्वरूप किस प्रकारसे प्राप्त किया ? इसका उत्तर भी ग्रन्थकारने सिद्धोंके लिए दिये गये विशेषण द्वारा प्रकट कर दिया है कि ध्यानरूपी अग्निके द्वारा आत्म-स्वरूपको आवृत करनेवाले कर्मोंको जलाकर उन्होंने अपना शुद्ध आत्मस्वरूप प्राप्त किया है।

ध्यान क्या वस्तु है, उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? और तत्त्वसार क्या है ? इन सब प्रश्नोंका उत्तर श्री देवसेनाचार्यने अपने इस ग्रन्थमें क्रमसे दिया है। उसका सार यह है कि जिस उपायसे यह संसारी जीव सांसारिक क्लेशोंसे, क्लेशोंके कारणभूत कर्म-बन्धनोंसे और उसके कारण राग, द्वेष, मोहादि भावोंसे छूटकर अपने शुद्ध बुद्ध ज्ञानानन्दमय निर्मल परम स्वभावको प्राप्त कर सदाके लिए कृतकृत्य, सुखी, शुद्ध और निश्चल दशाको प्राप्त कर लेता है, वही तत्त्वसार है। उस तत्त्वसारकी प्राप्तिके लिए धर्मध्यान परम्परा कारण है और शुक्लध्यान साक्षात् कारण है। इस ध्यानकी प्राप्तिके लिए बाहिरी सभी प्रकारके परिग्रहोंका और भीतरी सभी प्रकारके संकल्प-

इत्युक्ते कश्चिदासन्नभव्यः प्राह—किंलक्षणं तत्त्वमिति चेत् ।

मूलगाथा—तच्चं बहुभेयगयं पुव्वायरिएहिं अक्खियं लोए ।
धम्मस्स वत्तणट्ठं भवियाण य बोहणट्ठं च ।। २ ।।

संस्कृतच्छाया—तत्त्वं बहुभेदगतं पूर्वाचार्यैराख्यातं लोके ।
धर्मस्य वर्तनार्थं भव्यजनप्रबोधनार्थं च ।। २ ।।

टीका—श्रीसर्वज्ञवीतरागमहावीरप्रमुखैः पूर्वाचार्यैः लोके जगति तत्त्वं प्रोक्तम् । कथम्भूतम् ? 'बहुभेयगयं' वस्तुतस्तत्त्वं परमार्थरूपमेकप्रकारम् । व्यवहारेण एकधा-द्विधा-त्रिधा-चतुर्धा-पञ्चधा-षोढा-सप्तधा-अष्टधा-नवधा-दशधा-प्रभृतिसंख्यातासंख्यातानन्तप्रकारम् । ततो बहुभेदगतम्, बहवश्च ते भेदाश्च बहुभेदास्तान् बहुभेदान् गतं प्राप्तं बहुभेदगतं तत्त्वं कथितम् । किमर्थम् ? धम्मस्स वत्तणट्ठं' धर्मस्य वर्तनार्थम् ।

स धर्मः परमार्थेन वस्तुस्वरूप एकधा । व्यवहारेण सागारानगारधर्मभेदेन द्विविधः । रत्नत्रयात्मकस्वरूपस्त्रिविधो धर्मः । चतुर्विधाराधना दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपः-स्वरूपश्चतुर्विधश्च, धर्मार्थकाममोक्षभेदेनापि चतुर्विधः, प्रथमानुयोग-करणानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोगभेदाच्च

भा० व०—लोकविषैं पूर्वाचार्यनिनैं तत्त्व है सो बहुत भेदनिकूं प्राप्त भया कहत भये धर्मका प्रवर्तन के अर्थि । बहुरि भव्यनिका प्रबोधन जो ज्ञानकी उक्तिका कारण, ताकैं अर्थि ।।२।।

आगैं दो प्रकार तत्त्व कहै हैं—

विकल्पोंका त्याग आवश्यक है । जब तक इनका त्याग नहीं होगा, तब तक शुद्ध ध्यानकी प्राप्ति असंभव है । यह सब कथन देवसेनाचार्यने इस ग्रन्थमें आगे यथास्थान किया है ।

उत्थानिका—किसी निकट भव्यने पूछा—हे भगवन् ! उस तत्त्वका क्या लक्षण है ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(लोए) इस लोकमें (पुव्वायरिएहिं) पूर्वाचार्योंने (धम्मस्स वत्तणट्ठं) धर्मका प्रवर्तन करनेके लिए (च) तथा (भवियाण पबोहणट्ठं) भव्यजीवोंको समझानेके लिए (तच्चं) तत्त्वको (बहुभेयगयं) अनेक भेदरूप (अक्खियं) कहा है ।

टीकार्थ—श्री सर्वज्ञ, वीतराग महावीर प्रमुख पूर्वाचार्योंने लोक अर्थात् इस जगत्में तत्त्वको अनेक भेदवाला कहा है । वस्तुतः परमार्थरूपसे तत्त्व एक ही प्रकार है किन्तु व्यवहारसे एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दशको आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रकारका है, इसलिए श्रीदेवसेनाचार्यने उसे 'बहुभेदगत' कहा है । अर्थात् वह तत्त्व बहुत भेदोंको प्राप्त है ।

प्रश्न—पूर्वाचार्योंने तत्त्वका कथन किसलिए किया है ?

उत्तर—धर्मका प्रवर्तन करनेके लिए और भव्यजीवोंको प्रबोध देनेके लिए पूर्वाचार्योंने तत्त्वका कथन किया है ।

वह धर्म परमार्थसे अर्थात् निश्चयनयसे वस्तुस्वरूपात्मक एक ही प्रकारका है । व्यवहारनयसे सागार-(श्रावक-) धर्म और अनगार-(मुनि-) धर्मके भेदसे दो प्रकारका है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रस्वरूप रत्नत्रयकी अपेक्षा तीन प्रकारका है । दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओंके भेदसे वह धर्म चार प्रकारका है । अथवा धर्म, अर्थ, काम और

चतुर्विधः धर्मः । आहारौषधशास्त्राभयदानविधिनापि चतुर्विधो धर्मः । हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमित्यादिपञ्चाणुव्रत-पञ्चमहाव्रतरूपेण वा पञ्चप्रकारः । षड्जीवनिकाय-रक्षालक्षणः षड्विधः,

'देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥

इत्यादि षट्प्रकारश्च भवति ।

'द्यूत-मांस-सुरा-वेश्या-पापर्द्धि-चौर्य-परदारादिसप्तव्यसनपरित्यागरूपः सप्तविधो धर्मः । जाति-कुलैश्वर्य-रूप-ज्ञान-तपोबल-शिल्पमदाष्टकत्यजनादेवाष्टधा स्यात् । मानुषी-तैरश्ची-देवीषु स्त्री-पर्यायेषु मनोवचनकाय-कृतकारितानुमताब्रह्मनवविधपरित्यागमूलो नवविधो धर्मः । उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-सत्य-शौच-संयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यदशप्रकारधर्मप्रतिपालनात् दशप्रकारो धर्मो भवति । एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय (जीव-) रक्षा-रूपः पञ्चेन्द्रिय-विषयनिवृत्ति-लक्षणोऽपि वा दशविधः । दर्शन-व्रत-सामायिक-प्रोषध-सचित्तपरित्याग-रात्रिभक्तब्रह्मचर्यारम्भत्याग-परिग्रहत्यागानुमत-रहितानुद्दिष्टाहारस्वभावैकादशगुणप्रतिपालनात् एकादशप्रकारोऽस्ति ।

तद्यथा—तत्रादौ सम्यग्दर्शनं विवृणोमि—क्षयोपशम-विशुद्धता-देशना-प्रायोग्य-करणलब्धि-

---

मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की अपेक्षासे वह चार प्रकारका है। अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे धर्म चार प्रकारका है। अथवा आहार, औषध, शास्त्र और अभयदानके भेदसे चार प्रकारका है। हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह इन पंच पापोंसे एक देश विरतिरूप पांच अणुव्रतोंकी अपेक्षा, अथवा सर्वदेशविरतिरूप पंच महाव्रतोंकी अपेक्षा वह धर्म पांच प्रकारका है। पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायु-काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छह प्रकारके जीव-निकायकी रक्षारूपसे छह प्रकारका धर्म है। अथवा—देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थोंके प्रतिदिन षट् कर्त्तव्य कहे गये हैं, उनकी अपेक्षासे वह धर्म छह प्रकारका है। (अथवा—सामायिक, वन्दना, स्तवन, प्रतिक्रमण, आलोचन और कायोत्सर्ग, मुनियोंके इन छह आवश्यकोंकी अपेक्षा धर्म छह प्रकारका है) यह इत्यादि पदसे सूचित किया गया अर्थ है।

द्यूत (जुआ), मांस, सुरा (मदिरा), वेश्या, पापर्द्धि (शिकार) चोरी, और पर-दारागमन आदि सप्त व्यसनोंके परित्यागरूपसे सात प्रकारका धर्म है। जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और शिल्प, इन अष्ट मदोंके त्यागरूपसे धर्म आठ प्रकारका है। मानुषी, तिर्यंचिनी, देवीरूप स्त्री पर्यायोंमें मन वचन काय द्वारा कृत, कारित और अनुमोदनारूप नौ प्रकारके अब्रह्मत्याग-रूपसे नौ प्रकारका धर्म कहा गया है। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश प्रकारोंके धर्मोंको पालन करनेसे धर्म दश प्रकारका है। अथवा—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, इन पाँच प्रकारके जीवोंकी रक्षा करनेसे, तथा पांच इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करनेसे दश प्रकारका कहा गया है। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त-परित्याग, रात्रिभक्त, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और अनुद्दिष्ट आहारस्वरूप ग्यारह गुणों (प्रतिमाओं)के परिपालनसे वह धर्म ग्यारह प्रकारका है।

उनमेंसे आदिमें दर्शन प्रतिमावालेको जिस सम्यग्दर्शनका धारण करना आवश्यक है,

पञ्चकवशादुत्पद्यते सम्यग्दर्शनम् । तथा चोक्तम्—

> खयउवसमण-विसोहि य देसण-पाओग्गकरणलद्धीहि ।
> चत्तारि वि सामण्णा करणे सम्मत्त-चारित्तं ॥ १ ॥

तथाहि—ज्ञानावरणादीनां घातिकर्मणां क्षयोपशमो भावः, विकारकरकलुषितभावाभावात् परिणामविशुद्धता, सर्वज्ञोक्तसन्मार्गक्रमोत्पन्नभेदाभेदरत्नत्रयाराधकपरमगुरूपदेशाद्देशना च, मिथ्यादर्शनाद्यष्टकर्मणां सप्तति-विंशतित्रिंशत्कोटाकोटिसागरस्थितीनां यदा लघुस्थितिगतानामेककोटाकोटिमध्यभूतानां लघुता भवति तदा प्रायोग्यलब्धिः स्यात् । एताश्चतस्रो लब्धयः सामान्यरूपाः, यतोऽनेकशः प्राप्ताः । करणलब्धौ सत्यां तु सम्यग्दर्शनं स्यात् । करणलब्धिस्तु अधःकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं चेति । तत्सम्यग्दर्शनं पञ्चविंशतिदोषरहितमुक्तं पूर्वाचार्यैः । ते दोषाः के ? मूढत्रयादयः । उक्तं च--

> मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट् ।
> अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥

उसका स्वरूप-विवरण करते हैं—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, करणलब्धि इन पांच लब्धियोंके द्वारा सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । जैसा कि कहा है—

क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि ये चार सामान्य लब्धियां हैं, जो कि भव्य और अभव्योंके लिए समान हैं । किन्तु करणलब्धि भव्य जीवके ही होती है और उसके होनेपर ही सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त होता है ॥१॥

इन लब्धियोंका अर्थ इस प्रकार है—सम्यक्त्व-प्राप्तिके योग्य ज्ञानावरणादि घाति-कर्मोंका क्षयोपशम भाव होना क्षयोपशमलब्धि है । आत्मामें विकार उत्पन्न करनेवाले कलुषित भावोंका अभाव होनेसे परिणामोंमें निर्मलता आना विशुद्धिलब्धि है । सर्वज्ञ-भाषित सन्मार्ग-प्राप्तिके क्रमसे उत्पन्न हुए भेद-अभेद रूप रत्नत्रयके आराधक परम गुरुके उपदेशकी प्राप्ति होना देशनालब्धि है । मिथ्यादर्शन आदि आठ कर्मोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति सत्तर, बीस, तीस और तेतीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम कही गई है—अर्थात् दर्शनमोहनीयकी ७० कोड़ाकोड़ी, चारित्रमोहनीयकी ४० कोड़ाकोड़ी, नाम-गोत्र कर्मकी २० कोड़ाकोड़ी, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी ३० कोड़ाकोड़ी और आयुकर्मकी ३३ सागरोपम-प्रमाण स्थितिमें स्थित कर्मोंकी सत्ता घटकर एक कोड़ाकोड़ीके मध्यगत अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण लघु स्थिति रह जावे तब प्रायोग्यलब्धि होती है । ये चार लब्धियां सामान्यरूप हैं, क्योंकि वे अनेक बार प्राप्त हो चुकी हैं । किन्तु करणलब्धिके होनेपर ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । यह करणलब्धि अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप तीन परिणाम-विशेषोंकी प्राप्तिरूप है । इन करण-परिणामोंके होनेपर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । वह सम्यग्दर्शन पहली दर्शन-प्रतिमामें पच्चीस दोषोंसे रहित होना आवश्यक है, ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है ।

प्रश्न—वे पच्चीस दोष कौनसे हैं ?

उत्तर—तीन मूढ़ता आदि । जैसा कि कहा है—

तीन मूढ़ताएं, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंकादिक, ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहे गये हैं ।

तद्यथा--देवमूढ-समयमूढ-लोकमूढरूपास्त्रयो दोषाः। मूढत्वं अज्ञानत्वम्। जाति-कुलैश्वर्य-रूप-ज्ञान-तपो-बल-शिल्पाभिमानादयो मदा अष्टौ दोषाः। तथा मिथ्यादर्शनं मिथ्याज्ञानं मिथ्याचारित्रं तदाराधकाश्च षडनायतानि भवन्ति। इहलोकभय-परलोकभय-वेदनाभय-मरणभय-त्राणभय-अगुप्तिभय-आकस्मिकभयादिसप्तभयग्रसिता शङ्का, जीवदयालक्षणो धर्मो धर्मोऽस्ति न वेति शङ्का १। पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषरूपा आकांक्षा २। रत्नत्रयाराधक-मलमलिनगात्रोत्तमपात्रेषु घृणा विचिकित्सा ३। अज्ञानभावो मूढत्वम् ४। परेषां दोषाणां विद्यमानानामविद्यमानानां वाऽनाच्छादन-मपगूहनदोषः ५। तीव्रपापकर्मविपाकात् स्वस्वभावात्स्वस्थानाच्च भ्रष्टानां जीवानामस्थितिकरणम-स्थापनम् ६। ऋषि-यति-मुन्यनगारादिचतुर्विधसंघेष्वनादरविशेषोऽवात्सल्यकरणम् ७। अथेति सामर्थ्येन वा जिनोक्तप्रभावनां न करोतीति यत्र सोऽप्रभावनादोषः। एते पञ्चविंशतिर्दोषाः दृष्टेः सम्यग्दर्शनस्य भवन्ति। एतैः पञ्चविंशतिभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तं सम्यग्दर्शनं निर्मलं भवेत्।

इन पच्चीस दोषोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—मूढता नाम अज्ञानता या विवेक-हीनताका है। ये मूढतारूप दोष तीन हैं—देवमूढता, समयमूढता और लोकमूढ़ता। मद नाम अभिमान, गर्व या अहंकारका है—मदरूप दोष आठ हैं—जातिमद, कुलमद, ऐश्वर्यमद, रूपमद, ज्ञानमद, तपमद, बलमद और शिल्पमद। [इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकारके मदोंकी सूचना आदि पदसे की गई है, उन सबका अन्तर्भाव यथासंभव इन आठों ही मदोंमें हो जाता है।] अनायतन नाम अधर्म और अधर्मके स्थानोंका है। अनायतन दोष छह हैं—मिथ्यादर्शन और मिथ्यादर्शनके आराधक, मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञानके आराधक, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रके आराधक। सम्यक्त्वके जो आठ अंग कहे गये हैं, उनके प्रतिपक्षरूप आठ दोष होते हैं। इहलोक-भय; परलोकभय, वेदनाभय, मरणभय, त्राण-(रक्षा-) भय, अगुप्ति-(धनादिकी असुरक्षाका) भय और आकस्मिकभय आदि सात प्रकारके भयोंसे ग्रसित या भयभीत रहना शंका दोष है। [यद्यपि सभी जीव किसी न किसी प्रकारके भयसे त्रस्त रहते हैं, तथापि यह सम्यक्त्वका दोष ही है, क्योंकि प्राणीने जो कुछ भी पापकर्म संचित किया हुआ है, उसके उदय आनेपर उसे निर्भयतापूर्वक भोगना ही सम्यक्त्व है। उसे भोगनेसे डरना तो दोष ही है।] भगवान्‌ने जीवदयारूप या अहिंसा लक्षण धर्म कहा है, वह यथार्थमें धर्म है, या कि नहीं? इस प्रकार शंका रखना भी शंका दोष है। पांच इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषा रखना आकांक्षा दोष है २। रत्नत्रय धर्मके आराधक उत्तम पात्र मुनिजनोंके मलसे मलिन शरीरमें घृणाका भाव रखना विचिकित्सा दोष है ३। विवेकहीनतारूप अज्ञान भाव रखना मूढता दोष है ४। दूसरे व्यक्तियोंके विद्यमान या अविद्यमान दोषोंका आच्छादन न करना, प्रत्युत इनको प्रकाशित करना अपगूहन दोष है ५। तीव्र पाप कर्मके उदयसे अपने आत्मस्वभावसे या अपने स्थानसे भ्रष्ट, पतित या चलित हुए, या हो रहे जीवोंको उनके स्थानमें या धर्ममें स्थित या स्थिर नहीं करना अस्थितिकरण या अस्थापन नामका दोष है ६। ऋषि, यति, मुनि और अनगाररूप चार प्रकारके मुनि संघमें, [या मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चार प्रकारके श्रमण संघमें] आदर, प्रीति और वात्सल्य भाव नहीं रखना अवात्सल्यकरण नामका दोष है ७। आर्थिक और शारीरिक सामर्थ्य होते हुए भी अर्थसे या शारीरिक सामर्थ्यसे जिन-भाषित जिनशासनके माहात्म्यकी प्रभावना न करना, उसका प्रचार और प्रसार न करना अप्रभावना दोष है। ये पच्चीस दोष दृष्टि या सम्यग्दर्शनके होते हैं। इन पच्चीस दोषोंसे विमुक्त होनेपर ही सम्यग्दर्शन निर्मल होता है।

तत्सम्यक्त्वं व्यवहार-निश्चयभेदेन द्विविधम्, उपशम-क्षयोपशमक्षायिकरूपेण त्रिविधम्। तथाहि-तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति व्यवहारसम्यक्त्वम्। उक्तं च—

नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना।
तपः परं न नैर्ग्रंथ्यादेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥३॥

द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्ममलकलङ्करहितपरब्रह्मपरमात्मसदृशनिजात्मश्रद्धानं रुचिः प्रतीतिः निश्चय आस्तिक्यमिति नानाशब्दानामेकार्थ एव हि ज्ञातव्यस्तत्त्वविद्भिरिति निश्चयसम्यक्त्वम्।

अप्रत्याख्यान-क्रोध-मान-माया-लोभानां कषायचतुष्टयानामुपशमे सति निर्विकारकर्माञ्जन-रहित-निर्विकल्परागादिरहितैकदेशात्मानुभूतिलक्षणस्यान्तरङ्गे बहिरङ्गे चैकदेशेन षड्जीवनिकायानां मध्ये द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियरूपत्रसजीवरक्षणलक्षणस्य निरतिचारेण मकार-त्रय-पञ्चफलोदुम्बरादिसप्तव्यसनपरित्यागरूपस्य जीवस्य दर्शनप्रतिमा प्रथमा भवति। तथा चोक्तम्—

अट्ठइ पालइ मूलगुण, विसणु ण एक्कइ होइ।
सम्मत्ते सुविसुद्धमइ पढमउ सावइ सो जि[1] ॥४॥

यह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकके रूपसे तीन प्रकारका है। अब इनका स्वरूप कहते हैं—जीवादि तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, यह व्यवहार सम्यक्त्वका स्वरूप है। कहा भी है—

अरहन्त देवसे श्रेष्ठ अन्य कोई देव नहीं है, दया धर्मसे बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है और निर्ग्रन्थतासे उत्कृष्ट अन्य कोई तप नहीं है, इस प्रकारका दृढ़श्रद्धान होना, यही व्यवहार सम्यक्त्वका लक्षण है ॥३॥

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मल एवं कलंकसे रहित परमब्रह्म, परमात्मा-सदृश निज आत्माका श्रद्धान, रुचि, प्रतीति, निश्चय और आस्तिक्य बुद्धि होना—इन सभी नाना शब्दोंका एक ही अर्थ तत्त्ववेत्ताओंको जानना चाहिए—निश्चय सम्यक्त्व हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंके उपशम होनेपर निर्विकार, कर्मरूप अंजनसे रहित, निर्विकल्प, रागादिरहित एकदेश आत्मानुभूति लक्षण अवस्था अन्तरंगमें होनेपर, तथा बहिरंगमें छह जीव-निकायोंमेंसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियरूप त्रसकायिक जीवोंकी रक्षा-लक्षण एकदेशसे विरतिके होनेपर मद्य, मांस, मधु इन तीन मकारोंके, बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर इन पांच उदुम्बर फलोंके तथा द्यूत आदि पूर्वोक्त सात व्यसनोंके त्याग करने वाले और उक्त अष्टमूलगुणादिका निरतिचार परि-पालन करनेवाले जीवके दर्शनप्रतिमा नामकी पहिली श्रावक-प्रतिमा होती है। जैसा कि कहा है—

जो आठों मूलगुणोंको पालता है, जिसके एक भी व्यसनका सेवन नहीं है और सम्यक्त्वमें अति विशुद्धमति है, अर्थात् सम्यक्त्वका निरतिचार निर्दोष पालन करता है, वही प्रथम प्रतिमा-का धारक श्रावक है ॥४॥

---

१. सावयधम्म दोहा—२६।

इत्युक्तलक्षणा प्रथमप्रतिमा-श्रावकधर्मोऽस्ति । १

तथा द्वितीयव्रतप्रतिमा । तथा हि—एकदेशेन हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः पञ्चपापेभ्यो विरतिलक्षणानि पञ्चाणुव्रतानि, दिग्विरति-देशविरति-जीवाहारि-जीवसारयुरादि(?)रूपानर्थदण्ड-विरतिरूपाणि त्रिगुणव्रतानि सामायिक-प्रोषधोपवास-भोगोपभोगसंख्याऽतिथिसंविभागान्तसल्लेखना-लक्षणानि चत्वारि शिक्षाव्रतानीति द्वादशव्रतपालनरूपा व्रतप्रतिमा २ ।

पूर्वाह्णिक-मध्याह्निकाऽपराह्णिककालेषु श्रीसर्वज्ञवीतरागचैत्यालये स्वगृहप्रतिमाग्रे वा पूर्वदिशि कायोत्सर्गेण पद्मासनयोगेन वा आर्तरौद्रपरित्यागलक्षणसामायिकक्रियानुरूपा तृतीया प्रतिमा ३ ।

शुक्ल-कृष्णाष्टमी-चतुर्दशीचतुष्के पर्वनियमेन चतुर्थोपवासलक्षणा प्रोषधप्रतिमा चतुर्थी भवति ४ । सचित्तवस्तुत्यागरूपा पञ्चमी प्रतिमा ५ । दिवाब्रह्मचर्य-रात्रिभक्तस्वरूपा षष्ठी प्रतिमा ६ । सर्वथाऽब्रह्मनिवृत्तिरूपा ब्रह्मचर्यप्रतिपालनलक्षणा च सप्तमी ब्रह्मप्रतिमा भवति ७ । पापारम्भपरित्यक्तशीलाऽष्टमी आरम्भत्यागरूपा प्रतिमा ८ । स्वशरीरप्रयोगिवस्त्राहारपात्र-परिग्रहरूपाऽपरपरिग्रहपरित्यागलक्षणा हि नवमी प्रतिमा स्यात् ९ । पापानुयायिकार्यानुमतिरहिता धर्मानुमतिसहिता वाऽनीहितवृत्योपासकगृहे स्वीकृताहाररूपा दशमी अनुमतिप्रतिमा कथ्यते १० ।

इस प्रकार ऊपर जिसका स्वरूप कहा गया है, उस प्रकारसे उसे धारण करना प्रथम-प्रतिमारूप श्रावकधर्म है १ ।

तथा दूसरा व्रत-प्रतिमारूप श्रावकधर्म इस प्रकार है—हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापोंसे एकदेश विरतिरूप पांच अणुव्रत, दिग्विरति, देशविरति और जीवोंका आहार (भक्षण) करनेवाले बिल्ली-कुत्ता आदि हिंसक जीवोंका संरक्षण-पालन-पोषणादि करने, अस्त्र-शस्त्र देने और पाप कार्योंके उपदेशरूप अनर्थ दंडोंकी विरतिरूप तीन गुणव्रत तथा सामा-यिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग संख्यान और अतिथिसंविभागरूप चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोंका पालन करना और जीवनके अन्तमें सल्लेखना धारण करना यह दूसरी व्रतप्रतिमा है २ ।

प्रातःकाल, मध्याह्न काल और सायंकालमें भी सर्वज्ञ वीतरागदेवके चैत्यालयमें अथवा अपने घरमें विराजमान जिन-प्रतिमाके आगे पूर्व दिशामें (अथवा उत्तर दिशामें) मुख करके कार्योत्सर्गसे (खड़े होकर) अथवा पद्मासनयोगसे (बैठकर) आर्त और रौद्रध्यानके परित्यागस्वरूप सामायिककी विधि-पूर्वक क्रिया करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है ३ ।

प्रत्येक मासकी शुक्ला-कृष्णा अष्टमी और चतुर्दशी इन चारों पर्वोंमें नियमसे चतुर्थ भक्तरूप उपवास करना चौथी प्रोषधप्रतिमा है ४ । सचित्त वस्तुके खाने-पीनेका त्यागरूप पांचवीं सचित्तत्याग प्रतिमा है ५ । दिनमें ब्रह्मचर्यका पालन करनेरूप रात्रिभक्त नामकी छठी दिवामैथुन-त्याग प्रतिमा है ६ । अब्रह्म (कुशील) सेवनका सर्वथा नौ बाढ़रूपसे निवृत्ति करके ब्रह्मचर्यके प्रतिपालन स्वरूप सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है ७ । पापरूप आरम्भोंका सर्वथा परित्याग करना आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है ८ । अपने शरीरके उपयोगमें आनेवाले वस्त्रोंका और आहार-पानका परिग्रह रखकर अन्य समस्त प्रकारके परिग्रहका त्याग कर देना नवमी परिग्रहत्याग प्रतिमा है ९ । पापोंके अनुयायी कार्योंकी अनुमति नहीं देना, धार्मिक कार्योंकी अनुमति देना तथा अनी-हित वृत्तिसे अर्थात् आकांक्षा रहित होकर उपासक (श्रावक) के घरमें आहारको स्वीकार करना

स्वीकृतोत्तमश्रावकव्रताकृतकारितानुमताहारमङ्गीकृतसंयमासंयमपरिणामाऽनुद्दिष्टाहारस्वरूपा चैकादशी प्रतिमा ११। इत्येकादशप्रतिमागतजघन्य-मध्यमोत्तमश्रावकविभेदभिन्न एकादशविधो धर्मः ११।

द्वादशधा धर्माः कथ्यन्ते। तद्यथा–अनशनादिबाह्याभ्यन्तरतपोभेदात्। तत्र षट् प्रकारं बाह्यं तपः। न अशनं अनशनमुपवासः प्रथमं बाह्यं तपः १। एकग्रासाद्येकग्रासन्यूनमाहारादिकं यत्र गृह्यते तदवमोदर्यं द्वितीयं बाह्यं तपः २। सागारापेक्षया वस्तुसंख्यारूपं एकवस्त्वादिग्रहणं वृत्तिपरिसंख्यानं तपः। अनगारापेक्षया एकहाटद्यर्धग्रामपर्यन्तमटनं भिक्षार्थं यत्र तद् वृत्तिपरिसंख्यानं तृतीयं बाह्यं तपः ३। मधुर-कटुकाम्लकषायतीक्ष्णरसपञ्चानां दुग्ध-दधि-घृतेक्षुरस-तैललवण-षड्रसानां वा मध्ये एकरसग्रहणमन्यरसत्यजनमुत्कृष्टं रसपरित्यागतपः। जघन्यपञ्च-रसग्रहणमेकत्यागाख्यं चतुर्थं बाह्यं तपः ४। स्त्री-पुन्नपुंसकतिर्यग्गतिजीवरहितस्थाने शयनासनादिकं यत्र क्रियते तद्विविक्तशय्यासननामधेयं पञ्चमं बाह्यं तपः ५। चतुर्थ-षष्ठाष्टम-दशम-द्वादश-चतुर्दश-पाक्षिक-मासिकोपवासाऽऽतापनयोगादिसहनं कायक्लेशाख्यं बाह्यं तपः ६।

दशवीं अनुमति (त्याग) प्रतिमा कही जाती है १०। उत्तम श्रावकके व्रतोंको स्वीकारकर कृत, कारित और अनुमतिसे रहित आहारको अंगीकार करना तथा संयमासंयम परिणामरूप और अनुद्दिष्ट आहारस्वरूप ग्यारहवीं उद्दिष्टाहार त्याग प्रतिमा है ११। इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओंमें आदिकी छह प्रतिमाओंके पालनेवाले जघन्य श्रावक हैं। मध्यकी तीन प्रतिमाओंका पालन करनेवाले मध्यम श्रावक हैं और अन्तिम दो प्रतिमाओंके पालनेवाले उत्तम श्रावक हैं। इस प्रकार जघन्य, मध्यम और उत्तम श्रावकके भेदवाला यह ग्यारह प्रकारका श्रावकधर्म है ११।

अब बारह प्रकारका धर्म कहते हैं—वह बाह्य और आभ्यन्तर तपके भेदसे मूलमें दो प्रकारका है। उनमें बाह्य तप छह प्रकारका है—अशन (भोजन) न करनेको अनशन (अर्थात् उपवास) कहते हैं। यह पहिला बाह्य तप है १। पुरुषका जो स्वाभाविक आहार है उसमें एक, दो, चार आदि ग्राससे न्यून आहार आदिको ग्रहण करना दूसरा अवमोदर्य बाह्यतप है २। सागार (श्रावक) की अपेक्षा वस्तुकी संख्यारूप एक दो वस्तु आदिको ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। अनगार (मुनि) की अपेक्षा एक गली, दो गली आदि अर्धग्राम पर्यन्त भिक्षाके लिए घूमना वृत्तिपरिसंख्यान नामक तीसरा बाह्य तप है ३। मधुर (मीठा) कटुक, आम्ल (खट्टा) कषाय (कसैला) और तीक्ष्ण (चर्परा) रूप पांच रसों अथवा दूध, दही, घी, इक्षुरस, तेल और लवण (नमक) इन छह रसोंमेंसे एक रसको ग्रहण करना और अन्य रसोंका त्याग करना उत्कृष्ट रसपरित्यागतप है। पांच रसोंको ग्रहण करना और एक रसका त्याग करना जघन्य रस परित्याग तप है। (दो-तीन आदि रसोंको ग्रहण करना और शेषका त्याग करना मध्यम रसपरित्याग तप है।) यह रसपरित्याग नामक चौथा बाह्य तप है ४। स्त्री, पुरुष, नपुंसक, और तिर्यंच गतिके जीवोंसे रहित एकान्त स्थानमें शयन-आसन आदि करना विविक्तशय्यासन नामका पांचवां बाह्य तप है ५। चतुर्थ भक्त (एक उपवास) षष्ठभक्त (दो उपवास) अष्टमभक्त (तीन उपवास) दशमभक्त, द्वादशभक्त, चतुर्दश भक्त, पाक्षिक, मासिक उपवासोंके साथ आतापन आदि योगोंके द्वारा शारीरिक क्लेशोंको सहना कायक्लेश नामका छठा बाह्य तप है ६।

षड्-विधमन्तरङ्गं तपः। तथाहि—अनाद्यज्ञानभावेनोपार्जितपापकर्मणां शोधनं जिनोक्त-युक्त्या यत्क्रियते तत् प्रायश्चित्ताख्यमान्तरं प्रथमं तपः १। सम्यग्दर्शनविनय-सम्यग्ज्ञानविनय-सम्यक्चारित्रविनय-तदाराधकपुरुषोपचारविनयभेदेन चतुर्विधं विनयाख्यमान्तरम् द्वितीयं तपः २। आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानां वात्सल्यभेदेन दशविधं तृतीयमान्तरं वात्सल्याख्यं तपः ३। वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशादिविकल्पात्पञ्चप्रकारं स्वाध्याय-नामधेयमान्तरं चतुर्थं तपः ४। बाह्याभ्यन्तरशरीर-रागद्वेषादित्यजनं पञ्चममान्तरं व्युत्सर्गाख्यं तपः ५। पदस्थ-पिण्डस्थ-रूपस्थ-रूपातीत-भेदेन धर्मध्यानं पृथक्त्ववितर्कवीचार-एकत्ववितर्का-वीचार-सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवृत्तीनीत्यादिशुक्लध्यानमितिभेदेनान्तरं षष्ठं ध्या-नाख्यं तपः ६। इति बाह्याभ्यन्तरद्वादशधातपोभेदेन द्वादशविधस्तपोधर्मः स्यात् १२।

त्रयोदशधा चारित्रम्। तत्र पञ्चमहाव्रतानि पूर्वोक्तानि। समितयः पञ्च। तद्यथा—सूर्यो-दयास्तमनयोर्मध्ये मार्गे प्रवर्तिते युगं प्रमाणं निरीक्ष्य गम्यते यत्र देववन्दनानिमित्तं गुरूणां वा पादपद्मं नमस्कर्तुं सा ईर्यासमितिः १। दृष्टश्रुतानुभूतप्रत्यक्षेण धर्मोपदेशनिमित्तं कथ्यते यत्र सा भाषासमितिः २। जिनोक्तपिण्डशुद्धचा निरीक्ष्य भुङ्क्ते यत्र सा एषणासमितिः ३। ज्ञानसंयमो-पकरणानि पुस्तक-कुण्डिकादीनि दृष्टचा प्रतिलेख्य गृह्यते निक्षिप्यते वा यस्मिन् सा आदान-

---

अन्तरंग तप भी छह प्रकारका है—अनादिकालिक अज्ञानभावसे उपार्जित पापकर्मोंका शोधन जिन-प्ररूपित योग्य विधिसे जो किया जाता है, वह प्रायश्चित्त नामका पहिला अन्तरंग तप है १। सम्यग्दर्शनकी विनय, सम्यग्ज्ञानकी विनय, सम्यक्चारित्रकी विनय, और रत्नत्रयके आराधक पुरुषोंकी विनयरूप उपचार विनयके भेदसे चार प्रकारका विनय नामक दूसरा अन्तरंग तप है २। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ मुनियोंकी वात्सल्य (या वैयावृत्त्य) के भेदसे वात्सल्य (या वैयावृत्त्य) नामका तीसरा अन्तरंगतप है ३। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश आदिके भेदसे पांच प्रकारका स्वाध्याय नामक चौथा अन्तरंगतप है ४। बाह्यमें शरीरसे ममत्वका त्याग करना और अन्तरंगमें राग-द्वेषादि भावोंका त्याग करना व्युत्सर्ग नामका पांचवां अन्तरंग तप है ५। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीतके भेदसे चार प्रकारका धर्मध्यान करना, तथा पृथक्त्ववितर्क वीचार, एकत्व वितर्क-अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इन चार प्रकारका शुक्लध्यान करना, इस प्रकार धर्मध्यान शुक्लध्यानरूप छठा ध्याननामका अन्तरंग तप है ६।

इस प्रकार बाह्य-आभ्यन्तररूप बारह प्रकारके तपोंके भेदसे तपोधर्म बारह प्रकार-का है १२।

चारित्र रूप धर्म तेरह प्रकारका है। उनमेंसे पांच महाव्रत पूर्वमें कहे गये हैं। पांच समितियां इस प्रकार हैं—सूर्योदयके पश्चात् और सूर्यास्तके पूर्व मध्यवर्ती कालमें मार्गके जन-संचार युक्त होनेपर देववन्दनाके निमित्त या गुरुजनोंके चरण-कमलोंको नमस्कार करनेके लिए युगप्रमाण (चार हाथ) भूमिको (नासादृष्टिसे) देखते हुए गमन करना पहिली ईर्यासमिति है १। दृष्ट, श्रुत, अनुभूत और प्रत्यक्षसे धर्मोपदेशके निमित्त हित, मित, प्रिय वचन बोलना दूसरी भाषास-मिति है २। जिनभाषित पिण्डशुद्धि-पूर्वक अन्न-पानको भलीभांतिसे देखकर भोजन-पान करना तीसरी एषणासमिति है ३। ज्ञान और संयमके उपकरण पुस्तक, कमण्डलु आदिको आंखसे भलीभांति

निक्षेपणसमितिः ४। निर्जने स्थाने शुद्धे प्रासुके चावलोक्य मलमूत्रश्लेष्मनिष्ठीवनादिकं त्यज्यते यत्र सा व्युत्सर्गसमितिः ५। मनोगुप्ति-वचनगुप्ति-कायगुप्तित्रयं ३ इति त्रयोदशप्रकारं चारित्रं त्रयोदशविधो धर्मः। अथवा समता-स्तुति-वन्दना-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-कायोत्सर्गविकल्पात् षडावश्यकानि ६। समितयस्ताः पञ्च। असिद्धिका-निषिद्धिके द्वे २। इति त्रयोदशक्रियास्थानरूपो धर्मः।

एकेन्द्रिय-सूक्ष्म-बादर-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय - संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तभेदेन रक्षणं यत्रासौ जिनोक्तयुक्त्या चतुर्दशविधो धर्मः। चतुर्दशगुणस्थानरूपेण वा। तद्यथा—तथा चोक्तं गोम्मटसारशास्त्रे श्री गोम्मटेन्द्रेण—

मिच्छा सासणमिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व-अणियट्टि-सुहुमो य ॥५॥
उवसंतखीणमोहो सयोगिकेवलिजिणो अजोगी य।
चोद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥६॥
मिच्छोदएण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च-अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥७॥

तथाहि—

विपरीततत्त्वग्रहणं सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-बौद्ध-चार्वाकादिपञ्चप्रकारमिथ्यारूपं वा यत्र तन्मिथ्यात्वगुणस्थानम् १।

देखकर ग्रहण करना और रखना चौथी आदान-निक्षेपण समिति है ४। निर्जन, शुद्ध, प्रासुक स्थानमें जीव-जन्तुओंको देखकर मल, मूत्र, कफ, थूंक आदिको छोड़ना पांचवीं व्युत्सर्गसमिति है ५। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन प्रकारकी गुप्तियां हैं ३।

इस प्रकार तेरह प्रकारके चारित्ररूप तेरह प्रकारका धर्म है १३। अथवा समता, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कार्योत्सर्गके भेदसे छह आवश्यक ६, पूर्वोक्त पांच समिति ५, असिद्धिका और निषिद्धिका ये दो २, इस प्रकार तेरह क्रियास्थानरूपसे तेरह प्रकारका धर्म है १३।

एकेन्द्रिय बादर, सूक्ष्म, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संज्ञी-असंज्ञी ये सातों पर्याप्त अपर्याप्तके भेदसे चौदह प्रकारके जोवोंका जिनोक्त युक्तिसे रक्षण करना यह चौदह प्रकारका धर्म है। अथवा चौदह गुणस्थानोंके भेदसे चौदह प्रकारका धर्म है १४। जैसा कि गोम्मटसार शास्त्रमें श्री गोम्मटेन्द्र (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती) ने कहा है—

मिथ्यात्व १, सासादन २, मिश्र ३, अविरतसम्यक्त्व ४, देशविरत ५, प्रमत्तविरत ६, अप्रमत्तविरत ७, अपूर्वकरणसंयत ८, अनिवृत्तिकरणसंयत ९, सूक्ष्मसाम्परायसंयत १०, उपशान्त मोह ११, क्षीणमोह १२, सयोगिकेवलीजिन १३ और अयोगिकेवली जिन १४ ये क्रमसे चौदह जीवसमास (गुणस्थान) और सिद्ध जानना चाहिए ॥५–६॥

मिथ्यात्वकर्मके उदयसे सप्त तत्त्वों और नव पदार्थोंका श्रद्धा नहीं करना मिथ्यात्व नामका प्रथम गुणस्थान है। यह मिथ्यात्व पांच प्रकारका है—एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान मिथ्यात्व ॥७॥

जहां विपरीत तत्त्वका ग्रहण हो, वह मिथ्यात्व गुणस्थान है। अथवा सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध और चार्वाक आदि पांच प्रकारके मिथ्या मतोंका श्रद्धान करना मिथ्यात्वगुणस्थान है।

तथाहि—अस्त्येव, नास्त्येव, नित्यमेव, अनित्यमेव, एकमेवानेकमेव, तत्त्वमित्यादि सर्वथा अवधारणरूपोऽभिप्राय एकान्तमिथ्यात्वं नाम १। अहिंसादिलक्षण-सद्धर्मफलस्य स्वर्गापवर्गस्य हिंसादिपापफलत्वेन परिच्छिन्दानोऽभिप्रायो विपरीतमिथ्यात्वम् २। सम्यग्दर्शनादिनिरपेक्षेण देव-गुरुपादपूजादिलक्षणेन विनयेनैव मोक्ष इत्यभिप्रायो वैनयिकमिथ्यात्वं नाम ३। प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन परिगृह्यमानस्यार्थस्य देशान्तरे कालान्तरे चैव स्वरूपावधारणोपपत्तेस्तत्स्वरूपनिरूपकानामाप्तानामभिमानदंदह्यमानानामपि परस्परविरुद्धशास्त्रोपदेशकानामवञ्चकत्वनिश्चयाभावादिदमेव तत्त्वमिदं न भवतीति परिच्छेत्तुमशक्यमित्युभयाशावलम्बनाभिप्रायः संशयमिथ्यात्वं नाम ४। विचार्यमाणे जीवादिपदार्था न तिष्ठन्ति, ततः सर्वमज्ञानमेव, ज्ञानं नास्तीत्यभिनिवेशः अज्ञानमिथ्यात्वं नाम ५।

एयं त बुद्धदरिसी विवरीओ बह्म तावसो विणओ।
इंदो विय संसइयो मक्कडिको चेव अण्णाणी॥८॥
मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो॥९॥
मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं च॥१०॥

एकान्त आदि मिथ्यात्वोंका खुलासा इस प्रकार है—वस्तु तत्त्व अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है, एक ही है, अनेक ही है, इत्यादि सर्वथा 'ही' इस अवधारणारूप अभिप्रायका नाम एकान्त मिथ्यात्व है १। स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति अहिंसादि लक्षणवाले सद्-धर्मका फल है. उसे हिंसादि पापरूप यज्ञादिका फल माननेका अभिप्राय विपरीत मिथ्यात्व है २। सम्यग्दर्शनादिसे निरपेक्ष देव-पूजा, गुरु-पाद-पूजा आदि रूप विनयसे ही मोक्ष प्राप्त होता है, इस प्रकारका अभिप्राय वैनयिक मिथ्यात्व है ३। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ग्रहण किये गये पदार्थका देशान्तर और कालान्तरमें तथैव स्वरूप प्राप्त होनेपर उसका निश्चय हो सकता है। किन्तु वस्तुके स्वरूपका निरूपण करनेवाले, 'मैं आप्त पुरुष हूँ' इस प्रकार के अभिमानसे जलनेवाले और परस्पर विरुद्ध शास्त्रोपदेश करनेवाले पुरुषोंकी अवंचकताके निश्चय न होनेसे 'यह तत्त्व है' और 'यह तत्त्व नहीं है' ऐसा निश्चय करना अशक्य है, इस प्रकारसे उभय कोटिके अवलम्बनरूप अभिप्रायका नाम संशयमिथ्यात्व है ४। तर्कसे विचार करनेपर जीवादि पदार्थ सिद्ध नहीं होते हैं, अतः सर्व वस्तु अज्ञानरूप ही है, ज्ञानरूप कोई वस्तु नहीं है, इस प्रकारका अभिनिवेश रखना अज्ञानमिथ्यात्व है ५।

बुद्धदर्शी (बौद्ध आदि मतवाले) एकान्त मिथ्यात्वी हैं, ब्रह्म (पशुयज्ञ करनेवाले ब्राह्मण आदि) विपरीत मिथ्यात्वी हैं। तापस आदि विनय मिथ्यात्वी हैं। इन्द्र आदि आचार्य संशयमिथ्यात्वी हैं और मस्करी आदि अज्ञानमिथ्यात्वी हैं॥८॥ मिथ्यात्वकर्मका वेदन करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। जिस प्रकार पित्तज्वरवाले पुरुषको मधुर (मीठा) रस नहीं रुचता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीवको सद्-धर्म नहीं रुचता है॥९॥ मिथ्यादृष्टि जीव जिन-उपदिष्ट-प्रवचनका श्रद्धान नहीं करता है। किन्तु अन्य मिथ्यात्वीजनोंके द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असत्यार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान करता है॥१०॥

इत्यादि मिथ्यात्वगुणस्थानम् १।

अनन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभान्यतरोदएण प्रथमोपशमसम्यक्त्वात्पतितो मिथ्यात्वं नाद्यापि गच्छतीत्यन्तरालवर्ती सासादनगुणस्थानम्। उक्तं च गोम्मटसारे—

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेदव्वो ॥११॥

दर्शनमोहनीयमिश्रप्रकृत्युदयेन मिश्रभावं दधि-गुडमिश्रभाववत् श्रद्धत्ते सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थानम् ३।

सो संजमं ण गिण्हदि देसजमं वा ण बंधदे आउं।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण ॥१२॥

यत्र सम्यक्त्वभावे मिथ्यात्वभावे वा पूर्वमायुर्बद्धं तत्रैव गुणे म्रियते नियमात्।

अनाद्यनन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्वप्रकृति - सम्यक्त्वप्रकृति- सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतीति सप्तप्रकृतीनामुपशमाद् उपशमसम्यक्त्वं भवति। सम्यक्त्वप्रकृत्युदयात् क्षयोपशमसम्यक्त्वं भवति षण्णामुदयाभावाच्च। सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकसम्यक्त्वं स्यात्। इति

द्वितीयकषायाप्रत्याख्यानचतुष्कोदयात्संयमाभावादसंयतसम्यग्दृष्टिः स्वीकृतसर्वज्ञवीतरा-

---

इत्यादि प्रकारसे मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप जानना चाहिए।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ कषायमेंसे किसी एकके उदयसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वसे पतित हुआ जीव जबतक मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता है, तबतककी अन्तरालवर्ती अवस्थावाला वह जीव सासादन गुणस्थानी है। जैसा कि गोम्मटसारमें कहा है—

सम्यग्दर्शन रत्नरूप पर्वतकी शिखरसे गिरा हुआ और मिथ्यात्वरूपी भूमिके सम्मुख हुआ, तथा जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो चुका है, ऐसा जीव सासादन नामक दूसरे गुणस्थानवाला जानना चाहिए ॥११॥

दर्शन मोहनीयकी मिश्र प्रकृतिके उदयसे दही-गुड़की मिश्रताके समान जो सम्यक्त्व और यिथ्यात्वकी मिश्र अवस्थाको धारण करता है, वह मिश्रगुणस्थानवाला जीव है ३।

यह मिश्र गुणस्थानी जीव न सकल संयमको ग्रहण करता है, न देशसंयमको ही धारण करता है और न आयुकर्मको ही बांधता है। किन्तु सम्यक्त्व या मिथ्यात्व जिस दशामें पहिले आयुको बांधा है, उसी सम्यक्त्व या मिथ्यात्व गुणस्थानको नियमसे प्राप्त होकर मरता है ॥१२॥

जिस सम्यक्त्वभावमें अथवा मिथ्यात्वभावमें पहिले आयुको बांधा है उसी गुणस्थानमें जाकर नियमसे मरता है।

अनादिकालसे संलग्न अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय, मिथ्यात्वप्रकृति सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशमसम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे और शेष छह प्रकृतियोंके उदयाभावसे क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। सातों ही प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्कके उदयसे संयम न होनेके कारण वह सम्यग्दृष्टि

गोक्तजीवाजीवादितत्त्वः कर्ममलकलङ्करहितपरमात्मसमानात्मस्वरूपकृतोपादेयबुद्धिः अविरत-भावोदयात् तलवरगृहीततस्करवत् प्रवृत्तपञ्चेन्द्रियविषयः सम्यग्ज्ञानवैराग्ययुक्तः, निःशङ्काद्यष्टाङ्गसम्यक्त्वगुणलाङ्कृतः अन्तरङ्गकृतसंयमपरिणामोद्यमः आज्ञाविचयापायविचय-विपाकविचय-संस्थानविचयलक्षणधर्मध्यानकृताभ्यासः। एवंविधपरिणामपरिणतोऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान-वर्त्ती भवति।

तत्रोपशम-क्षयोपशम-क्षायिकसम्यक्त्वत्रयाणां जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन स्थितिमाह--उपशमस्य जघन्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्ता स्थितिः। क्षयोपशमस्य जघन्यान्तर्मुहूर्ता स्थितिः। उत्कृष्टेन षट्षष्ठिसागरोपमा च। क्षायिकस्योत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा कतिपयवर्षकोटिपूर्वाधिका स्थितिः। जघन्येनान्तर्मुहूर्ता च संसारापेक्षया। उक्तं च—

णो इंदिएसु विरदो जीवे थावर-तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥१३॥

अथ प्रत्याख्यानावरणतृतीयकषायचतुष्कोदयाद्देशसंयतो भवति। तथाहि—बाह्यो निरतिचारत्रसजीवकृतरक्षः कार्यवशात् स्थावरजीववधेषु प्रवृत्तोऽन्तरङ्गे जिनसर्वज्ञोक्तशुद्धबुद्धकर्माञ्जनविनिर्मुक्तरागादिरहितैकदेशभावितात्मानुभूतिः, उपशम-क्षयोपशम-क्षायिकसम्यक्त्वविराजमानः

असंयत कहलाता है। वह सर्वज्ञ वीतरागदेवके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोंको स्वीकार करता है, कर्म-मल-कलंकसे रहित सिद्ध परमात्माके समान अपने आत्मस्वरूपमें उपादेयबुद्धि रखता है, अविरत-भावके उदयसे हेय जानते हुए भी पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त रहता है। जैसे कोतवालके द्वारा पकड़ा गया चोर चोरीको बुरा जानता हुआ और अपनी निन्दा करता हुआ भी अवसर पाते ही पुनः चोरी करने लगता है। यह अविरतसम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्ज्ञान और वैराग्यसे संयुक्त होता है, निःशंकित आदि आठ अंगरूप सम्यक्त्वके गुणोंसे अलंकृत होता है, अन्तरंगमें संयम धारण करनेके परिणामोंमें उद्यमी रहता है, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय-रूप धर्मध्यानोंका अभ्यास करता है। इस प्रकारके परिणामोंसे युक्त जीव अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होता है।

अब इन उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक इन तीनों सम्यक्त्वोंकी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदरूप स्थिति कहते हैं—उपशमसम्यक्त्वकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। क्षयोपशमसम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अ तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट छयासठ सागरोपम है। क्षायिककी जघन्य स्थिति संसारकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट कुछ पूर्वकोटी वर्षसे अधिक तेतीस सागरोपम है। (सिद्धोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट स्थिति अनन्तकाल है।) कहा भी है—

जो जीव इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत नहीं है, तथा त्रस और स्थावर जीवोंके घातसे भी विरत नहीं है। किन्तु जो जिनदेव-कथित तत्त्वोंका श्रद्धान करता है, वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि है ॥१३॥

अब पंचम गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्कके उदय से जीव देशसंयमका धारक होता है। यह देशसंयत बाहिरमें निरतिचार त्रसजीवोंकी रक्षा करता है, कार्यके वशसे स्थावर जीवोंके घातमें प्रवृत्त होता है, अन्तरंगमें सर्वज्ञ जिनदेवप्ररूपित शुद्ध, बुद्ध, कर्मरूप अंजनसे विमुक्त, रागादि भावोंसे रहित, एक देश शुद्ध आत्मानुभूतिसे भावित

कोपीन-कमण्डलुभिक्षापात्रैकपट्टवस्त्रमात्रपरिग्रहः, दर्शन-व्रत-सामायिक-प्रोषधोपवास-सचित्तत्याग-रात्रिभक्त-ब्रह्मचर्यारम्भत्याग-परिग्रहत्यागानुमत्यनुद्दिष्टाहारलक्षणैकादशप्रतिमाकृतनिवासः संयतासंयतपञ्चमगुणस्थानवर्ती भवति। तथाहि—

जो तसवहाउ विरदो अविरदओ तह य थावरवहाओ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥१४॥

अथ चतुर्थकषायसंज्वलनचतुष्कतीव्रोदयेन विरतप्रमत्ताख्यषष्ठगुणानुयायिनो भवति। तथाहि—प्रवृत्तव्यक्ताव्यक्तप्रमादोदयाः, भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गानुभवस्फुरितप्रभावाः, त्रस-स्थावररक्षण-लक्षणसकलचारित्रविराजमानाः, रूपस्थ-रूपातीतधर्मध्यानपरायणा एवंविधा विरत-प्रमत्ताख्याः। प्रमादाः कथ्यन्ते—

चतस्रो विकथा ज्ञेयाः कषाया हि चतुर्विधाः।
करणानि च पञ्चैव निद्रा स्नेहो प्रमादिनाम् ॥१५॥

इति श्लोककथितक्रमेण प्रमादाः पञ्चदश। तत्र व्यक्ताव्यक्तरूपाः षष्ठगुणवर्त्तिनो भवन्ति। उक्तं च—

होता है, उपशम, क्षमोपशम और क्षायिक इन तीनमेंसे किसी एक सम्यक्त्वसे विराजमान होता है, कौपीन (लंगोटी), कमण्डलु, भिक्षापात्र और एक पटमात्र वस्त्रका परिग्रह रखनेवाला उत्कृष्ट श्रावक होता है, तथा दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभक्त, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अननुमति और अनुद्दिष्ट आहारको ग्रहण करने रूप ग्यारह प्रतिमाओंमें निवास करनेवाला जाव संयतासंयत नामक पंचम गुणस्थानवर्ती होता है। जैसा कि कहा है—

जो त्रस जीवोंके वधसे विरत है, तथा स्थावर जीवोंके वधसे अविरत है, किन्तु जिन भगवान्‌में ही अपनी श्रद्धा-बुद्धि रखता है, वह एक समयमें एक साथ ही 'विरताविरत' कहलाता है ॥१४॥

अव छठे गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—चौथे संज्वलन कषायचतुष्कके तीव्र उदयसे जीव प्रमत्तविरत नामके छठे गुणस्थानके धारक होते हैं। उनके व्यक्त और अव्यक्त प्रमादका उदय रहता है, वे भेद और अभेदरूप रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गके अनुभवसे स्फुरायमान प्रभाववाले होते हैं, त्रस-स्थावर जीवोंके रक्षणस्वरूप सकलचारित्रसे विराजमान होते हैं, रूपस्थ और रूपातीत धर्मध्यानमें परायण होते हैं। इस प्रकारके स्वरूपवाले प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। अब प्रमाद कहते हैं—

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और राजकथा ये चार विकथाएं जाननी चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं, पांचों इन्द्रियां, निद्रा और स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद प्रमादी जीवोंके होते हैं ।।१५।।

इस श्लोकमें कहे गये क्रमसे पन्द्रह प्रमाद जानना चाहिए। इनमें कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त प्रमादवाले छठे गणस्थानवर्ती संयत होते हैं। कहा भी है—

वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥१६॥

अथाप्रमत्तगुणस्थानवर्तिनः संज्वलननोकषायमन्दोदयप्रवर्तिनः भवेयुरप्रमत्ताख्यानगुणस्थानं यदा तदा। बाह्ये पूर्वोक्तसम्यक्त्वत्रिविधैकतमपूर्वकसकलचारित्रनिरतिचारधारिणोऽन्तरङ्गे रूपातीतधर्मध्यानानुकोटिर्वर्त्तिनो निर्जितेन्द्रियविषय-तीव्रकषाया द्रव्यश्रुताभ्यासकौशल्याविष्कृतात्मोत्थस्वसंवेदनज्ञानानुभूतिशक्तयः, एवंविधाः अप्रमत्तसप्तमगुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति। (७)

अथ संज्वलन-नोकषायमन्दतरोदये सति अधःकरणप्रवृत्तौ आन्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा अपूर्वापूर्वपरिणामकरणादपूर्वकरणप्रवृत्तिलक्षणाष्टमगुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति। तथाहि—तत्रैके उपशम-

---

जो महाव्रती साधु के सकल मूलगुण शीलसे संयुक्त होता हुआ भी व्यक्त और अव्यक्त प्रमादमें निवास करता है, वह चित्रल आचरणवाला प्रमत्त संयत है ॥१६॥

विशेषार्थ—जिस प्रमादका स्वयंको स्पष्ट अनुभव हो, उसे व्यक्त प्रमाद कहते हैं और जिसका स्वयंको स्पष्ट अनुभव न हो वह अव्यक्त प्रमाद कहलाता है। चित्रल नाम चितकबरे हरिणका है। जैसे उसका स्वाभाविक सुनहरा रंग बीच-बीचमें काले धब्बोंसे युक्त होता है, उसी प्रकार महाव्रत आदिका पालन करते हुए भी बीच-बीचमें कभी किसी संज्वलन और नोकषायका तीव्र उदय हो जानेसे व्यक्त और कभी उसके मन्द उदयमें अव्यक्त प्रमाद रहता है, तथा कभी इन्द्रियोंके खान-पान आदि विषयोंमें एवं निद्रादिके समय व्यक्त प्रमाद पाया जाता है, इसलिए प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती साधुके आचरणको चित्रल आचरण कहा जाता है।

अब सप्तम अप्रमत्त विरत गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—जब संज्वलन और नोकषायोंका मन्द उदय प्रवर्तित होता है, तब संयत साधुजन अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती होते हैं। उस समय वे बाहिरसे तो निरतिचार सकलचारित्रके धारक होते हैं और अन्तरंगमें पूर्वोक्त तीन प्रकारके सम्यक्त्वमेंसे किसी एक सम्यक्त्वके धारक, रूपातीत धर्मध्यानकी उच्चकोटिके साधक, इन्द्रियोंके विषय और तीव्र संज्वलनकषायके विजेता, तथा द्रव्यश्रुतके अभ्यासकी कुशलतासे आविष्कृत आत्मोत्पन्न स्वसंवेदन ज्ञानानुभूतिकी शक्तिवाले होते हैं। इस प्रकारके स्वरूपवाले अप्रमत्तविरत नामक सप्तमगुणस्थानवर्ती साधु होते हैं। यहां यह विशेष ज्ञातव्य है कि छठे और सातवें गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है। अतः भावलिंगी साधुके सोते या जागते, बैठे या चलते और खाते-पीते सभी दशाओं में उनके दोनों गुणस्थानोंमें प्रवर्तन होता रहता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो उन्हें द्रव्यलिंगी चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती साधु जानना चाहिए। और यदि सम्यक्त्वका उनके अभाव है तो वे प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी साधु हैं।

अब आठवें गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—संज्वलन और नोकषायोंके मन्दतर (सातवें गुणस्थानकी अपेक्षा और भी अधिक मन्द) उदय होनेपर अधःकरण परिणामकी प्रवृत्तिमें अन्तर्मुहूर्त कालतक स्थित रह कर प्रति समय अपूर्व-अपूर्व विशुद्धिवाले परिणामोंके धारण करनेसे वे ही अप्रमत्त संयत अपूर्वकरण परिणामोंमें प्रवृत्तिस्वरूप अष्टम गुणस्थानवर्ती होते हैं।

इस गुणस्थानमें दो श्रेणी होती हैं—एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। जो तद्भव मोक्षगामी क्षायिक सम्यक्त्वी संयत हैं, वे चारित्र मोहनीयका क्षपण करनेके लिए क्षपक श्रेणीपर चढ़ते हैं। किन्तु जो चारित्रमोहनीयके उपशमन करनेके लिए उद्यत होते हैं, वे श्रेणीपर आरोहण करते हैं।

काः क्षपकाश्चान्ये चतुर्दशपूर्वधराः पृथक्त्ववितर्कवीचारास्वप्रथमपादशुक्लध्यानाभ्यासकौशल्याविर्भूतस्वात्मानुभूतिनिर्विकल्पसमाधिबलशिथिलीकृतघातिकर्माणः निकटीकृतानाद्यनन्तसंसारसागरपाराः, एवंविधाः अपूर्वकरणगुणस्थानवर्तिनः। उक्तं च—

अंतोमुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणंते।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समुल्लियइ ॥१७॥

अथ स एव सद्-दृष्टिः औपशमिकः क्षायिकश्चेति नव-नवक्षणेषु प्रथम-शुक्लध्यानप्रभावेणोपशमित-क्षपितघातिकर्मादिषट्त्रिंशत्-प्रकृतिश्च नवमगुणस्थानानिवृत्तकरणवर्ती भवति (९)। उक्तं च—

समए समए भिन्ना भावा तम्हा अपुव्वकरणो हु।
अणियट्टी वि तह च्चिय पडिसमयं एक्कपरिणामो ॥१८॥

स एव सम्यग्दृष्टिरौपशमिकभावः क्षायिकभावश्चेति सूक्ष्मलोभकषायोपशमन-क्षपणकरणोद्यतः तत्पूर्वोक्तशुक्लध्यानप्रथमपादप्रभावेण निर्विकारीकृतनिजात्मपरिणामकौसुम्भवस्त्रमिव सूक्ष्मरागपरिणतः एवंविधः सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानवर्ती भवति १०।

इस गुणस्थानमें कितने ही मोहकर्मके उपशामक होते हैं और कितने ही उसके क्षय करनेवाले क्षपक होते हैं। ये दोनों ही चतुर्दशपूर्वोंके ज्ञाता, शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथमपादके धारण करनेके अभ्यासकी कुशलतासे आविर्भूत निर्विकल्प समाधिके बलसे घातिकर्मों की शक्तिको शिथिल करनेवाले, तथा अनादि-अनन्त संसार-सागरके पारको निकट करनेवाले होते हैं। इस प्रकारके अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती संयत जानना चाहिए ८। कहा भी है—

अप्रमत्त संयत अन्तर्मुहूर्तकालतक अधःप्रवृत्तकरणको करके प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ अपूर्वकरण गुणस्थानको प्राप्त होता है ॥१७॥

इसके अनन्तर वही औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयत प्रत्येक नवीन-नवीन क्षणमें प्रथम शुक्लध्यानके प्रभावसे घातिकर्म आदिकी छत्तीस प्रकृतियोंको उपशमश्रेणीवाला उपशम करता हुआ और क्षपक श्रेणीवाला उनका क्षय करता हुआ अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानवर्ती होता है ९। कहा भी है—

यतः आठवें गुणस्थानवर्ती जीवके समय-समयमें अपूर्वता लिये हुए भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं, अतः उसे अपूर्वकरण संयत कहते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें भी इसी प्रकार (अपूर्वकरणके समान) ही प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणाम होते हैं। किन्तु उससे इस गुणस्थानमें विशेषता यह है कि एक समयवर्ती जीवोंके समान विशुद्धिवाला एक ही परिणाम होता है ॥१८॥

इसके पश्चात् औपशमिक भाववाला वही उपशमसम्यग्दृष्टि और क्षायिकभाववाला वही क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयत क्रमशः सूक्ष्मलोभकषायके उपशमन और क्षपण करनेमें उद्यत होता हुआ उसी पूर्वोक्त शुक्लध्यानके प्रथमपादके प्रभावसे निर्विकारीकृत निजात्मपरिणामी होकरके भी धुले हुए कुसुमली रंगके वस्त्रके समान सूक्ष्मरागसे परिणत होता हुआ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवाला होता है १०।

अथ पूर्वोक्त एव सद्-दृष्टिः सर्वमोहनीयकर्मोपशमप्रभावान्निर्मलतमभावानुभवोपलब्धप्रथम-शुक्लध्याननिजात्मशक्तिरित्येकादशोपशान्तमोहगुणस्थानवासी जीवो भवति ११।

अथानन्तरं एकत्ववितर्कवीचारनाम द्वितीयशुक्लध्यानपादेनान्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा निज-शुद्धात्मद्रव्ये शुद्धात्मगुणे वा शुद्धपर्याये वैतेषां मध्ये एकतमं द्रव्यं गुणं वा ध्यात्वा च क्षीणमोहः सन् दर्शनावरणषट्प्रकृतयः। ताः काः? निद्रा-प्रचले २ चक्षुर्दर्शनावरणीयमचक्षुर्दर्शनावरणीयमवधिः-दर्शनावरणीयं केवलदर्शनावरणीयमिति चतस्रः, इति षट्।

ज्ञानवरणकर्मणः पञ्च—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्ययज्ञानावरण-केवलज्ञानावरणानीति। अन्तरायकर्मणः पञ्च-दानान्तराय-लाभान्तराय-भोगन्तरायोपभोगन्त-राय-वीर्यान्तरायाख्याः। इति षोडशप्रकृतीनां क्षये क्षीणमोहः प्राप्तानन्तचतुष्टयः क्षीणकषायः द्वादशगुणस्थानवर्ती जिनो भवति १२।

अथानन्तरं तदन्ते सम्प्राप्तसकलविमलकेवलज्ञानः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातीति तृतीयशुक्लध्यान-परायणः चतुस्त्रिंशदतिशयाष्टप्रातिहार्यानन्तचतुष्टय नाम षट्चत्वारिंशद्-गुणैर्विराजमानो धरणेन्द्र-चक्रवर्त्ति-सुरेन्द्र-त्रिलोकेशादिकृतसमवशरणादिकेवलज्ञानपूजाः किञ्चिद्न्यून कोटिपूर्वप्रमाण-

---

इसके पश्चात् औपशमिक भाववाला उपशम श्रेणीका आरोहक वही सम्यग्दृष्टि संयत सर्व-मोहनीय कर्मके उपशम कर देनेके प्रभावसे निर्मलतम भावोंके अनुभवसे उपलब्ध एवं प्रथम शुक्ल-ध्यानसे अपनी आत्मिकशक्तिको प्राप्त करनेवाला (सूक्ष्म लोभका उपशम करके उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है ११।

क्षपक श्रेणीका आरोहक क्षपक दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्म लोभका क्षय करनेके अनन्तर एकत्ववितर्क-अवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यानके पादके साथ अन्तर्मुहूर्तकालतक बारहवें गुणस्थान-में रहकर अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें, अथवा शुद्ध-आत्मगुणमें, अथवा शुद्ध पर्यायमें, इनमेंसे किसी एक के मध्यमें किसी एक द्रव्य, गुण या पर्यायको ध्याता हुआ क्षीणमोही बनकर सोलह प्रकृतियोंका क्षयकर तदनन्तर समयमें अनन्तचतुष्टयका धारण करनेवाला क्षीणकपाय नामक बारहवें गुणस्थान-वर्ती जिन होता है १२।

प्रश्न—वे सोलह प्रकृतियाँ कौन सी हैं ?

उत्तर—दर्शनावरणीयकर्मकी छह प्रकृतियाँ—१ निद्रा, २ प्रचला, ३ चक्षुदर्शनावरण, ४ अचक्षुदर्शनावरण, ५ अवधिदर्शनावरण, ६ केवलदर्शनावरण, ज्ञानावरणीयकर्मकी पांच प्रकृतियां—१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनःपर्ययज्ञानावरण, ५ केवल ज्ञानावरण, तथा अन्तरायकर्मकी पाँच प्रकृतियाँ—१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय। ये सब मिलकर (६ + ५ + ५ = १६) सोलह प्रकृतियाँ होती हैं। इनमेसे क्षीणमोही जीव बारहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें पहिले निद्रा और प्रचलाका क्षय करता है और अन्तिम समयमें शेष चौदह प्रकृतियोका क्षय करता है।

उक्त प्रकृतियोंका क्षय करनेके अन्तमें सम्पूर्ण विमल केवलज्ञानको प्राप्त हो, सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाती नामके तीसरे शुक्लध्यानमें परायण, चौंतीस अतिशय, आठ प्रतिहार्य और अनन्तचतुष्टय, इन छयालीस गुणोंसे विराजमान, धरणेन्द्र चक्रवर्ती और सुरेन्द्र इन तीनों लोकोंके

स्थितिको भव्यजनपुण्यप्रेरितगमनो लोकालोक-प्रकाशनभास्करः सयोगिकेवलिजिनस्त्रयोदश-गुणस्थानवर्ती भवति १३ । उक्तं च—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियाण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरप्पववएसो ॥१९॥

अथानन्तरं लघुपञ्चाक्षरस्थितिकोऽयोगिकेवली चतुर्दशगुणस्थानवर्ती भवति । तथाहि—व्युपरतक्रियानिवृत्त्याख्यशुक्लध्यानचतुर्थपादाम्बुपूरप्रक्षालिताशेषाघातिकर्ममलकलङ्को द्विचरमान्त्यसमये द्विसप्ततिप्रकृतीनां क्षयं अन्त्यसमये त्रयोदशप्रकृतीनां च क्षयं कृत्वा सम्यक्त्वाद्यष्ट-गुणालङ्कृतो द्रव्यकर्म-भावकर्माञ्जनरहितोऽवगतस्वभावः परमात्मा सिद्धोऽशरीरी ज्ञानमात्रः किञ्चिदूनचरमशरीराकारासंख्यातप्रदेशो लोकाग्रनिवासी समयैकानन्तरमेवंविधो निष्कलः सिद्धो भवति १४। इति चतुर्दशगुणस्थानात्मकश्चतुर्दशविधो धर्मः स्यात् ।

एवं पूर्वोक्तविकथा-कषायेन्द्रिय-निद्रा-स्नेहाख्यपञ्चदशधा प्रमादपरित्यागरूपः पञ्चदशधा धर्मो भवति १५ ।

षोडशकारणभावनात्मकः षोडशप्रकारो धर्मः । तद्यथा—पञ्चविंशतिदोषातीतात्यन्त-गृहीतात्मशक्तिदर्शनविशुद्धिः १ । दर्शनज्ञानचारित्र-तदाराधकविनयोपयुक्ता विनयसम्पन्नता २ ।

स्वामियोंके द्वारा सेवित, समवशरण आदि केवल ज्ञान-पूजाको प्राप्त, कुछ कम कोटि पूर्ववर्ष-प्रमाण स्थितिके धारक, भव्यजनोंके पुण्यसे प्रेरित गमनवाले, लोक और अलोकको प्रकाशन करनेके लिए सूर्य-समान सयोगिकेवली जिन तेरहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं १३ । कहा भी है—

केवलज्ञानरूपी दिवाकर (सूर्य) की किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकारके नाश करने वाले, क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य' इन नौ केवललब्धियोंके प्रकट होनेसे जिनको 'परमात्मा' यह संज्ञा प्राप्त हुई है, ऐसे सयोगी जिन होते हैं ॥१९॥

इसके अनन्तर 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पांच लघु अक्षरोंके उच्चारण कालप्रमाण स्थितिके धारक चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली जिन होते हैं। वे व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्ल-ध्यानके चतुर्थ पादरूप जलके प्रवाहसे समस्त अघातिया कर्म-मल-कलंकको प्रक्षालन करते हुए द्विचरम समयके अन्तमें बहत्तर प्रकृतियोंका क्षय करके और अन्तिम समयमें तेरह प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे अलंकृत, द्रव्यकर्म, भावकर्मरूप अंजनसे रहित, शुद्ध आत्म-स्वभावको प्राप्त, औदारिकादि शरीरोंसे रहित अशरीरी, किन्तु ज्ञानरूप शरीरके धारक, चरमशरीरसे कुछ कम आकारवाले असंख्यातप्रदेशी और लोकाग्रनिवासी एक समयके अनन्तर ही इस प्रकारके निष्कल सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं १४।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानरूप चौदह प्रकारका धर्म होता है ।

इसी प्रकार पूर्वोक्त चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रियां, निन्द्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रकारके प्रमादोंके त्यागरूप पन्द्रह प्रकारका धर्म होता है १५ ।

तीर्थंकर प्रकृतिकी बन्ध करानेवाली सोलहकारण भावनाओंके भाने-स्वरूप सोलह प्रकार-का धर्म होता है। इनका विवरण इस प्रकार है—पूर्वोक्त पच्चीस दोषोंसे रहित होनेसे अत्यन्त विशुद्ध आत्मशक्तिकी प्राप्ति होना दर्शनविशुद्धि नामक प्रथम भावना है १ । दर्शन, ज्ञान, चारित्र

त्रीणि गुणव्रतानि चत्वारि शिक्षाव्रतानीति शीलसप्तकं तथा सागारापेक्षया स्वदाराभक्त-परदारापराङ्मुखरूपं द्विविधं शीलमित्यादिगृहीत-(व्रत-)परिपालनं शीलमुच्यते। एवंविधशीलव्रतेष्वनतिचारता तृतीया भावना ३। श्रीसर्वज्ञवीतरागोक्तद्रव्यश्रुतावलम्बोत्पन्नस्वसंवेदनज्ञानं भावश्रुतं द्रव्यश्रुतं वा, पुनः पुनश्चिन्तनमभीक्ष्णज्ञानं तस्मिन्नुपयोगोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगश्चतुर्थभावना ४। जिनोक्तनिश्चय-व्यवहारूपे धर्मे धर्मफले वाऽनुरागः प्रीतिर्वा संवेग एवं पञ्चमी भावना ५। आत्मशक्त्यनुसारेण आहारौषधशास्त्राभयदानादिचतुर्विधं दानं दीयते यस्यां सा षष्ठी दानभावना ६। तथैव बाह्याभ्यन्तररूपं तपस्तप्यते यत्र सा तपोभावना सप्तमी ७। सर्वज्ञोक्तनयविभागेन क्रमेण भेदाभेदरत्नत्रयोपलब्धिभावना भवान्तर प्रापणरूपा समाधिः साधु उत्तमः समाधिः साधुसमाधिरष्टमभावना ८। पूर्वोक्ताचार्योपाध्यायादिदशप्रकारवैयावृत्यकरणस्वरूपा नवमभावना ९। अर्हतां सर्वज्ञानां केवलज्ञानाद्यनन्तगुणेषु सम्यग्मनोवचनकायैरनुष्ठान-स्मरणरूपा भक्तिरर्हद्-भक्तिः दशमी भावना १०। सम्यग्दर्शनाचार-सम्यग्ज्ञानाचार-सम्यक्चारित्राचार-सम्यक्तपश्चरणाचार-वीर्याचाराख्यान् व्यवहार-निश्चयरूपान् स्वयमाचरन्त्यन्यभव्यजनशिष्यान् आचारयन्त्याचार्यास्तेष्वाचार्येषु भक्तिराचार्य-भक्तिरेकादशभावना ११। सर्वज्ञोक्तागमाध्यात्म-

---

और इनके आराधकोंके प्रति विनयसे उपयुक्त रहना दूसरी विनयसम्पन्नता भावना है २। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन सातको शील कहते हैं। तथा गृहस्थकी अपेक्षा स्वदार-सेवन और परदार-पराङ्मुखरूप दो प्रकारके व्रतको भी शील कहते हैं। तथा धारण किये हुए अणुव्रत-महाव्रतोंके भलीभांतिसे निरतिचार परिपालनको भी शील कहा जाता है। इस प्रकारके शील-व्रतोंको अतिचार-रहित पालना तीसरी भावना है ३। श्री सर्वज्ञवीतराग-प्ररूपित द्रव्यश्रुतके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए स्वसंवेदन ज्ञानरूप भावश्रुतको, अथवा द्रव्यश्रुतको पुनः-पुनः (वारंवार) चिन्तन करना अभीक्ष्ण ज्ञान कहलाता है, उसमें निरन्तर अपना उपयोग लगाये रहना अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग नामकी चौथी भावना है ४। जिन-भाषित निश्चय और व्यवहाररूप धर्ममें तथा धर्मके फलमें अनुराग रखना, प्रीति करना (अथवा संसारसे निरन्तर भयभीत रहना) संवेग नामकी पांचवीं संवेगभावना है ५। अपनी शक्तिके अनुसार आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान आदि चार प्रकारके दानोंका देते रहना, यह छठी दान भावना है। (दानको देनेमें अपने धनके लोभका त्याग करना पड़ता है, अतः इसे अन्य ग्रंथोंमें त्याग भावना कहा है।) पूर्वोक्त बाह्य और अभ्यन्तर तपोंका तपना सो सातवीं तपोभावना है ७। सर्वज्ञोक्त नय-विभागके क्रमसे भेदाभेदरूप रत्नत्रय-प्राप्तिकी भावना करना, तथा भवान्तर स्वर्ग-मोक्षके प्राप्त करानेवाली चित्त-शान्ति रखना समाधि कहलाती है। साधु अर्थात् उत्तम समाधिको साधुसमाधि कहते हैं। यह आठवीं भावना है ८। पूर्वोक्त आचार्य, उपाध्याय आदि दश प्रकारके साधुओंकी वैयावृत्य करना नवमी भावना है ९। अर्हन्त सर्वज्ञदेवोंकी केवल ज्ञान आदि अनन्तगुणोंमें सम्यक् मन वचन कायके द्वारा पूजा-पाठरूप अनुष्ठान करना, उनके गुणोंके स्मरणरूप भक्ति रखना अर्हद्-भक्ति नामकी दशवीं भावना है १०। सम्यग्दर्शनाचार, सम्यग्ज्ञानाचार, सम्यक्चारित्राचार, सम्यक्तपश्चरणाचार और सम्यक् वीर्याचार नामक निश्चय–व्यवहाररूप पंच आचारोंका जो स्वयं आचरण करते हैं, तथा अन्य भव्यजनों और शिष्योंको आचरण कराते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। उन आचार्योंमें भक्ति रखना सो आचार्य-भक्ति नामकी ग्यारहवीं भावना है ११। सर्वज्ञोक्त आगमों और अध्यात्म शास्त्रोंके ज्ञाता उपाध्याय 'बहुश्रुत' कहलाते हैं। उनमें निष्कपट भावसे भक्ति रखना

शास्त्रज्ञा बहुश्रुतास्तेषु निष्कपटभावभक्तिः बहुश्रुतभक्तिः द्वादश भावना १२। जिनोक्तद्रव्यश्रुत-प्रतीतिरूपा भक्तिः प्रवचनभक्तिस्त्रयोदश भावना १३। सर्वज्ञोक्तसमतास्तुति-वन्दना-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानकायोत्सर्गलक्षणषडावश्यकेषु निरतिचारता या सा आवश्यकापरिहाणिरूपा चतुर्दश भावना १४। जिनेन्द्रोक्तनिश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गं स्वयमाचरन् सन् भव्यजनानामग्रे प्रकाशयतीति मार्गप्रभावना पञ्चदशका १५। सर्वज्ञानां प्रकर्षं वचनं प्रवचनं तस्मिन् वात्सल्यरूपा प्रवचनवत्सलत्वं षोडश भावना १६। इति श्रीतीर्थंकरनामगोत्रसमवशरणादिविभूतिषोडशकारण-भावनात्मकः षोडशविधो धर्मः।

इत्यादिजिनोक्तधर्मस्य बहवो भेदाः संख्यातासंख्याताश्च भवन्ति। अत्र भावनाग्रन्थे ग्रन्थभूयस्त्वभयादस्माभिर्नोच्यते। इत्येवंविधस्य धर्मस्य प्रवर्तनार्थं भव्यजनप्रबोधनार्थं च। (के भव्याः ?) ते भव्याः कथ्यन्ते येषां भाविकाले रत्नत्रयं प्रकटीभविष्यति ते भव्याः। येषां तु कालान्तरेऽपि केवलज्ञानं व्यक्तं न भविष्यति ते अभव्याः। केचनाभव्यसमाना भव्याः, एके दूर-भव्याः केचनाऽऽसन्नभव्याः। इति भव्यत्वलक्षणम् ॥२॥

अथ कतिपयविधं तत्त्वमिति प्रश्ने सति भट्टारकश्रीदेवसेनदेवा आहुः—

बहुश्रुतभक्ति नामकी बारहवीं भावना है १२। जिन-भाषित द्रव्यश्रुतकी प्रतीतिरूप श्रद्धा रखना, उसके अभ्यासमें प्रीति एवं भक्ति रखना सो प्रवचनभक्ति नामकी तेरहवीं भावना है १३। सर्वज्ञ-प्ररूपित समता, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग लक्षणवाले छह आवश्यकोंमें निरतिचारितारूप जो प्रवृत्ति है, वह आवश्यकापरिहाणिरूप चौदहवीं भावना है १४। जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे गये निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गका स्वयं आचरण करते हुए भव्य-जनोंके आगे उसे प्रकाशित करना सो मार्गप्रभावना नामकी पन्द्रहवीं भावना है १५। सर्वज्ञदेवों-के प्रकृष्ट वचनोंको प्रवचन कहते हैं, उस प्रवचनमें वात्सल्य रखना सो प्रवचनवत्सलत्व नामकी सोलहवीं भावना है १६।

इस प्रकार श्रीतीर्थंकर-नामगोत्रकी और समवशरणादि विभूतिकी कारणरूप सोलह कारणभावनात्मक सोलह प्रकारका धर्म है।

इत्यादि प्रकारसे जिनोक्त धर्मके बहुत भेद हैं जो कि विस्ताररूपमें संख्यात और असं-ख्यात होते हैं। किन्तु इस भावनाग्रन्थमें ग्रथ-विस्तारके भयसे हम (टीकाकार) नहीं कहते हैं। इस उक्त प्रकारके धर्मके प्रवर्तन करनेके लिए तथा भव्यजनोंके प्रबोधके लिए भी देवसेनाचार्य इस तत्त्वसारकी रचना कर रहे हैं।

प्रश्न—कौन जीव भव्य कहलाते हैं ?

उत्तर—जिन जीवोंके भविष्यकालमें रत्नत्रय धर्म प्रकट होगा, वे जीव भव्य कहलाते हैं।

किन्तु जिन जीवोंके कालान्तरमें भी केवलज्ञान प्रकट नहीं होगा; वे जीव अभव्य कहे जाते हैं। कितने ही अभव्यके समान भव्य होते हैं, कितने ही जीव दूरभव्य होते हैं और कितने ही आसन्न (निकट) भव्य होते हैं। इस प्रकारसे भव्य और अभव्यका स्वरूप जानना चाहिए ॥२॥

वह तत्त्व कितने प्रकारका है ? यह प्रश्न होनेपर भट्टारक श्रीदेवसेनदेव उत्तर देते हैं—

मूलगाथा— एगं सगयं तच्चं अण्णं तह परगयं पुणो भणियं ।
सगयं णिय-अप्पाणं इयरं पंचावि परमेट्ठी ।।३।।

संस्कृतच्छाया—एकं स्वगतं तत्त्वं अन्यं परगतं पुनः भणितम् ।
स्वगतं निजात्मा इतरत् पञ्चापि परमेष्ठिनः ।।३।।

टीका—तत्त्वमिदं भणितं प्रोक्तम् । कैः, पूर्वाचार्यैः सर्वज्ञश्रीवीतरागदेवैर्वा । तत्रैकं स्वगतं निजात्मगतं तत्त्वमुच्यते । तथैव परं गतं तत्त्वं परद्रव्यगतं तत्त्वात् । स्वगतं हि वस्तुतया कर्ममल-कलङ्कभावोद्भवसङ्कल्प-विकल्पभावरहितो निजात्मैव तत्त्वम् । इतरच्च परगततत्त्वं पञ्चविधम् । तथाहि—षट्चत्वारिंशद्-गुणलक्षणलक्षितोऽर्हन् केवलज्ञानभास्करः सर्वज्ञो वीतरागः सकलदेवः । सम्यक्त्वाद्यष्टगुणमूर्तिः सिद्धात्मा निष्कलः परब्रह्म परमात्मा सिद्धः । पञ्चाचारादिषट्त्रिंशद्-गुणविराजमान आचार्यः । एकादशाङ्ग-चतुर्दशपूर्वाणीति पञ्चविंशतिगुणस्वभावाविर्भूत उपाध्यायः । निश्चय-व्यवहाररत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गं जिनोक्तयुक्त्या ये साधयन्ति ते साधवः । परा उत्कृष्टा मा केवलज्ञानादिर्लक्ष्मीर्यत्र पदे तत्परमं तस्मिन् परमे पदे तिष्ठन्तीति परमेष्ठिनः । पञ्चैव परगततत्त्वमुक्तमिति तत्त्वलक्षणं ज्ञात्वा नयविभागेन दुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं वा आसन्नभव्यैरुपादेयबुद्ध्या तत्त्वं चिन्तनीयं भृशमिति भावार्थः ।।३।।

भा० व०—एक तो स्वगत कहिए निजात्मा ही तत्त्व है। अर अन्य दूसरा परगत तत्त्व है। तहां स्वगत तत्त्व तो निजात्मा है। अर अन्य दूसरा तत्त्व पंच परमेष्ठी है ।।३।।

अन्वयार्थ—(एगं) एक (सगयं) स्वगत (तच्चं) स्वतत्त्व है। (तह) तथा (पुणो) फिर (अण्णं) दूसरा (परगयं) परतत्त्व (भणिय) कहा गया है। (सगयं) स्वगत तत्त्व (णिय) निज (अप्पाणं) आत्मा है। (इयरं) दूसरा परगततत्त्व (पंचावि परमेट्ठी) पांचों ही परमेष्ठी हैं ।।३।।

टीकार्थ—सर्वज्ञ श्रीवीतरागदेवोंने और उनके पश्चात् पूर्वाचार्योंने तत्त्व दो प्रकारका कहा है—एक स्वगततत्त्व और दूसरा परगततत्त्व। स्वगततत्त्वका अर्थ है—अपना आतमगततत्त्व। परगततत्त्वका अर्थ है परद्रव्यगततत्त्व। वास्तविक दृष्टिसे कर्म-मल-कलंक-जनित भावोंसे उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पोंसे रहित निज आत्मा ही स्वतत्त्व है। दूसरा जो परगत है, वह पंचपरमेष्ठीके रूपसे पांच प्रकारका है। उनमें छयालीस गुणरूप लक्षणसे लक्षित, केवलज्ञान भास्कर, सर्वज्ञ वीतराग, सकल परमात्मा अर्हन्तदेव प्रथम परमेष्ठी हैं। सम्यक्त्व आदि अष्टगुणरूप मूर्त्तिके धारक, सिद्धात्मा निष्कल, परमब्रह्म, परमात्मा सिद्ध भगवन्त दूसरे परमेष्ठी हैं, पंचआचारादि छत्तीस गुणोंसे विराजमान आचार्य तीसरे परमेष्ठी हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप पच्चीस गुणरूप स्वभावके धारक उपाध्याय चौथे परमेष्ठी हैं। जो जिनोक्त निश्चय और व्यवहाररत्न-त्रयात्मक मोक्षमार्गको जिन-प्ररूपित युक्तिके साथ साधन करते हैं वे साधुजन पांचवें परमेष्ठी हैं।

प्रश्न—परमेष्ठी किसे कहते हैं ?

उत्तर—पर अर्थात् उत्कृष्ट, मा अर्थात् केवलज्ञानादि लक्ष्मी जिस पदमें पाई जावे, उसे 'परम' कहते हैं। उस 'परम' पदमें जो रहते हैं वे परमेष्ठी कहलाते हैं।

उक्त स्वरूपवाले पांचों ही परमेष्ठी परगत तत्त्व कहे गये हैं। इस प्रकार नय विभागसे तत्त्वका स्वरूप जानकर अर्थात् निश्चयनयसे निज शुद्ध आत्मा ही 'तत्त्व' है और व्यवहारनयसे

अथ हे भगवन्, तेषां पञ्चपरमेष्ठिनां तत्त्वचिन्तनात् किं फलं भवतीति पृष्टे परिहारमाह—

मूलगाथा—तेसिं अक्खररूवं भवियमणुस्साण झायमाणाणं ।
बज्झइ पुण्णं बहुसो परंपराए हवे मोक्खो ।।४।।

संस्कृतच्छाया—तेषां अक्षररूपं भव्यमनुष्याणां ध्यायमानानाम् ।
बध्यते पुण्यं बहुशः परम्परया भवेन्मोक्षः ।।४।।

टीका—इत्यस्या गाथायाः अवतारिका। तेषां पञ्चानामर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यासाधूनां परमेष्ठिवाचकानामक्षरात्मकं बीजाक्षरं पदस्थध्यानवाचकं मन्त्ररूपं ध्यायमानानां मनुष्याणां भव्यात्मनां तत्पुण्यं बध्यते बहुशो बहुप्रकारं येन पुण्येन परम्परया मोक्षो भवेत्। तथाहि—स मोक्षो द्विविधः–भावमोक्षो द्रव्यमोक्षश्चेति। तत्र निर्विकार-निर्विकल्प-निरञ्जनः शुद्ध-बुद्धस्वात्मो-

---

भा० व०—तेषां कहिए तिनि अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधू पंच परमेष्ठीनिके वाचक अक्षरात्मक बीजाक्षर पदस्थ ध्यान वाचक मंत्ररूप ध्यान करता जे भव्य मनुष्य तिनिकै बहुत पुण्य जो है सो बंधै है, अर परंपरा करि मोक्ष होय है ।।४।।

आगैं स्वगततत्त्वकूं कहै हैं—

पंचपरमेष्ठी 'तत्त्व' हैं ऐसा निर्णय कर आर्त्त-रौद्ररूप दुर्ध्यानसे बचनेके लिए और संसारकी स्थितिको छेदनेके लिए निकट भव्य जीवोंको उपादेयबुद्धिसे तत्त्वका वारंवार चिन्तवन करना चाहिए, यह गाथाका भावार्थ है ।।३।।

अब, हे भगवन् ! उन पंच परमेष्ठियोंके तत्त्व चिन्तवन करनेसे क्या फल होता है ? ऐसा पूछनेपर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(तेसिं) उन पंच परमेष्ठियोंके (अक्खररूवं) वाचक अक्षररूप मंत्रोंको (झायमाणाणं) ध्यान करनेवाले (भवियमणुस्साण) भव्यजनोंके (बहुसो) बहुत-सा (पुण्णं) पुण्य (बज्झइ) बंधता है। (परंपराए) और परम्परासे (मोक्खो) मोक्ष (हवे) प्राप्त होता है ।।४।।

टीकार्थ—इस गाथाकी अवतारिका (उत्थानिका) ऊपर कही गई है। उन अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियों वाचक अक्षरात्मक बीजाक्षरोंका एवं पदस्थ-ध्यानके वाचक मंत्ररूप अक्षरोंका ध्यान करनेवाले भव्यात्मा मनुष्योंके वह बहुत प्रकारका पुण्यबन्ध होता है, जिस पुण्यके द्वारा परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वह मोक्ष दो प्रकारका है--भाव-मोक्ष और द्रव्यमोक्ष। उनमें निर्विकार, निर्विकल्प, निरंजन, शुद्ध, बुद्ध अपने आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होना भावमोक्ष है। सभी द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मोंके सर्वथा क्षयसे आत्माका

पलब्धिलक्षणो भावमोक्षः। द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मणां सर्वेषां सामस्त्येन क्षयात् केवलज्ञानाद्यनन्तगुणप्राप्तेश्च द्रव्यमोक्षः। इत्येवं द्विविधस्य मोक्षस्य यतः प्राप्तिः स्यात्ततः पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपचिन्तनं तज्ज्ञैर्भव्यजनैर्निरन्तरं कार्यमिति भावार्थः ।।४।

मुक्त होना द्रव्यमोक्ष है। यह मोक्ष केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंकी प्राप्तिरूप है। इस प्रकार दो भेदरूप मोक्षकी प्राप्ति जिनसे होती है, उन पंचपरमेष्ठियोके स्वरूपका चिन्तन ज्ञानी भव्यजनोंको निरन्तर करना चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ।।४।।

विशेषार्थ—आत्मध्यानके अभ्यास करनेवाले भव्यजीवोंको सर्वप्रथम पंच परमेष्ठीके वाचक अक्षरोंका, बीजाक्षरोंका और मंत्राक्षरोंका जप करना आवश्यक है। पंचपरमेष्ठीके नमस्कारात्मक 'णमोकार' मंत्र पैंतीस अक्षरवाला है। 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' यह सोलह अक्षरवाला मंत्र है। 'अरिहन्त सिद्ध' यह छह अक्षरवाला मंत्र है। 'अ सि आ उ सा' यह पंच अक्षरवाला मंत्र है। 'अरहंत' यह चार अक्षरवाला मंत्र है। 'अर्हन् या सिद्ध' यह दो अक्षरी मंत्र है। तथा 'ओं' यह एकाक्षरी मंत्र है। इनके अतिरिक्त 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः', ॐ ह्रीं अर्हं असि आउसा नमः' आदि इसी प्रकारके विभिन्न अक्षरोंसे निर्मित अनेक प्रकारके मंत्र गुरुजनोंके उपदेशसे जानना चाहिए। अनेक अक्षरोंके संयोगसे बननेवाले मंत्रको बीज मंत्र कहते हैं। जैसे पंच परमेष्ठीके आदि अक्षर अरहंतका 'अ' अशरीरी सिद्धका 'अ' आचार्यका 'आ' उपाध्यायका 'उ' और मुनिका 'म्' इन अ + अ + आ + उ + म् = का व्याकरणके नियमसे संयोग करनेपर 'ओम्' या 'ओं' बीजमंत्र वन जाता है। इसी प्रकार 'ह्रीं' बीजाक्षरी मंत्र चौबीस तीर्थंकरोंका वाचक है।

अभ्यासी व्यक्तिको सर्वप्रथम एकाक्षरी मंत्रका १०८ वार हृदयकमलके आठ पत्रों और मध्यवर्ती कर्णिकाके आधारपर जाप प्रारम्भ करना चाहिए। जब इसकी साधना विना चित्त-चंचलताके सिद्ध हो जाय, तब दो अक्षरी मंत्रका जाप प्रारम्भ करे। इस प्रकार साधना करते हुए चार, पांच, छह आदि अक्षरोंके मंत्रोंके जापकी साधना करनी चाहिए। मंत्र-जापकी विधि यह है कि अति मन्दस्वरमें मंत्रका उच्चारण इस प्रकार करे कि उसकी ध्वनि अपने कानसे ही सुनाई पड़े, किन्तु दूसरेको सुननेमें न आवे। इस प्रकारसे जप-सिद्धि हो जानेपर उन्हीं मंत्रोंका 'मस्तकपर, भौंहोंके बीचमें, नासाके अग्र भागपर, कंठके मध्यमें, हृदय और नाभि आदि स्थानोंपर मनको केन्द्रित करके ध्यान करना चाहिए। जपमें मन्दस्वरसे उच्चारण करते हुए ओष्ठ कम्पित होते हैं। किन्तु ध्यानमें मनके भीतर ही मंत्रोंका मौन रूपमें उच्चारण होता है। मंत्र-जापसे ही लाखों गुणा पुण्यसंचय होता है। तथा मंत्र-जापसे मंत्र-ध्यानमें करोड़ों गुणा अधिक पुण्य-संचय होनेके साथ अशुभ कर्मोंकी असंख्यात गुणी निर्जरा भी होती है। ग्रन्थकर्ता श्री देवसेनाचार्य कहते हैं कि उक्त प्रकारसे परमेष्ठी-वाचक अक्षरोंके जप और ध्यानसे बहुत प्रकारके सातिशय पुण्यका बन्ध होता है और उससे परम्परा मोक्ष भी प्राप्त होता है।

अब 'स्वगत तत्त्वका लक्षण क्या है, और उसकी क्या विशेषता है? इस प्रकारका प्रश्न होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं—

अथ ननु किं विशिष्टं स्वगततत्त्वलक्षणमित्याह—

मूलगाथा— जं पुणु सगयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं ।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं ॥५॥

संस्कृतच्छाया—यत्पुनः स्वगतं तत्त्वं सविकल्पकं भवति तथा च अविकल्पम् ।
सविकल्पं सास्रवकं निरास्रवं विगतसङ्कल्पम् ॥५॥

टीका—यत्पुनः स्वगतं तत्त्वं इत्यवतारिका। जं पुणु इत्यादिपदखण्डनारूपेण वृत्तिकर्त्राऽऽचार्यश्रीकमलकीर्तिना व्याख्यानं क्रियते—यत्पुनः स्वगतं स्वात्मगतं निजात्मलीनं तत्त्वं तद् द्विविधं–सविकल्पकं भवति निर्विकल्पकं च । तथाहि—चतुर्थगुणस्थानवर्तिजघन्याराधकादितारतम्येन यावत् सूक्ष्मसाम्परायकषायान्तरे(?)सति तावत् सविकल्पं हि स्वात्मतत्त्वं भवति । तथैव साक्षात् क्षीणकषाये द्वादशगुणे निर्विकल्पं स्वगततत्त्वं भवति । सविकल्पं हि यतः कर्मास्रवकारणत्वात् सास्रवं विज्ञेयम् । निरास्रवं तत्त्वं तु मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाख्यात् आस्रवान्निर्गतं आस्रवेभ्यो यत्तत् निरास्रवतत्त्वम् । यतो वा विगता विनष्टा सङ्कल्पा रागादिरूपास्तद्विगतसङ्कल्पं ततो निरास्रवम् । निरास्रवे सति संवरो भवति, संवरे सति कृतकर्मणां उदयरूपेण गलनं निर्जरा, निर्जरायां सत्यां मोक्षो भवतीति ज्ञात्वा तत्त्वविद्भिः पुरुषैः निरास्रवं निजात्मतत्त्वं निरन्तरं तं भावनीयमिति ॥५॥

भा० व०—बहुरि जो स्वगत तत्त्व है सो सविकल्प होय है, तैसैं ही अविकल्प है। सविकल्प है सो तो आश्रव सहित है, अर संकल्प-रहित है सो निराश्रव है आश्रव-रहित है ॥५॥

आगैं अविकल्प तत्त्व कहैं हैं—

अन्वयार्थ—(पुणु) पुनः (जं) जो (सगयं तच्चं) स्वगत तत्त्व है वह (सवियप्पं) सविकल्प (तह य) तथा (अवियप्पं) अविकल्प रूपसे दो प्रकारका (हवइ) है। (सवियप्पं) सविकल्प स्वतत्व (सासवयं) आस्रव-सहित है। और (विगयसंकप्पं) संकल्प-रहित निर्विकल्प स्वतत्त्व (णिरासवं) आस्रव-रहित है।

टीकार्थ—स्वगत तत्त्वको कहनेके लिए इस गाथाका अवतार हुआ है। टीकाकार आचार्य श्री कमलकीर्ति अब इसका व्याख्यान करते हैं—जो स्वगत अर्थात् स्वात्मगत या निज आत्म-लीन तत्त्व है, वह दो प्रकारका है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। इनमेंसे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य आराधकको आदि लेकर तारतम्यके क्रमसे सूक्ष्मसाम्पराय कषाय नामक दशम गुणस्थानके अन्त होनेतक सविकल्पक ही स्वात्मतत्त्व होता है। उसी प्रकार क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें साक्षात् निर्विकल्पक स्वगततत्त्व होता है। यतः सविकल्पक स्वगत तत्त्व कर्मोंके आस्रवका कारण है, अतः उसे सास्रव जानना चाहिए। किन्तु निरास्रव तत्त्व मिथ्यात्व, अविरति, कषाय (प्रमाद) और योग नामक आस्रवसे निर्गत अर्थात् सभी कर्मास्रवके कारणोंसे रहित है, अतः वह निरास्रव तत्त्व है। अथवा रागादिरूप सभी प्रकारके संकल्प-विकल्प यतः बारहवें गुणस्थानमें विगत या विनष्ट हो जाते हैं, अतः वह निर्विकल्प स्वगत तत्त्व विगत-संकल्प एवं निरास्रव है। निरास्रव अर्थात् कर्मोंका आस्रव रुकनेपर संवर होता है और संवर होनेपर उपार्जित कर्मोंकी उदयरूपसे गल-गल कर निर्जरा होती है। और निर्जराके होनेपर मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा जानकर तत्त्वोंके जानकार पुरुषोंको निरास्रव जो निज-आत्मतत्त्व है, उसकी निरन्तर भावना करनी चाहिए ॥५॥

अथाहोस्विद् विगतसङ्कल्पे सति किमग्रे भवतीत्याह—

मूलगाथा—इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया।
तइया तं अवियप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु ॥६॥

**संस्कृतच्छाया—इन्द्रियविषयविरामे मनसो निर्मूलनं भवेद्यदा।
तदा तदविकल्पं स्वस्वरूप आत्मनस्तत्तु ॥६॥**

टीका—इत्यवतारिकां कृत्वा वृत्तिकर्ताऽहं विवृणोमि। तथाहि—'जइया' यदा 'इंदिय-विसयविरामो' स्पर्शनेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय-घ्राणेन्द्रिय-चक्षुरिन्द्रिय- श्रोत्रेन्द्रियाणामिति पञ्चेन्द्रियाणां सप्तविंशतिविषयेभ्यो विरमणं विरक्तिरिन्द्रियविरामस्तस्मिन् इन्द्रियविषयविरामे सति मणस्स मनसः णिल्लूरणं मनोविकल्पं रूपं तस्य मनसो निर्लूरणं छेदनं त्रोटनं उत्पाटनं निर्मूलनमित्येकार्थः। हवे भवेत्, तइया तदा, 'तं अवियप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु' तत् तत्त्वं अविकल्पं निर्विकल्पा(?) [निर्गता विकल्पा] अस्मिन्निति अविकल्पं, निर्विकल्पः सन् आत्मनः स्वस्वरूपे लीनं तन्मयं भवतीति क्रियाध्याहारः क्रियते। 'तं तु' तत्तत्त्वं तु पुनरिति रहस्यं ज्ञात्वा तज्ज्ञैः तत्त्वज्ञैः पुरुषैः उपादेयबुद्ध्या निरन्तरं वस्तुस्वरूपं भावनीयमिति भावार्थः ॥६॥

भा० व०—जदि इंद्रिनिका विषयनितैं विरक्त होत संतैं मनका निर्मूल छेद होय है तदि सो अविकल्पस्वरूप विषैं आतमा लीन होय है। भावार्थ—इनिकौं विषयनितैं विरक्त होत संतैं मन निश्चल होय है। अर मनके निश्चलपना होत संतैं अविकल्प ध्यान होय है ॥६॥

आगैं याहीकूं कहै हैं—

आत्माके संकल्प-रहित होनेपर आगे क्या होता है? ग्रन्थकार इसका उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जइया) जब (इंदिय विसयविरामे) इन्द्रियोंके विषयोंका विराम अर्थात् इच्छा-निरोध हो जाता है (तइया) तब (मणस्स) मनका (णिल्लूरणं) निर्मूलन (हवे) होता है, और तभी (तं) वह (अवियप्पं) निर्विकल्पक स्वगत तत्त्व प्रकट होता है। (तं तु) और वह (अप्पणो) आत्माका (ससरूवे) अपने स्वरूपमें अवस्थान होता है।

टीकार्थ—उक्त प्रकारसे इस गाथाका अवतरण करके टीकाकार मैं कमलकीर्त्ति इसका विवरण (स्पष्टीकरण) करता हूं। 'जइया' जब इन्द्रिय-विषयोंका विराम होता है, अर्थात् स्पर्शन-इन्द्रियको गुरु-लघु आदि आठ स्पर्शोंसे, रसना-इन्द्रियका तिक्त-कटु आदि पांच रसोंसे, घ्राण-इन्द्रियका सुगन्ध आदि दो गन्धोंसे, चक्षु-इन्द्रियका श्वेत-कृष्ण आदि पांच वर्णोंसे और श्रोत्र-इन्द्रियका षड्ज, ऋषभ आदि सात स्वरोंसे, इस प्रकार पांचों ही इन्द्रियोंकी सत्ताईस प्रकारके विषयोंसे विरमण या विरक्ति होती है, तब उसे 'इन्द्रियोंके विषयोंसे विराम' कहते है, उस इन्द्रिय-विषय-विराम होनेपर मनका अर्थात् मनके विकल्पोंका निर्मूलन होता है। निर्लूरण, छेदन, त्रोटन, उत्पाटन और निर्मूलन, ये सभी एकार्थ-वाचक शब्द हैं। जब मनके विकल्पोंका निर्मूलन अर्थात् जड़-मूलसे अभाव होता है, तब वह निर्विकल्प तत्त्व अर्थात् आत्माका स्वस्वरूपमें अवस्थान होता है। विकल्प जिसमेंसे निकल जाते हैं, उसे निर्विकल्प या अविकल्प कहते हैं। निर्विकल्प होता हुआ आत्मा अपने आत्माके स्व-स्वरूपमें लीन अर्थात् तन्मय होता है। यहां 'भवति' इस क्रियाका अध्याहार किया गया है। 'तं तु' वह 'स्वगत निर्विकल्प तत्त्व है' इस रहस्यको जानकर तत्त्वज्ञ पुरुषोंको उपादेय बुद्धिसे निरन्तर वस्तु-स्वरूपकी भावना करनी चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६॥

अथाह हो भगवन्, स्वमनसि निश्चलीभूते सति कीदृग्भावो भवतीति भगवानाह—

मूलगाथा—समणे णिच्चलभूए णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे ।
थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो ।।७।।

संस्कृतच्छाया—स्वमनसि निश्चलीभूते नष्टे सर्वस्मिन् विकल्पसन्दोहे ।
स्थितः शुद्धस्वभावो विकल्पो निश्चलो नित्यः ।।७।।

टीका—इत्यस्या गाथाया अवतारिकां कृत्वा टीकाकारः पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं करोति। तद्यथा—भो भव्यवरपुण्डरीकामरसिंह पृच्छक, भो आत्मन् 'समने' स्वमनसि विकल्प-कलापहेतुभूते 'णिच्चलभूए' निश्चलीभूते निष्पन्दीभूते सति 'णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे' विकल्प्यन्ते विकल्पास्तेषां विकल्पानां सन्दोहः समूहो विकल्पसन्दोहः, तस्मिन् विकल्पसन्दोहे सर्वस्मिन् नष्टे विनष्टे च 'कारणाभावात्कार्यं न हि दरीदृश्यत' इति न्यायात् । तदनु 'थक्को सुद्धसहावो' स्थितः

भा० व०—अपना मन है सो निश्चलभूत होत संतैं अर समस्त विकल्पनिके समूह नष्ट होत संतैं शुद्ध स्वभाव है सो स्थिर होय है अर अविकल्प कहिए विकल्प-रहित होय है, अर निश्चल है अर नित्य होय है ।।७।।

अब शिष्य पूछता है—हे भगवन् ! अपने मनके निश्चलीभूत होनेपर किस प्रकारका भाव होता है, इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

अन्वयार्थ—(समणे) अपने मनके (णिच्चलभूए) निश्चलीभूत होनेपर (सव्वे) सर्व (वियप्प-संदोहे) विकल्प-समूहके (णट्ठे) नष्ट होनेपर (अवियप्पो) विकल्प-रहित निर्विकल्प (णिच्चलो) निश्चल (णिच्चो) नित्य (सुद्धसहावो) शुद्ध स्वभाव (थक्को) स्थिर हो जाता हे ।

टीकार्थ—उक्त प्रकारसे गाथाका अवतरण करके टीकाकार उसका व्याख्यान करते हैं। यथा—हे भव्योंमें श्रेष्ठ कमल समान प्रश्नकर्ता अमरसिंह ! हे आत्मन् ! विकल्प-समूहके कारण-भूत अपने मनके निश्चल होनेपर अर्थात् परिस्पन्दरूप हलन-चलनसे रहित होनेपर मन स्थितिको प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न—विकल्प किसे कहते हैं ?

उत्तर—मनमें अनेक प्रकारकी जो कल्पनाएं उठती हैं, उन्हें विकल्प कहते हैं ।

इन विविध प्रकारके विकल्पोंके सन्दोह अर्थात् समूह या समुदायके नष्ट होनेपर मन स्वयं ही स्थिर हो जाता है, क्योंकि 'कारणके अभावसे कार्यका होना नहीं देखा जाता है' ऐसा न्याय है ।

मनकी चंचलता ही सर्व विकल्पोंका कारण है, उसके नष्ट हो जानेपर सभी प्रकारके विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् अपने आत्माका रागादि-रहित शुद्ध स्वभाव स्थितिको प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न—वह शुद्ध स्वभाव किस प्रकारका है ?

उत्तर—वह शुद्ध स्वभाव अविकल्प है, क्योंकि उसमें कोई विकल्प नहीं होता है ।

स्थितिं प्राप्तः कः स्थितः शुद्धस्वभावः रागादिरहितः शुद्धः स्वस्यात्मनो भवनं भावः, शुद्धश्चासौ स्वभावश्च शुद्धस्वभावः। पुनश्च कथम्भूतः शुद्धस्वभावः? 'अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो' न विकल्पा अस्मिन्निति अविकल्पः। पुनरपि किंविशिष्टो निश्चलः स्थानान्तराभावान्निर्गतश्चलनान्निश्चलः। नित्यो हि वस्तुतः उत्पत्तिव्ययाभावात् सर्वकालत्वाच्च नित्यः। इति शुद्धस्वभावं ज्ञात्वा भव्यैस्तत्त्वविद्भिर्निरन्तरमनुभवनीय इति भावार्थः ॥७।

अथानु शुद्धभावस्य लक्षणं किमिति भगवान् देवसेनदेवः प्राह—

मूलगाथा—जो खलु सुद्धो भावो सो अप्पा तं च दंसणं णाणं।
चरणं पि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥८॥

संस्कृतच्छाया—यः खलु शुद्धो भावः स आत्मा तं च दर्शनं ज्ञानम्।
चरणमपि तच्च भणितं सा शुद्धा चेतना अथवा ॥८॥

टीका—इत्यवतारिकानन्तरं टीकाकर्ता मुनिः पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं करोति तथाहि—'जो खलु सुद्धो भावो' यो हि पूर्वोक्तः खलु स्फुटं शुद्धो रागद्वेषमोहादिरहितः, कोऽसौ भावः आत्मनो भवनं भ वः। सो अप्पा तं च दंसणं णाणं' स एव शुद्धभावो निश्चयनयत आत्मैव, तच्च पूर्वोक्तं प्रसिद्धं वा दर्शनं दृश्यतेऽनेनेति स्व-परस्वरूपं तद्दर्शनम्। ज्ञायतेऽनेनेति स्व-परद्रव्यं तज्ज्ञानम्। चरणं पि तं च भणियं' 'चरण गति-भ्रमणयोः। चर्यतेऽनेनेति स्वरूपे चरणं चारित्रमपि

आगैं शुद्ध भावकूं कहै हैं—

भा० व०—खलु निश्चयकरि जो शुद्धभाव है सो आत्मा है। बहुरि सो ही दर्शन ज्ञान है। बहुरि सोही चारित्र कह्या है। अथवा शुद्ध चेतना कही है ॥८॥

प्रश्न—फिर भी वह शुद्धस्वभाव कैसा है?

उत्तर—निश्चल है, क्योंकि वह एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके चलनस्वभावसे रहित है।

प्रश्न—और वह शुद्ध स्वभाव कैसा है?

उत्तर—वस्तुतः उत्पत्ति और व्ययके अभाव होनेसे, तथा सर्वकाल स्थायी रहनेसे वह शुद्ध स्वभाव नित्य है।

इस प्रकारका शुद्ध स्वभाव जानकर तत्त्व-वेत्ता भव्य पुरुषोंको निरन्तर ही उसका अनुभव करना चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥७॥

अब शिष्यने पूछा—उस शुद्ध भावका लक्षण क्या है? भगवान् देवसेनदेव उत्तर देते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो) जो (खलु) निश्चयसे (सुद्धोभावो) शुद्धभाव है (सो) वह (अप्पा) आत्मा है। (तं च) और वह आत्मा (दंसणं) दर्शनरूप (णाणं) ज्ञानरूप (चरणंपि) और चारित्ररूप (भणियं) कहा गया है। (अहवा) अथवा (सा) वह (सुद्धा) शुद्ध (चेयणा) चेतनारूप है।

टीकार्थ—इस प्रकारसे गाथाका अवतरण करनेके अनन्तर टीकाकर्त्ता मुनि उसका व्याख्यान करते हैं। यथा—'जो खलु सुद्धो भावो' जो पूर्वोक्त राग, द्वेष, मोहादि विकारी भावोंसे रहित आत्मामें उत्पन्न होनेवाला भाव है, वही शुद्धभाव निश्चय नयसे दर्शन है। जिसके द्वारा स्व और परका स्वरूप देखा जाता है, वह दर्शन कहलाता है। वही शुद्ध भाव ज्ञान है। जिसके

स च शुद्धभावो भणितः प्रोक्तः कैः? वीतरागसर्वज्ञैरिति। 'पुरुषप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यं भवतीति न्यायात्। 'सा सुद्धा चेयणा अहवा' अथवा या शुद्धा रागादिरहिता चेतना 'चिती संज्ञाने' चित् धातु, चेत्यते स्मर्यतेऽनया चेतना, सा चैतन्यरूपा आत्मैवेति ज्ञात्वा यत्र शुद्धभावस्तत्रैव सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं च, सम्यक्चारित्रमपि तत्रैव, स्वात्मा चिच्चमत्कारलक्षण इति ज्ञानवद्भिः पुरुषैः स एव शुद्धभावो भाव्यो भव्यैर्भावनीयो भवतीति भावार्थः ॥८॥

इति श्री तत्त्वसारविस्तारावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारकश्रीकमलकीर्त्तिदेव-विरचिते कायस्थमाथुरान्वयशिरोमणिभूतभव्यवरपुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिनकरे स्वगत-तत्त्व-परगततत्त्वलक्षणवर्णनं नाम प्रथमं पर्व समाप्तम् ॥१॥

■

द्वारा स्व और पर द्रव्य जाने जाते हैं, उसे ज्ञान कहते हैं। और वही चारित्र भी कहा गया है। 'चरण धातु' 'गति और भ्रमण के अर्थ वाली है। जिसके द्वारा आत्म-स्वरूपमें विचरण हो वह चरण अर्थात् चारित्र कहलाता है। इस प्रकार वह शुद्धभाव वीतराग सर्वज्ञोंने दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप कहा है, क्योंकि 'पुरुषकी प्रमाणता से वचनोंकी प्रमाणता होती है, ऐसा न्याय है। 'सा सुद्धा चेयणा अहवा' अथवा जो रागादि-रहित शुद्ध चेतना है वह चैतन्यरूप आत्मा ही है। क्योंकि 'चिती' धातु समीचीन ज्ञानार्थक है। जिसके द्वारा आत्मा चेतित अर्थात् स्मरण किया जाता है, वह चेतना कहलाती है। उस चेतनारूप ही आत्मा है, ऐसा जानकर अर्थात् जहां शुद्ध भाव हैं, वहीं दर्शन है, वहीं ज्ञान है और सम्यक् चारित्र भी है। इस प्रकारका चित्—चमत्कार लक्षण वाला अपना आत्मा है, ऐसा जानकर ज्ञानवान् भव्य पुरुषोंको वही शुद्धभाव निरन्तर भावना करने योग्य है, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥८॥

इस प्रकार अतिनिकट भव्यजनोंको आनन्दकारी भट्टारक श्री कमलकीर्तिदेव-विरचित, कायस्थ माथुरान्वय शिरोमणिभूत भव्यवर पुण्डरीक अमरसिंहके हृदय-कमलको दिनकरके समान तत्त्वसारके इस विस्तारावतारमें स्वगततत्त्व और परगत तत्त्वके लक्षणका वर्णन करने वाला यह प्रथम पर्व समाप्त हुआ।

■

अथ द्वितीयं पर्व

श्रीशुद्धभावोऽमरसिंहकेऽस्मिन् श्रीमज्जिनेन्द्राङ्घ्रिपयोजभक्ते।
सल्लक्षणे पुण्यपदार्थयुक्ते एवंविधस्तिष्ठतु मुक्तिदोऽयम्॥

आशीर्वादः।

अथासन्नभव्येन केचित्तत्त्वं ध्यातुकामेन युक्तिः पृष्टा, भगवान् श्रीदेवसेनदेवाख्य इति प्राह--

मूलगाथा—जं अवियप्पं तच्चां तं सारं सुक्खकारणं तं च।
तं णाऊण विसुद्धं झायहु होऊण णिग्गंथा॥९॥

संस्कृतच्छाया—यदविकल्पं तत्त्वं तत्सारो मोक्षकारणं तच्च।
तज्ज्ञात्वा विशुद्धं ध्यायत भूत्वा निर्ग्रन्थाः॥९॥

टीका—इत्यवतारिकां कृत्वा वृत्तिकारः पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं करोति तद्यथा—'जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च' यत् पूर्वोक्तं स्वगततत्त्वं तत्सिद्धान्तसारभूतं, तदेव मोक्षस्य कारणम्। यतः स्वगततत्त्वे सति परम्परया मोक्षो भवतीति प्रसिद्धेः। 'तं णाऊण विसुद्धं झायहु होऊण णिग्गंथा' तत्तत्त्वं निजात्मस्वरूपं विशेषेण शुद्धं विशुद्धं ज्ञात्वा भो भव्याः यदि

श्रीमज्जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंके भक्त, उत्तम लक्षण वाले और पुण्य-पदार्थसे युक्त (पुण्यशाली) इस अमरसिंहके भीतर यह उपर्युक्त प्रकारका श्रीयुक्त शुद्धभाव सदा काल विराजमान रहे।

आगैं शुद्धतत्त्वकी महिमा कहैं हैं—

भा०व०—जो अविकल्प कल्पनाजाल-रहित ऐसा तत्त्व जो है सो ही सार है। बहुरि सो ही मोक्षका कारण है। सो विशुद्ध उज्ज्वल तत्त्वकूं जाणि करि अर निर्ग्रन्थ होय करि ध्यान करहु॥९॥

अब तत्त्वका ध्यान करनेके इच्छुक किसी निकट भव्यके द्वारा ध्यान करनेकी युक्ति पूछने पर भगवान् श्रीदेवसेनदेवने कहा—

अन्वयार्थ—(जं) जो (अवियप्पं) निर्विकल्प (तच्चं) तत्त्व है, (तं) वही (सारं) सार है-प्रयोजभूत है। (तं च) और वही (मोक्ख कारणं) मोक्षका कारण है। (तं) उस (विशुद्धं) विशुद्ध तत्त्वको (णाऊण) जानकर (णिगंथो) निर्ग्रन्थ (होऊण) होकर (झायहु) ध्यान करो।

टीकार्थ—उक्त प्रकारसे गाथाका अवतरण कर टीकाकार उसका व्याख्यान करते हैं यथा-'जं अवियप्पं तच्चं' इत्यादि, जो पूर्वोक्त स्वगत तत्त्व है, वह सर्व सिद्धान्तका सारभूत है, और मोक्षका कारण है, क्योंकि स्वगत तत्त्वके प्राप्त होने पर परम्परासे मोक्ष प्राप्त होता है, यह प्रसिद्ध है। 'तं णाऊण विसुद्धं' इत्यादि, वह तत्त्व निजात्मस्वरूप है और विशेष रूपसे शुद्ध अर्थात्

मोक्षाभिलाषिणः पञ्चप्रकारसंसारदुःखभीताश्च तर्हि तत्तत्त्वं ध्यायत। किं कृत्वा ? पूर्वं निर्ग्रन्थ्य-भूत्वा। ते ग्रन्था उच्यन्ते बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधाः। तथाहि—क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-कुप्याकुप्यभेदेन दशप्रकारा बाह्या ग्रन्था भवन्ति। मिथ्यात्वं १ स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेदेषु त्रिषु रागः ३। हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्साः षट् ६। क्रोध-मान-माया-लोभाख्याश्चत्वारः कषायाः ४। इत्यन्तरङ्गाः ग्रन्थाः चतुर्दश। इत्युभयप्रकारेण चतुर्विंशति ग्रन्था निर्गता ग्रन्थेभ्यो ये ते निर्ग्रन्थाः। यतो निर्ग्रन्थत्वेन तत्त्वोपलब्धिरिति निर्ग्रन्थमुद्रावलम्बिभिर्मुनिभिः स्वगततत्त्वं ध्यातव्यम्। इतरैश्च मध्यम-जघन्याराधकैरुपादेयबुद्धचा तस्मिन् तत्त्वे भावना च कर्तव्येति भावार्थः ॥९॥

अथ पुनरपि भट्टारकश्रीदेवसेनदेवा निर्ग्रन्थलक्षणमाहुः—

मूलगाथा—बहिरब्भन्तरगंथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण।
सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ समणो ॥१०॥

संस्कृतच्छाया—बाह्याभ्यन्तरग्रन्था मुक्ता येनेह त्रिविधयोगेन।
स निर्ग्रन्थो भणितो जिनलिङ्गसमाश्रितः श्रमणः ॥१०॥

आगैं निर्ग्रन्थता कूं कहैं हैं—

भा० व०—या लोकविषैं जानैं मन वचन कायके जोग करि बाह्य तो दश प्रकार अर अभ्यन्तर चौदा प्रकार ग्रन्थ जे परिग्रह जे हैं ते त्याग्या है सो निर्ग्रन्थ कह्या है श्रमण कहिए मुनि। कैसा है मुनि, जिन लिंगकूं आश्रय किया है ॥१०॥

विशुद्ध है, ऐसा जानकर भो भव्य पुरुषो ! यदि तुम लोग मोक्षके अभिलाषी हो, और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पांच प्रकारके परिवर्त्तन वाले संसारके दुःखोंसे भय-भीत हो, तो उस विशुद्ध तत्त्वका ध्यान करो।

प्रश्न—क्या करके ध्यान करें ?

उत्तर—निर्ग्रन्थ अर्थात् ग्रन्थसे—परिग्रहसे रहित हो करके ध्यान करो।

वे ग्रन्थ (परिग्रह) बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारके कहे गये हैं। यथा—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, कुप्य और अकुप्यके भेदसे बाह्य परिग्रह दश प्रकारके होते हैं। मिथ्यात्व १, स्त्रीवेदमें राग २, पुरुषवेदमें राग ३, नपुंसकवेदमें राग ४, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह नोकषाय १०, और क्रोध, मान, माया लोभ ये चार कषाय १४। इस प्रकार अन्तरंग ग्रन्थ चौदह प्रकार के होते हैं। ये बाह्य दश और अन्तरंग चौदह प्रकार-के ग्रन्थ मिलकर चौबीस प्रकारके ग्रन्थोंसे जो निर्गत अर्थात् निकल चुके हैं, सर्वथा रहित हैं, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। यतः निर्ग्रंथतासे ही तत्त्वकी उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, अतः निर्ग्रन्थ मुद्रा-धारक मुनिजनोंको स्वगत तत्त्वका ध्यान करना चाहिए। उनके सिवाय अन्य जो मध्यम आराधक देशव्रती श्रावक हैं और जघन्य आराधक अविरती सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं, उन्हें उपादेय बुद्धिसे उस विशुद्ध तत्त्वमें भावना करनी चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥९॥

अब फिर भी भट्टारक श्री देवसेनदेव निर्ग्रन्थका लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(इह) इस लोक में (जेण) जिसने (तिविहजोएण) मन, वचन, काय इन तीन प्रकारके योगोंसे (बहिरब्भंतरगंथा) बाहिरी और भीतरी परिग्रहोंको (मुक्का) त्याग दिया है,

टीका—अस्या गाथाया अवतारिकानन्तरं टीकाकारो विशेषार्थमाह—'बहिरब्भंतरगंथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण' एवं पूर्वोक्तप्रकारेण बाह्याभ्यन्तरग्रन्था येन आसन्नभव्येन कालादि-लब्धिवशात् सद्-गुरूपदेशाच्चैते ग्रन्था मुक्ताः, इह जगति मनोवचनकाययोगेन त्रिविधेन 'सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ समणो' स एव साक्षात् परमनिर्ग्रन्थैर्वीतरागसर्वज्ञैर्निर्ग्रन्थो भणितः कथितः। पुनश्च कथंभूतो भणितः ? जिनलिङ्गसमाश्रितः श्रमणो मुनिश्चेति मत्वा भव्यजनैर्जिनलिङ्गसमाश्रितैः निर्ग्रन्थरूपेण भवितव्यमिति भावार्थः ।।१०।।

अथ हे भगवन्, ध्यानार्हमुनिलक्षणं कीदृशमिति भगवानाह—

मूलगाथा— लाहालाहे सरिसो सुह-दुक्खे तह य जीविए मरणे ।
बंधु-अरियणसमाणो झाणसमत्थो हु सो जोई ।।११।।

संस्कृतच्छाया—लाभालाभयोः सदृशः सुख-दुःखयोस्तथा च जीवित-मरणयोः ।
बन्ध्वरिजनो समानो ध्यानसमर्थः स्फुटं स योगी ।।११।।

आगैं ध्यानकी योग्यता कहै हैं—

भा० व०—प्रगट सो योगी मुनि है सो ध्यान समर्थ होय है। सो कैसा होय है लाभ जो भोजन कमंडलु पीछी वसतिका इनिका लाभ विषैं अथवा अलाभ होत सन्तै सदृश होय हैं। लाभ होहु, अथ मति होहु, दोऊ अवस्था विषैं जिनके समानता है। अर सुख जो शरीरादिक निरोग होत

(सो) वह (जिणलिंगसमासिओ) जिनेन्द्रदेवके लिंगका आश्रय करने वाला (समणो) श्रमण (णिग्गंथो) निर्ग्रन्थ (भणिओ) कहा गया है।

टीकार्थ—इस गाथाका उक्त अवतरण करनेके पश्चात् टीकाकार उसके विशेष अर्थको कहते हैं—'बहिरब्भंतरगंथा' इत्यादि, इस पूर्वोक्त प्रकारसे बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ जिस निकट भव्यने काल आदि लब्धिके वशसे और सद्गुरुके उपदेशसे इस जगत्में मन वचन कायरूप त्रिविध योगसे छोड़े हैं, 'सो णिग्गंथो भणिओ' इत्यादि, वह ही साक्षात् परम निर्ग्रन्थ वीतराग सर्वज्ञोंके द्वारा निर्ग्रन्थ कहा गया है।

प्रश्न—वह निर्ग्रन्थ किस प्रकारका कहा गया है ?

उत्तर—जिनलिंग समाश्रित अर्थात् जिनेन्द्रदेवका परम वीतरागी निर्ग्रन्थ वेष है उसको धारण करने वाला श्रमण मुनि कहा गया है।

इस प्रकार जानकर जिन-लिंग के धारक भव्यजनोंको परम शुद्ध निर्ग्रन्थ रूपवाला होना चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ।।१०।।

अब हे भगवन् ! ध्यानके योग्य मुनिका लक्षण किस प्रकारका है ? इसका उत्तर भगवान् देवसेनदेव देते हैं—

अन्वयार्थ—जो (लाहालाहे) लाभ और अलाभमें, (सुहदुक्खे) सुख और दुःखमें (तह य) और उसी प्रकार (जीविए मरणे) जीवन तथा मरणमें (सरिसो) सदृश रहता है, इसी प्रकार (बंधु-अरियणसमाणो) बन्धु और अरिमें समान भाव रखता है, (सो हु) निश्चयसे वही (जोई) योगी (झाण-समत्थो) ध्यान करनेमें समर्थ है।

टीका—इत्यवतारिकानन्तरमाचार्यो वृत्तिकृदाह। तद्यथा—'लाहालाहे सरिसो' भोजनादि-

---

सन्तैं, अथवा सरोग होत सन्तैं वेदना होत सन्तैं सदृशता है। अर तैसैं ही जीवित मरण कूँ होत सन्तैं सदृशता है। अर बन्धूजन अर वैरीजननि विषैं समानता है जिनकैं, ऐसैं ते ही ध्यान समर्थ होय हैं। भावार्थ—लाभ-अलाभ तौ अन्तरायकर्मकी खलासी अर उदयतैं होय है, तहाँ ज्ञानी विचारै है जो लाभ भया तो अन्तराय कर्मकी खलासीतैं भया, यामैं कहा प्रीति करना। अनंता प्राणीनिकै लाभ होय ही है। अर अन्तराय कर्मकी आधिक्यतातै अनन्ता प्राणी सदा काल क्षुधित दलिद्री कदे-कदे पेट भरि नाहीं खाया, अर सारिक उमरमैं मन-वांछित वस्त्रादिक नाहीं मिलैं, अर रुपया महोरादिक नांही मिली। अर और देखहु अनंतकाल परिभ्रमण करता भया, तहां अपणें अंतरायकी खलासी माफिक आहार पाणी वस्त्रादिक भी मिल्या ही है। जो आजि लाभ न भया तो कहा भया, अर भया तो कहा भया, यह तो कर्माधीन है। अर मैं कर्मनिकैं आधीनता हित भया चाहूँ हूँ तो अब मेरैं लाभमैं रागीपना, अलांभमैं उदासीपनां काहे का ? अर मैं भी रागी द्वेषी भया तो संसारवर्ती प्राणी अर परमार्थमैं प्रवर्त्या मैं तामैं कहा विशेष रह्या ? ऐसा विचारि लाभ-अलाभ विषैं सदा प्रसन्न रहै हैं। अर तैसें ही सुख-दुःख विषैं समता जाणौं, जो साता वेदनी करि सुखका उदय होय है, अर असाता वेदनीका उदयतैं नाना प्रकारका खास श्वास ज्वर भगंदर कठोदर जलोदर खाजि कोढ़ शिरशूल उदरशूल नेत्रशूल आदि अनेक दुःख उत्पन्न होत हैं। अर लोक नाना इलाज करैं हैं, परन्तु असाताका उदयका अभाव विना आराम नहीं होता देखिये है। अर सातावेदनीका उदयकी आधिक्यता तौ स्वर्ग लोकविषैं है, तहां मन-स्मरणमात्र तो अमृतमई भोजन अर मनचाही महामनोहर देवांगना महाभोग्य अर महा मनोहर है रूप जिनका, अर मनोहर है अंग जिनका, अर सुंदर शब्द अर नृत्य जिनका, अर अति मनोहर है सुगंध अंग विषैं जिनके, अर महा प्रवीण देवांगना तिनिकै संभोग-जनित नाना स्वर्गसम्बन्धी सुख स्व-इच्छा विहार, नाना देवनि परि आग्या इत्यादिक नाना सुख भोगै। तहां हू तृप्त न भया तौ इहांके किंचित् मात्र सुख अल्प काल ता विषैं कहां सुखका मानना ? पराधीन सुख काहे का सुख ? अर सुख तौ निजात्मामैं जानना देखना वाला मैं हूँ, तहां है, अन्य जायगा नांही। अर जीवना मरणा यह पर्याय अपेक्षा है। तहां भी आयुकर्मके आधीन मरणां जीवनां है। सो सर्वज्ञदेवनैं अच्छी तरहै देख्या है तैसैं ही होयगा, कहीं तरहैका फरक नाहीं जाणनां। इन्द्र धरणेन्द्र चन्द्र सूर्य चक्र-वर्ती तीर्थंकरादिक हू कर्माधीन प्राणीकूं मरण जीवनतैं नाहीं बचाय सकै हैं। तो अवश्य मरण है तामैं कहा शोक है ? अर जीवनेमें कहा हर्ष है। यह तो निज आयुका त्रिभागविषैं पूर्वभवविषैं अपने ही परिणामनि करि बांधी सो अवश्य भोगनी है। यातैं जीवन-मरणमैं सदा काल प्रसन्न रहै हैं। अर बन्धुजन अर वैरीजन तिन विषै भी समान है, इत्यादि ग्याताकैं ध्यान विषैं समता होय है ॥११॥

टीकार्थ—इस प्रकार गाथाका अवतरण करके टीकाकार आचार्य उसका व्याख्यान करते

लाभ उतालाभो वा लाभश्च अलाभश्च लाभालाभौ, तयोर्लाभालाभयोः । पूर्वोपार्जितशुभाशुभ-कर्मफलभूतयोः भेदज्ञानप्रभावाद् हर्ष-विषादाभावाच्च य एव समानः स समचित्तो योगी । 'सुह-दुक्खे जीविए मरणे' तथा च शुभाशुभकर्मजातयोः सुख-दुःखयोः, आयुःकर्मोदय-क्षयोत्पन्नयोः जीवित-मरणयोः, तथैव सम्भूतयोः 'बंधु-अरियणसमाणो बन्धवरिजनयोः सतोः सदृशः समानमाना राग-द्वेषाद्यभावात् । एवं गुणविशिष्टो योगी योगो विद्यते यस्यासौ योगी । अस्य व्युत्पत्तिः क्रियते—युजित् योगो यः कर्ता आत्मनि आत्मना आत्मने निमित्तं आत्मनः सकाशाद् आत्मानं युनक्तीत्येवं शीलो योगी । उक्तं च—

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥२०॥

'झाणसमत्थो हु सो जोई' स एव पूर्वोक्तो हि योगी हु स्फुटं ध्यानसमर्थो भवतीति क्रियाध्याहारः क्रियते । इति साम्यमाहात्म्यं ज्ञात्वा तज्ज्ञैर्भव्यजनैरुपादेयबुद्ध्या स एव साम्यभावो निरन्तरं भावनीयो भवतीति भावार्थः ॥११॥

हैं—'लाहालाहे सरिसो' इत्यादि, भोजनादिका लाभ हो, अथवा लाभ न हो, क्योंकि ये लाभ और अलाभ दोनों ही पूर्वोपार्जित शुभ और अशुभ कर्मके फलरूप हैं, उनमें जो भेद-विज्ञानके प्रभावसे और हर्ष-विषादके अभावसे समान रहता है, वह समचित्त योगी 'सुह-दुक्खे' इत्यादि, शुभ-अशुभ कर्मके उदयसे प्राप्त हुए सुख-दुःखमें, तथा आयुकर्मके उदयसे प्राप्त जीवनमें और उसके क्षयसे प्राप्त मरणमें, तथा उसी प्रकार पुण्य-पापके उदयसे प्राप्त हुए बन्धुओं और शत्रुओंमें राग-द्वेष आदि के अभावसे समान भाव रखता है, इस प्रकारके गुणोंसे युक्त विशिष्ट योगी ध्यान करनेमें समर्थ होता है । 'युज्' धातु युक्त या संलग्नताके अर्थवाली है । अतः योग शब्दका अर्थ संलग्नता है । वह योग जिसके पाया जावे, उसे योगी कहते हैं । ऐसा योगीरूप कर्ता अपने आत्मामें, अपने आत्माके द्वारा, अपने आत्माके निमित्त आत्मासे आत्माको जोड़ता है, इस प्रकारके शील-स्वभाव-वाला व्यक्ति योगी कहलाता है । कहा भी है—

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त-निरोध, और शुद्धोपयोग ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ॥२०॥

'झाणसमत्थो हु सो जोई' वही पूर्वोक्त योगी स्फुट रीतिसे सम्यक् प्रकार ध्यान करनेमें समर्थ होता है । यहां पर 'भवति' इस क्रियाका अध्याहार किया गया है । इस प्रकारका साम्यभाव या योगका माहात्म्य जानकर योगके जानकार भव्यजनोंको उपादेय बुद्धिसे वही साम्यभाव निरन्तर भावना करनेके योग्य है, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥११॥

अथानु कथं ध्यानसमर्थो भवतीति पृष्टे सति भगवानाह—

मूलगाथा—कालाइलद्धि णियडा जह जह संभवइ भव्वपुरिसस्स ।
तह तह जायइ णूणं सुसव्वसामग्गि मोक्खट्ठं ॥१२॥

संस्कृतच्छाया—कालादिलब्धिः निकटा यथा यथा संभवति भव्यपुरुषस्य ।
तथा तथा जायते नूनं सुसर्वा सामग्री मोक्षार्थम् ॥१२॥

टीका—इत्यवतारिकानन्तरमाचार्यश्रीकमलकीर्त्तिराह—'कालाइलद्धि' संसारासन्नतारूप-सामान्यकालः, विशेषेण तु मिथ्यात्व-सम्यक्प्रकृति-सम्यग्मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभानां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमरूपो विशेषकालः। आदिशब्देन पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तः प्राप्तार्य-क्षेत्र-भावशुद्धि-सद्-गुरूपदेशादिः। एवं काल आदिर्यस्यां सा कालादिः, कालादिश्चासौ लब्धिश्च-कालादिलब्धिः 'णियडा' निकटा समीपा आसन्ना 'जह जह संभवइ भव्वपुरिसस्स' यथा यथा येन येन प्रकारेण यथा यथा संभवति घटते सम्पद्यते। कस्य? भव्वपुरिसस्स। पूर्वोक्तो भव्यश्चासौ पुरुषश्च भव्यपुरुषः, तस्य भव्यपुरुषस्य। 'तह तह जायइ णूणं सुसव्वसामग्गि मोक्खट्ठं' तथा तथा जायते उत्पद्यते नूनं निश्चयेन, भ्रान्तेरभावात्। काऽसौ? सामग्री। कियती? सुसर्वा सुष्ठु अतिशयेन

भा० व०—भव्य पुरुषकै कालादिलब्धि संसार-निकटारूप सामान्य काल है। अर विशेषपणाकरि मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ सप्त प्रकृतिनिका उपशम तो विशेषकाल आदि शब्द करि पंचेन्द्रिय सैनी पर्याप्ति, अर प्राप्त भया आर्यक्षेत्र भावशुद्धि सद्-गुरु उपदेशादिक इत्यादिक तो काललब्धि जाननां। सो कालादि लब्धि जैसैं जैसैं निकट होय है, तैसें तैसें मोक्षके अर्थि सुन्दर सर्व सामग्री निश्चयतें होय है ॥१२॥

अथानन्तर भव्य पुरुष ध्यान करनेमें समर्थ कैसे होता है? ऐसा पूछनेपर भगवान् देवसेन कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जह जह) जैसे जैसे (भव्वपुरिसस्स) भव्य पुरुषकी (कालाइलद्धि) काल आदि लब्धियां (णियडा) निकट (संभवइ) आती जाती हैं, (तह तह) वैसे वैसे ही (णूणं) निश्चयसे (मोक्खट्ठं) मोक्षके लिए (सुसव्वसामग्गि) उत्तम सर्व सामग्री (जायइ) प्राप्त हो जाती है।

टीकार्थ—इस गाथाका उक्त अवतरण करनेके पश्चात् टीकाकार आचार्य श्री कमलकीर्ति इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—'कालाइलद्धि' इत्यादि, काललब्धि अर्थात् संसारकी निकटता-रूप सामान्य कालकी प्राप्ति, और विशेषरूपसे मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, इन सात प्रकृतियोंके उपशमरूप विशेषकालकी प्राप्ति। आदि शब्दसे पंचेन्द्रियपना, संज्ञिपना, पर्याप्तकता, आर्य क्षेत्रकी प्राप्ति, भाव-विशुद्धि, और सद्-गुरुका उपदेश आदिकी प्राप्ति। इस प्रकार काल है आदिमें जिनके ऐसी काल आदि लब्धियां 'जह जह संभवइ भव्वपुरिसस्स' भव्य पुरुषके जैसे-जैसे जिस जिस प्रकारसे संभव, घटित या प्राप्त होती जाती हैं, उस भव्य पुरुषके 'तह तह जाइय णूणं सुसव्वसामग्गि मोक्खट्ठं' उस उस प्रकार निश्चयसे सुसर्व सामग्री प्राप्त होती जाती है, इसमें कोई भ्रान्ति या सन्देह नहीं है।

प्रश्न—सुसर्व सामग्रीका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—सु अर्थात् अतिशय-युक्त सुन्दर-श्रेष्ठ समस्त सामग्रीका अभिप्राय है।

समस्ता। कीदृशी सा ? सम्यक्त्वादि पञ्चाणुव्रत-पञ्चमहाव्रत-धर्मध्यान-शुक्लध्यानपर्यन्ता सर्वा स्यात्। किमर्थम् ? मोक्षार्थम्। ए एव पूर्वोक्तो मोक्षस्तस्य हेतुः कारणं भवतीति ज्ञात्वा तज्ज्ञैः पुरुषैः कालादिलब्धिं लब्ध्वा स्वोचितेषु कार्येषु सावधानैर्भवितव्यम्। यतः सावधानमन्तरेण किमपि न लभ्यत इति भावार्थः ॥१२॥

अथ लब्धासु सर्वासु सामग्रीष्वपि ध्यानेन विना कार्यं न सिद्ध्यतीत्याह—

मूलगाथा—चलणरहिओ मणुस्सो जह वंछइ मेरुसिहरमारुहिउं।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥१३॥

संस्कृतच्छाया—चलनरहितो मनुष्यो यथा वाञ्छति मेरुशिखरमारोढुम्।
तथा ध्यानेन विहीन इच्छति कर्मक्षयं साधुः ॥१३॥

टीका—'चलणरहिओ' इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं करोति—'जह' यथा, 'मणुस्सो' कश्चिन्मनुष्यः, 'चलणरहिओ' 'चलनौ पादौ ताभ्यां रहितो विकलः सन् 'वंछइ' वाञ्छति;

आगैं कहैं हैं ध्यान बिना मोक्ष नांही होय है—

भा० व०—जैसें चरण-रहित मनुष्य है सो मेरुका शिखरकूं चढ़नेकूं वाँछा करै है, तैसैं ही ध्यान करि रहित साधू है सो कर्मको क्षय ताहि इच्छा करै है। भावार्थ—ध्यान बिना कर्मका क्षय नांही होय हैं; अर कर्म-क्षय बिना मोक्ष नांही होय है ॥१३॥

प्रश्न—वह सुसामग्री कौनसी और किस प्रकारकी है ?

उत्तर—आदिमें सम्यक्त्व, पुनः पंच अणुव्रत, पुनः पंच महाव्रत, पुनः धर्मध्यान और अन्तमें शुक्लध्यानकी प्राप्ति होना यह सुसर्व सामग्री है।

प्रश्न—किसलिए इस सुसर्व सामग्रीकी आवश्यकता है ?

उत्तर—मोक्ष-प्राप्तिके लिए इस उत्तम सर्व सामग्रीकी आवश्यकता है।

इस प्रकारसे मोक्षकी कारणभूत इस सर्व सामग्रीको जानकर ज्ञानी पुरुषोंको कालादिलब्धि पाकर अपने योग्य अर्थात् अपनी शक्ति और परिस्थितिके अनुकूल उक्त उचित कार्योंमें सावधान होना चाहिए, क्योंकि सावधान हुए विना कुछ भी प्राप्त नहीं होता है, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१२॥

अब आचार्य कहते हैं कि उक्त सर्व सामग्रीके प्राप्त होनेपर भी ध्यानके विना कर्म-क्षयरूप कार्य सिद्ध नहीं होता है—

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (चलण-रहिओ) पाद-रहित (मणुस्सो) मनुष्य (मेरु-सिहरं) सुमेरु पर्वतके शिखरपर (आरुहिउं) चढ़नेके लिए (वंछइ) इच्छा करे, (तह) वैसे ही (झाणेण) ध्यानसे (विहीणो) रहित (साहू) साधु (कम्मक्खयं) कर्मोंका क्षय (इच्छइ) करना चाहता है।

टीकार्थ—'चलणरहिओ' इत्यादि गाथाका टीकाकार अर्थ-व्याख्यान करते हैं—जैसे दोनों पैरोंसे रहित कोई मनुष्य मेरु पर्वतके शिखरपर चढ़नेकी इच्छा करता है, तो उसकी वह इच्छा

किं कर्तुम् ? 'मेरुसिहरमारुहिउं' आरोढुम् । किं तत् ? मेरोः शिखरम् । 'तह झाणेण विहीणो' तथा स्वगततत्त्वपरगततत्त्वज्ञः ध्यानेन विहीनो विकलः कश्चिदाराधकाभासः । आराधकाभास इति कोऽर्थः ? आराधकलक्षणरहित आराधकवदवभासमान आराधकाभासः । यथा जलाभासा मृगमरीचिका इत्यर्थः । 'इच्छइ कम्मक्खयं साहू' इच्छति वाञ्छति, कर्मक्षयं द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मणां क्षयः कर्मक्षयः, तं कर्मक्षयम् । क इच्छति ? साधुः । साधुशब्देन यतिजन एव प्राप्यते, यतः कारणमन्तरेण कार्यं न सिद्धयतीति मत्वा जिनोक्तनयविभागेन मोक्षाभिलाषिणा ध्यानवता भाव्यमिति भावार्थः ॥१३॥

अथ ये सम्प्रति वर्तमानकाले ध्यानं न मन्वते तेषां लक्षणमाहुः—

मूलगाथा—संका-कंखागहिया विसयपसत्ता सुमग्गपब्भट्ठा ।
एवं भणंति केई ण हु कालो होइ झाणस्स ॥१४॥

संस्कृतच्छाया—शङ्का काङ्क्षागृहीता विषयप्रसक्ताः सन्मार्गप्रभ्रष्टाः ।
एवं भणन्ति केचन न हि कालो भवति ध्यानस्य ॥१४॥

टीका—'एवं भणंति केई' एवमिति वक्ष्यमाणकालमपेक्ष्यते । भणन्ति कथयन्ति केचन

आगै कहैं हैं केई मिथ्यात्वी अैसैं कहैं हैं अबारध्यानका काल नाहीं—

भा० व०—केई मनुष्य या प्रकार कहै हैं निश्चय करि ध्यानका काल नांही हैं। कैसे हैं ते मनुष्य ? शंका कांक्षा करि ग्रस्या, अर पंच इंद्रियनिका विषयनि विषैं आसक्त अर भले मार्गतैं विशेषपणां तैं भ्रष्ट ऐसैं ध्यानका अभ्यास कूं कहै हैं ॥१४॥

निरर्थक है, उसी प्रकार यदि कोई साधु स्वगततत्त्व और परगततत्त्वका ज्ञाता होकरके भी ध्यानके बिना कर्मोंके क्षय करनेको इच्छा करता है, तो उसकी वह इच्छा जल-सदृश प्रतीत होनेवाली मृगमरीचिकाके समान व्यर्थ है, क्योंकि ध्यानके बिना धर्मकी आराधना करनेवाला व्यक्ति सच्चा आराधक नहीं, किन्तु आराधकाभास है। जो आराधकके यथार्थ लक्षणसे रहित हो और आराधकके समान प्रतीत हो, उसे आराधकाभास कहते हैं। अनादि कालसे संबद्ध द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणादि, भावकर्म—राग-द्वेषादि और नोकर्म—शरीरादिका क्षय करना ध्यानके बिना असंभव है। गाथा-पठित साधु शब्दसे यतिजनका ही अभिप्राय है। कर्म-क्षयका कारण ध्यान ही है, अतः कारणके बिना कर्मक्षयरूप कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है, ऐसा जानकर जिनदेव-भाषित नयविभागको जानकर मोक्षके अभिलाषी पुरुषको ध्यानवाला होना चाहिए, अर्थात् ध्यानका अभ्यास करना चाहिए, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१३॥

अब आचार्य उन पुरुषोंका लक्षण कहते हैं जो यह मानते हैं कि इस वर्तमानकालमें ध्यानका होना संभव नहीं है—

अन्वयार्थ—(संका-कंखागहिया) शंकाशील और विषय-सुखकी आकांक्षावाले, (विसयपसत्ता) इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त (सुमग्गपब्भट्ठा) और मोक्षके सुमार्ग से प्रभ्रष्ट (केई) कितने ही पुरुष (एवं) इस प्रकार (भणंति) कहते हैं कि (कालो) यह काल (झाणस्स) ध्यानके योग्य (ण ?) नहीं (होइ) है।

टीकार्थ—'एवं भणंति केई' इस चरणमें पठित 'एवं' पद वक्ष्यमाण-वर्तमान कालकी अपेक्षा करता है। कितने ही संसारी जीव ऐसा कहते हैं कि यह वर्तमानकाल ध्यान योग्य नहीं है।

संसारिणो जीवाः। कथम्भूतास्ते ? 'संका-कंखागहिया' शङ्का-काङ्क्षा पूर्वोक्तलक्षणा, ताभ्यां गृहीता ग्रसिता वा। पुनश्च कथम्भूताः। पुनरपि किं विशिष्टाः ? सन्मार्गात् समीचीनमार्गात् प्रकर्षेण भ्रष्टाः 'विसयपसत्ता सुमग्गपब्भट्ठा' विषयप्रसक्ताः पञ्चेन्द्रियविषयेष्वासक्ता लम्पटाः। यतस्ते मोहान्धास्तत एव कारणात्, ध्यानाभावं कालमिमं प्रलुम्पयन्तीति प्रभ्रष्टा सन्तः। किं भणन्ति ? 'ण हि कालो होइ झाणस्स' कालोऽयं स्फुटं यथा ध्यानस्यार्हो न भवतीति भावार्थः ॥१४॥

अथ भट्टारकश्रीदेवसेनदेवास्तान् सुगृहीतध्यानाभावान् जीवान् सम्बोधयन्ति—

मूलगाथा—अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोए।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं ॥१५॥

संस्कृतच्छाया—अद्यापि त्रिरत्नवन्त आत्मानं ध्यात्वा यान्ति सुरलोकम्।
ततश्च्युत्वा मनुजत्वे उत्पद्य लभन्ते निर्वाणम् ॥१५॥

आगैं कहैं हैं अबार भी रत्नत्रयशुद्ध परंपरा करि मोक्ष जाय है—

भा० व०—अबार हू तीन रत्नत्रय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रवान् ऐसा साधू है ते आत्माकूं ध्याय करि सुरलोक विषैं जाय हैं, तहां तैं चय करि मनुष्यपणा विषैं उपजि करि निर्वाणकूं ही प्राप्त होय है।

भावार्थ—अबार पंचमकालविषैं दुःखमकालविषैं तीन रत्नवान् आत्माकूं ध्यान करि स्वर्गलोक जाय है। अर स्वर्गलोक तैं चयकरि मनुष्यपणा विषैं तीन वर्ण क्षत्री ब्राह्मण वैश्य इनिमैं

प्रश्न—वे संसारी जीव कैसे हैं ?

उत्तर—शंका और कांक्षासे गृहीत हैं। अर्थात् उन्हें जिन-वचनोंमें शंका है और वे विषय-सुखोंकी आकांक्षासे ग्रसित हैं।

प्रश्न—पुनः वे जीव कैसे हैं ?

उत्तर—पंच इन्द्रियोंके विषय-जनित सुखमें आसक्त हैं, अर्थात् लम्पट हो रहे हैं।

प्रश्न—पुनः वे जीव कैसे हैं ?

उत्तर—सुमार्गसे प्रभ्रष्ट हैं। अर्थात् मोक्षका रत्नत्रयस्वरूप जो समीचीन मार्ग है, उससे सर्वथा भ्रष्ट हो रहे हैं ?

उक्त प्रकारके विषयासक्त और सन्मार्ग-भ्रष्ट मनुष्य कहते हैं कि यह वर्तमान काल ध्यानके योग्य नहीं है, उनके ऐसा कहनेका कारण यह है कि वे मोहसे अन्धे हो रहे हैं, और इसी कारण वे इस कालमें ध्यानका अभाव बताकर ध्यानका लोप करना चाहते हैं। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१४॥

अव भट्टारक श्री देवसेनदेव ध्यानका अभाव कहनेवाले उन जीवोंको सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अज्जवि) आज भी (तिरयणवंता) रत्नत्रय-धारक मनुष्य (अप्पा) आत्माका (झाऊण) ध्यानकर (सुरलोयं) स्वर्गलोकको (जंति) जाते हैं, और (तत्थ) वहांसे (चुया) च्युत होकर (मणुयत्ते) उत्तम मनुष्यकुलमें (उप्पज्जिय) उत्पन्न हो (णिव्वाणं) निर्वाणको (लहहि) प्राप्त करते हैं।

टीका—'अज्जवि तिरयणवंता' इत्यादि पदखण्डनारूपेण टीकाकारो मुनिर्व्याख्यानं करोति। तथाहि—भो भव्यजना यूयं जिनोक्तनयविभागेनानभिज्ञाः सन्तो ध्यानमाहात्म्यं न जानीथ इति। किं तत् ? अद्यापि पञ्चमकलौ दुःखमकाले केचन सन्तो भव्यजीवा एवंविधाः सन्ति त्रिरत्न-वन्तः—त्रयाणां रत्नानां समाहारस्त्रिरत्नम्, द्वन्द्वैकत्वम् 'द्वन्द्वसमासैकत्वम्। त्रिरत्नं विद्यते येषां ते त्रिरत्नवन्तः। 'अप्पा झाऊण जंति सुरलोए' आत्मानं ध्यात्वा सम्यगेकाग्रचित्तेन ते सुरलोकं यान्ति गच्छन्तीति कालस्यानुसारेण वाञ्छितसुखं भुक्त्वा। 'तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं' ततः स्वर्गलोकाच्च्युत्वा मनुष्यत्वे वर्णत्रयमध्ये उत्तमकुलजातमनुष्यभवे समुत्पद्य राजाधिराज-महाराजार्धमण्डलेश्वर-मण्डलेश्वर-महामण्डलेश्वर-बलभद्रार्धचक्रि-सकलचक्रवर्त्तितीर्थ-कृत्प्रमुखानां पुरुषोत्तमानां मध्ये चैकतमं पदं प्राप्याभिलषितसुखमनुभूय च किञ्चिन्निमित्तं वैराग्यकारणं लब्ध्वा राज्यादिकं त्यक्त्वा जिनोक्तशिक्षां दीक्षां च प्रतिपाल्य निर्विकारचित्तेन भेदाभेदरत्नत्रयभावनास्वरूपेण शुद्धात्मानमाराध्य कर्मक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभन्ते। हीति मत्वा

उत्तम कुल जाति मनुष्यभवविषैं उपजि राजाधिराज महाराजा अर्धमंडलेश्वर बलभद्र सकलचक्री तीर्थंकृत मुख्यनिमैं कोई एक श्रेष्ठ पद पाय अर मनोवांछित सुखकूं ही अनुभव करि, अर कोई एक वैराग्यकारणकूं प्राप्त होय राज्यादिकनिकूं त्यागि अर जिनोक्त दीक्षा पालिकरि निर्विकार चित्त करि भेदाभेद रत्नत्रय भावना स्वरूप करि शुद्धात्माकूं आराधि कर्मका क्षयकूं करि निर्वाण कूं प्राप्त होय है। या प्रकार मानि मोक्षका वांछक भव्यनिनैं जिनोक्त धर्मध्यानविषैं श्रद्धानपूर्वक उद्यमविषैं तत्पर होना योग्य है ॥१५॥

टीकार्थ—टीकाकार कमलकीर्ति मुनि 'अज्जवि तिरयणवंता' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—उक्त प्रकारके विषयासक्त और ध्यानका अभाव कहनेवाले लोगोंको सम्बोधन करते हुए वे कहते हैं—भो भव्यजनो, तुम लोग जिन-प्ररूपित नयोंके विभागसे अनभिज्ञ होते हुए ध्यानमें माहात्म्यको नहीं जानते हो कि आज भी इस दुःखम पंचम कलिकालमें कितने ही त्रिरत्न-वन्त सन्त भव्य जीव हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन धर्मरूप रत्न हैं। तीन रत्नोंके समाहारको त्रिरत्न कहते हैं। ये त्रिरत्न जिनके पाये जाते हैं, वे त्रिरत्नवन्त कहलाते हैं। अर्थात् रत्नत्रयात्मक धर्मके धारण करनेवाले भव्य जीव 'अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं' आत्माका एकाग्र चित्तसे ध्यान करके देवलोकको जाते हैं और वहांपर अपनी आयुस्थितिके अनुसार वांछित सुख भोगकर 'तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं' उस स्वर्गलोकसे च्युत होकर मनुष्यत्व-में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन वर्णोंके मध्यमें उत्तमकुलीन मनुष्यभवमें उत्पन्न होकर, राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, बलभद्र, अर्धचक्री, सकल-चक्रवर्ती और तीर्थंकर-प्रमुख पुरुषोत्तमोंके मध्यमेंसे किसी एक पदको प्राप्त कर, तथा उसके अभिलषित सुखोंका अनुभव कर और किसी निमित्तभूत वैराग्यका कारण पाकर राज्यादिक सम्पदाका त्याग कर और जिन-प्ररूपित शिक्षाको ग्रहण कर तथा दीक्षाका भलीभांतिसे निर्विकार चित्त होकर परिपालन कर भेद-अभेदरूप रत्नत्रयकी भावनाके द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूपकी आराधना करके सर्व कर्मोंका क्षय करके निर्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं। ऐसा जानकर मोक्षाभिलाषी भव्य

६

मोक्षाभिलाषिभिर्भव्यैर्जिनोक्तधर्मध्यानेषु श्रद्धानपूर्वकमुद्यमपरायणैर्भवितव्यमिति भावार्थः ॥१५॥

अथ सूत्रकारो भव्यजनार्हां युक्तिं दर्शयति—

मूलगाथा—तम्हा अब्भसऊ सया मोत्तूणं राय दोस वा मोहे ।
झायउ णिय अप्पाणं जइ इच्छह सासयं सोक्खं ॥१६॥

संस्कृतच्छाया—तस्मादभ्यसत सदा मुक्त्वा राग-द्वेषौ वा मोहम् ।
ध्यायत निजात्मानं यदीच्छत शाश्वतं सौख्यम् ॥१६॥

टीका—'तम्हा' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण वृत्तिकारो व्याख्यानं करोति—'जइ इच्छह' भो भव्यजना यदि चेदिच्छत, किं तत् ? 'सासयं सोक्खं' शाश्वतं स्वाधीनमविनश्वरं सौख्यम् । 'तम्हा अब्भसऊ सया' तस्मात् कारणात् सदा सर्वकालं निरन्तरं सद्गुरूपदेशेन ध्यानमभ्यसत—अभ्यासं कुरुत । ध्यानाधिकाराद् ध्यानमेव प्राप्यते । किं कृत्वा ? पूर्वं 'मुत्तूणं रायदोस वा मोहे' मुक्त्वा, कौ ? राग-द्वेषौ । वा अथवा मोहमपि । पश्चात् किं कुरुत ? 'झायउ णियअप्पाणं'

आगैं कहैं हैं ताही कारणतैं ध्यानका अभ्यास करहू—

भा० वा०—ताही कारणतैं सदाकाल निजआत्माकूं ही ध्यावहू, अर अभ्यास करहू, अर राग द्वेष वा मोहकूं छांडिकरि जो शाश्वता सुखकूं इच्छा करो हो तो ॥१६॥

पुरुषोंको जिनोक्त धर्मध्यानमें श्रद्ध न-पूर्वक उद्यम करने में तत्पर होना चाहिए । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१५॥

अव गाथासूत्रकार आ० देवसेन भव्यजनोंके योग्य युक्तिको दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(तम्हा) इसलिए (जइ) यदि (सासयं) शाश्वत (सुक्खं) सुखको (इच्छह) चाहते हो तो (राय दोस वा मोहे) राग, द्वेष और मोहको (मोत्तूणं) छोड़कर (सया) सदा (अब्भसउ) ध्यानका अभ्यास करो और (णिय-अप्पाणं) अपनी आत्माका (झायउ) ध्यान करो ।

टीकार्थ—अब टीकाकार 'तम्हा अब्भसउ' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—'जइ इच्छह' भो भव्यजनो, यदि उस शाश्वत स्वाधीन और अविनश्वर सुखको चाहते हो 'तम्हा अब्भसउ सया' तो इसके लिए सदा सर्वकाल निरन्तर सद्गुरुके उपदेशानुसार ध्यानका अभ्यास करो । यहां ध्यानका अधिकार होनेसे 'ध्यान' पदका अध्याहार प्राप्त होता है ।

प्रश्न—क्या करके ध्यानका अभ्यास करें ?

उत्तर—'मोत्तूणं राय दोस वा मोहे' अर्थात् रागको, द्वेषको और मोहको छोड़कर ध्यानका अभ्यास करो क्योंकि इन राग-द्वेषादिका त्याग किये बिना ध्यानकी प्राप्ति असंभव है ।

प्रश्न—पुनः क्या करें ?

उत्तर—'झायउ णिय अप्पाणं' अर्थात् फिर अपनी शुद्ध-बुद्ध, चिदानन्दमय आत्माका ध्यान करो ।

ध्यायत निजात्मानम्। तथाहि–युक्तिं दर्शयति-प्राणिनां परिणामानां त्रैविध्यम्। कथम्? एकेऽशुभरूपाः परिणामाः, अन्ये शुभरूपास्तदभावाच्छुद्धा एव भवन्ति। ततोऽशुभरूपान् परिणामांस्त्यक्त्वा स्वाश्रमयोग्यशुभोपयोगेषु वर्तंत। किमर्थम्? दुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च तावत्कालं प्रवर्तत, यावच्छुद्धोपयोगं प्राप्नुवन्तीति मत्वा शुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा ध्यायतीति भावार्थः ॥१६॥

अथ भगवान् सूत्रकृदात्मलक्षणं लक्षयति—

मूलगाथा—दंसण-णाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥१७॥

संस्कृतच्छाया—दर्शन-ज्ञानप्रधानोऽसंख्यातप्रदेशः स्फुटं मूर्त्तिपरिहीनः।
स्वगृहीतदेहप्रमाणो ज्ञातव्य ईदृश आत्मा ॥१७॥

आगैं कहैं हैं राग द्वेषकौं त्याग करि निरंजन आत्माका ध्यान करो ऐसी प्रेरणा करै हैं—

भा० व०—निश्चय करि आत्मा ऐसा जानने योग्य है—दर्शन ज्ञान है प्रधान जाकै, अर असंख्यातप्रदेशी मूर्त्ति-रहित अमूर्त है, अर अपनी ग्रहण कीई देहकैं प्रमाण है ॥१७॥

उक्त प्रकारसे करनेमें आचार्य युक्ति दिखलाते हैं—जीवोंके परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—कितने ही परिणाम हिंसादि तो अशुभरूप होते हैं। कुछ परिणाम दया-दानादिरूप शुभ होते हैं। और कुछ परिणाम शुभ-अशुभभावके अभावसे शुद्धरूप होते हैं। इसलिए सर्वप्रथम अशुभ परिणामोंको छोड़कर अपने आश्रम या पदके योग्य शुभोपयोगमें प्रवृत्ति करो।

प्रश्न—किसलिए शुभोपयोगमें प्रवृत्ति करें?

उत्तर—आर्त्त-रौद्ररूप दुर्ध्यानसे बचनेके लिए और संसारकी स्थितिका छेदन करनेके लिए उस समयतक शुभोपयोगमें प्रवृत्ति करनी चाहिए, जब तक कि शुद्धोपयोग प्राप्त होवे।

ऐसा समझकर शुद्धोपयोगके द्वारा शुद्धात्मा ही ध्यान करनेके योग्य है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१६॥

अब सूत्रकार भगवान् देवसेन आत्माका लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(हु) निश्चयनयसे आत्मा (दंसण-णाणपहाणो) दर्शन और ज्ञानगुण प्रधान है, (असंखदेसो) असंख्यात प्रदेशी है, (मुत्तिपरिहीणो) मूर्त्तिसे रहित है, (सगहियदेहपमाणो) अपने द्वारा गृहीत देह-प्रमाण है। (एरिसो) ऐसे स्वरूपवाला (अप्पा) आत्मा (णायव्वो) जानना चाहिए।

टीका—इत्यवतारिकां कृत्वा विशेषमाह—तद्यथा, 'णायव्वो एरिसो अप्पा' आसन्नभव्यैर्भेदज्ञानिभिः ज्ञातव्यो भवति। कोऽसौ ? ह्यात्मा। कथम्भूतः ? ईदृग्। कीदृगिति 'दंसण-णाणपहाणो' दर्शन-ज्ञानप्रधानः—केवलदर्शनं केवलज्ञानं च, ताभ्यां प्रधानो दर्शन-ज्ञानप्रधानः। पुनश्च कथम्भूतः ? 'असंखदेसो हु' असंख्यातप्रदेशः—लोकमात्रासंख्यातप्रदेशप्रमाणः। पुनरपि कथम्भूतः ? 'मुत्ति परिहीणो। मूर्त्तिस्तु स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवती मूर्त्तिः, तया मूर्त्या परि समन्तात् हीनः रहितः परिहीनः, निश्चयनयेन मूर्त्तिपरिहीनः। पुनश्च किं विशिष्टः ? 'सगहियदेहपमाणो' व्यवहारनयेन वर्तमानकाले स्वगृहीतदेहप्रमाणः, जघन्येनाङ्गुलासंख्यातभागप्रमाणः। उत्कृष्टेन स्वयम्भूरमण-समुद्रमध्ये योजनानां सहस्रैकप्रमाणो देहो भवति। ततः पूर्वोपार्जितनामकर्मोदयजनितशरीर-प्रमाणोऽयमात्मेति ज्ञात्वा वस्तुतस्तत्त्वविद्भिः। पुरुषैः सर्वकालमुपादेयबुद्धया ज्ञातव्योऽनुभवनीयश्च भवतीति भावार्थः ॥१७॥

टीकार्थ—उक्त प्रकारसे गाथाका अवतरण करके अब उसका विशेष अर्थ कहते हैं—यथा 'णायव्वो एरिसो अप्पा' निकट भव्य भेदज्ञानी पुरुषोंको इस प्रकारका आत्मा जानना चाहिए।

प्रश्न—वह आत्मा किस प्रकारका है ?

उत्तर—'दंसण-णाणपहाणो' अर्थात् आत्मामें जो अनन्त गुण हैं, उनमेंसे केवल दर्शनरूप अनन्त दर्शन और केवल ज्ञानरूप अनन्तज्ञान, इन दो प्रधान गुणवाला है।

प्रश्न—पुनः वह आत्मा कैसा है ?

उत्तर—'असंखदेसो हु' अर्थात् लोकाकाशके समान असंख्यात प्रदेशप्रमाणवाला है।

प्रश्न—फिर भी वह कैसा है ?

उत्तर—'मुत्तिपरिहीणो' अर्थात् मूर्त्तिसे रहित है। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जावें, उसे मूर्त्ति कहते हैं। निश्चयनयसे वह आत्मा उक्त प्रकारकी मूर्त्तिसे सर्वथा रहित है।

प्रश्न—फिर भी वह कैसी विशेषतासे युक्त है ?

उत्तर—'सगहियदेहपमाणो' अर्थात् व्यवहारनयसे वर्तमानकालमें अपने द्वारा गृहीत शरीर प्रमाण है जो कि सूक्ष्मनिगोदिया जीवोंकी अपेक्षा जघन्यसे अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण देह-वाला है और उत्कृष्टरूपसे स्वयम्भूरमण समुद्रके मध्यमें अवस्थित एक हजार योजनवाले महा-मत्स्यके देह-प्रमाण है। इसलिए वह संसारी जीवोंकी अपेक्षा पूर्वोपार्जित नामकर्मके उदयसे उत्पन्न शरीर-प्रमाण है।

इस प्रकारसे वास्तविक तत्त्ववेत्ता पुरुषोंको अपने आत्माका स्वरूप जानकर सर्वकाल ही उपादेय बुद्धिसे आत्माका परिज्ञान और अनुभव करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१७॥

अथ कथमात्मा ध्यातव्यो भवतीति भगवानाह—

मूलगाथा—रागादिया विभावा बहिरंतर-उहयवियप्प मोत्तूणं ।
एयग्गमणो झायउ णिरंजणं णियय-अप्पाणं ॥१८॥

**संस्कृतच्छाया—रागादिकान् विभावान् बाह्याभ्यन्तरान् उभयविकल्पान्मुक्त्वा ।
एकाग्रमना ध्यायतु निरञ्जनं निजकात्मानम् ॥१८॥**

टीका—'रागादियेत्यादि—पदखण्डनारूपेण वृत्तिकर्ताऽऽचार्यश्रीकमलकीर्त्तिर्व्याख्यानं करोति। तथा च-'झायउ' ध्यायतु कश्चिदासन्नभव्यः। कम्? 'णियय-अप्पाणं' निजकात्मानं स्वकीयमात्मानम्। कथम्भूतम्? 'णिरंजणं' निरञ्जनं कर्माञ्जनरहितम्। कथम्भूतः सन् ध्यायत? 'एयग्गमणो' एकाग्रमनाः सन् एकाग्रचित्तः, ऐकाग्र्यं साम्यं स्वास्थ्यं शुद्धोपयोग एकार्थवाचकाः, तस्मिन् मनश्चित्तं एकाग्रचित्त इत्युच्यते। किं कृत्वा ध्यायतु? मुक्त्वा। कान् किमादिकान्? 'रागादिया' रागादीन् राग आदिर्येषां ते रागादयस्तान् राग-द्वेष-मोहादीन्। पुनश्च कथम्भूतान्? 'विभावा' विभावान्, विरुद्धा भावा विभावास्तान् विभावान् विभावरूपान्। पुनश्च किंविशिष्टान्?

आगैं ध्यान करणेकी विधि कहैं हैं—

भा० व०—एकाग्र मनकरि निज आत्माकूं ध्यायहू। कैसा है, निरंजन है, कर्म-कलंकरहित है। अर रागादिक जे विभाव भाव वाह्य अभ्यंतर तिनिकूं छोड़ि करि आत्मध्यान करहू ॥१८॥

अब भगवान् देवसेन बतलाते हैं कि कैसे आत्माका ध्यान करना चाहिए—

अन्वयार्थ—(रागादिया विभावा) रागादि विभावोंको, तथा (बहिरंतर-उहवियप्प) बाहिरी और भीतरी दोनों प्रकारके विकल्पोंको (मोत्तूणं) छोड़कर और (एयग्गमणो) एकाग्र मन होकर (णिरंजणं) कर्मरूप अंजनसे रहित शुद्ध (णियय-अप्पाणं) अपने आत्माका (झायउ) ध्यान करना चाहिए।

टीकार्थ—'रागादिया विभावा'इत्यादि गाथाका टीकाकार आचार्यश्रीकमलकीर्त्ति अर्थ—व्याख्यान करते हैं—कोई आसन्नभव्यजीव 'झायउ णियय-अप्पाणं' अपने स्वकीय आत्माका ध्यान करे।

प्रश्न—कैसे आत्माका ध्यान करे?

उत्तर—'णिरंजणं' अर्थात् कर्मरूप अंजनसे रहित निरंजन शुद्ध आत्माका ध्यान करे।

प्रश्न—कैसा होकर ध्यान करे?

उत्तर—'एयग्गमणो' अर्थात् एकाग्रमन होकर ध्यान करे। ऐकाग्र्य, साम्य, स्वास्थ्य और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। इस प्रकारके साम्यभावमें स्थित चित्तको एकाग्रचित्त कहते हैं।

प्रश्न—क्या करके आत्माका ध्यान करे?

उत्तर—'रागादिया विभावा बहिरंतर-उहयवियप्प मोत्तूणं' राग है आदिमें जिनके ऐसे राग द्वेष और मोहादिको—जो आत्मस्वरूपसे विरुद्ध विभाव परिणाम हैं—उनको छोड़कर, तथा

'बहिरंतरा' बाह्याभ्यन्तरगतान् चित्तगतवचनात्मकान् सामस्त्येन परभावान् 'मोत्तूणं' त्यक्त्वा स्वशुद्धात्मानं ध्यायतु स्मरतु चिन्तयतु 'ध्यै चिन्तायां' इत्यर्थः। इति मत्वा तज्ज्ञैर्भव्यजनैर्वस्तुतो निरञ्जनभावैर्भवितव्यमिति भावार्थः ॥१८॥

अथ भो भगवन्, निरञ्जनस्य लक्षणं कीदृगिति भगवानाह—

मूलगाथा—जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।
जाइ जरा मरणं चिय णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥१९॥

संस्कृतच्छाया—यस्य न क्रोधो मानो माया लोभश्च शल्य-लेश्याः।
जाति-जरा-मरणानि च निरञ्जनः सोऽहं भणितः ॥१९॥

टीका—'सो अहं भणिओ' इत्यादि–वृत्तिकारो मुनिर्विवृणोति-तथा च-स एवाहं भणितः। स एव कः? 'णिरंजणो' कर्माञ्जनरहितत्वात् निरञ्जनः। स एव निरञ्जनः-'जस्स ण कोहो' यस्य

आगैं निरंजनका लक्षण कहै हैं—

भा० व०—सो मैं हूँ सो कह्या सो कैसा है निरंजन, जाकैं क्रोध नांहीं, मान नांहीं, माया नांहीं, लोभ नाहीं, शल्य नांहीं, माया मिथ्या निदान नांहीं, अर लेश्या कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल लेश्यानि करि रहित ऐसा ॥१९॥

वचनात्मक बाहिरी विकल्पोंको एवं मनोगत विचारात्मक आन्तरिक विकल्पोंको सर्वप्रकार छोड़कर अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान करो, बार-बार स्मरण और चिन्तवन करो।

'ध्यै' यह संस्कृतभाषाकी धातु चिन्तन करनेके अर्थमें प्रयुक्त होती है। ऐसा समझकर आत्मज्ञ भव्यजनोंको वस्तुतः निरंजनभाववाला होना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥१८॥

अब शिष्य पूछता है—हे भगवन्, निरंजनका लक्षण कैसा है? ऐसा पूछनेपर भगवान् देवसेन कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसके (ण कोहो) न क्रोध है, (ण माणो) न मान है, (ण माया) न माया है, (ण लोहो) न लोभ है, (ण सल्ल) न शल्य है, (ण लेस्साओ) न कोई लेश्या है, (ण जाइ-जरा-मरणं चिय) और न जन्म, जरा और मरण भी है, (सो) वही (णिरंजणो) निरंजन (अहं) मैं (भणिओ) कहा गया हूँ।

टीकार्थ—'सो अहं भणिओ' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ-विवरण करते हैं—वही मैं कहा गया हूँ।

प्रश्न—वही कौन?

उत्तर—निरंजन मैं। कर्मरूप अञ्जनसे रहित होनेके कारण मैं निरंजन हूँ।

वही निरंजन है—'जस्स ण कोहो' अर्थात् जिसके क्रोध नहीं है।

क्रोधो नास्ति । अन्ये के के न सन्ति यस्य ? 'माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ' मानो मान-कषायः, माया मायाकषायः, लोभो लोभकषायश्च ? शल्यानि त्रीणि माया-मिथ्या-निदानरूपाणि । लेश्याः षट्–कृष्ण-नील-कापोताख्यास्तिस्रोऽशुभाः, पीतपद्म-शुक्लरूपास्तिस्रो लेश्याः शुभाः । 'जाइ-जरा-मरणं चिय' जातिरुत्पत्तिः, जरा वृद्धावस्था, मरणं दशप्राणाभावात् । जातिश्च जरा च मरणं च जातिजरामरणान्यपि यस्यैते दोषा न स्युः न भवेयुः, स एव निरञ्जनोऽहं भवामीति मत्वा मोक्षेच्छुभिः सुभव्यैः सर्वथाऽसौ निरञ्जनभावो भावनीयो भवतीति भावार्थः ।।१९।।

अथ तस्य निरञ्जनस्य किं किं नास्तीति सूत्रकर्ता भगवानाह—

मूलगाथा—णत्थि कलासंठाणं मग्गण गुणठाण जीवठाणाइ ।
ण य लद्धिबंधठाणा णोदयठाणाइया केई ।।२०।।

संस्कृतच्छाया—न सन्ति कलासंस्थानं मार्गणा-गुणस्थान-जीवस्थानानि ।
न च लब्धि-बन्धस्थानान्युदयस्थानादिकानि कानिचित् ।।२०।।

वहुरि निरंजनका ही लक्षण कहै हैं—

भा० व०—शुद्ध निरंजन आत्माविषैं कोई कला नांहीं है, अर कोई संस्थान नांहीं, अर कोई मार्गणा नांहीं । गति इंद्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या भव्यत्व सम्यक्त्व संज्ञा आहार इत्यादिक मार्गणा नांही हैं । अर गुणस्थान नांहीं । मिथ्यात्व १ सासादन २ मिश्र ३ अविरत ४ देशविरत ५ प्रमत्त ६ अप्रमत्त ७ अपूर्वकरण ८ अनिवृत्तिकरण ९ सूक्ष्मसांपराय १० उपशांतमोह ११ क्षीणमोह १२ सयोगी १३ अयोगी इत्यादि गुणस्थान नांहीं, जीवस्थान नांहीं । अर लब्धिस्थान कोऊ ही नांहीं है । अर कोई उदयस्थान हूं नांही है ।।२०।।

प्रश्न—उसके अन्य कौन कौन विभाव नहीं हैं ?

उत्तर—'माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ' अर्थात् जिसके न मान कषाय है, न माया कषाय है, न लोभकषाय है, और न माया, मिथ्यात्व और निदानरूप तीनों शल्य हैं, तथा जिसके कृष्ण, नील, कापोतनामकी ये तीन अशुभ लेश्याएं, एवं पीत, पद्म और शुक्लरूप तीन शुभ लेश्याएं, ये छहों लेश्याएं नहीं हैं । तथा 'जाइजरा-मरणं चिय' अर्थात् जाति जन्म या उत्पत्ति, जरा-वृद्धावस्था और दश प्राणोंके अभावरूप मरण भी नहीं है । इस प्रकारसे जिसके जन्म, जरा और मरणरूप कोई दोष नहीं हैं ।

उक्त प्रकारका निरंजन मैं हूँ, ऐसा मानकर मोक्षके इच्छुक उत्तम भव्यजनोंको सर्वप्रकारसे वह निरंजनभाव भावना करनेके योग्य है । यह इस गाथाका भावार्थ है ।।१९।।

पुनः शिष्यने पूछा—उस निरंजन आत्माके और क्या क्या नहीं होते हैं ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् सूत्रकार देवसेन कहते हैं—

अन्वयार्थ—उस निरंजन आत्माके (णत्थि कला) कोई कला नहीं है, (संठाणं) कोई संस्थान नहीं है, (मग्गण-गुणठाण) कोई मार्गणास्थान नहीं है, कोई गुणस्थान नहीं है, (जीवट्ठाणाइं) और न कोई जीवस्थान है (ण य लद्धि बंधट्ठाणा) न कोई लब्धिस्थान हैं, न कोई बन्धस्थान हैं, (णोदयठाणाइया केई) और न कोई उदयस्थान आदि हैं ।

टीका—'णत्थि कलासंठाणं' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण भट्टारकश्रीकमलकीर्त्तिना विशेषव्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—तस्य जीवस्येत्यध्याहारः क्रियते। न सन्ति न विद्यन्ते। काः? कलाः कर्मक्षयोपशमजनिता व्यावहारिका द्विसप्ततिसंख्याकाः कलाः। अन्यान्यपि न सन्ति। तानि कानि कानि? षट् संस्थानम्—समचतुरस्राख्यं प्रथमं संस्थानम् १, न्यग्रोधसंस्थानं द्वितीयं २, स्वातिसंस्थानं तृतीयं ३, कुब्जकसंस्थानं चतुर्थं ४, वल्मीकसंस्थानं पञ्चमं ५, हुण्डकनामसंस्थानं षष्ठम् ६। एवंविधानि षट्संस्थानानि तस्य न सन्ति। पुनश्च का न सन्ति? 'मग्गण' मार्गणाश्चतुर्दश। तथाहि—

गइ इंदिए च काए जोऐ बेऐ कसायणाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥२१॥

गतयश्चतस्रो भवन्ति–नरकगतिः १, तिर्यग्गतिः २, मनुष्यगतिः ३, देवगतिरिति ४। नरकगतौ तु सप्ताधोऽधोभागेन भूमयो भवन्ति–रत्नप्रभा १, शर्कराप्रभा २, वालुकाप्रभा ३, पङ्कप्रभा ४, धूमप्रभा ५, तमःप्रभा ६, महातमःप्रभा ७ इति सप्तसु भूमिमध्ये एकोनपञ्चाशत् पटलानि सन्ति। कथम्? प्रथमायां भूमौ त्रयोदश पटलानि १३। द्वितीयायां चैकादश ११, तृतीयायां नव पटलानि ९, चतुर्थ्यां सप्त ७, पञ्चम्यां पञ्च पटलानि ५, षष्ठ्यां भूमौ त्रीणि पटलानि ३, सप्तमभूमौ

टीकार्थ—'णत्थि कला संठाणं' इत्यादि गाथाका भट्टारक श्री कमलकीर्त्ति विशेष व्याख्यान करते हैं—यहां पर 'उस निरंजन जीवके' इस पदका अध्याहार करना चाहिए। उस निरंजन आत्माके ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली व्यावहारिक गीत-संगीत आदि बहत्तर कलाओंमेंसे कोई कला नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक वस्तुएं नहीं हैं।

प्रश्न—वे अन्य कौन कौन वस्तुएं नहीं हैं?

उत्तर—वे वस्तुएं इस प्रकार हैं—संस्थान (शरीरका आकार) छह प्रकारका होता है—१ समचतुरस्रसंस्थान, २ न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, ३ स्वातिसंस्थान, ४ कुब्जकसंस्थान, ५ वल्मीकसंस्थान और ६ हुण्डकसंस्थान। इन छह प्रकारके संस्थानोंमेंसे उस निरंजन आत्माके कोई भी संस्थान नहीं है।

प्रश्न—और उस निरंजन अ त्माके क्या नहीं है?

उत्तर—चौदह मार्गणास्थान भी नहीं हैं। वे चौदह मार्गणास्थान इस प्रकार हैं—

१ गतिमार्गणा, २ इन्द्रियमार्गणा, ३ कायमार्गणा, ४ योगमार्गणा, ५ वेदमार्गणा, ६ कषायमार्गणा, ७ ज्ञानमार्गणा, ८ संयममार्गणा, ९ दर्शनमार्गणा, १० लेश्यामार्गणा, ११ भव्यमार्गणा, १२ सम्यक्त्वमार्गणा, १३ संज्ञिमार्गणा और १४ आहार मार्गणा ॥२१॥

गतियां चार होती हैं—१ नरकगति, २ तिर्यंग्गति, ३ मनुष्यगति और ४ देवगति। नरकगतिमें नीचे नीचे अधोभागमें सात भूमियां हैं—१ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ वालुकाप्रभा, ४ पंकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमःप्रभा और ७ महातमःप्रभा। इन सातों भूमियोंके मध्य भागमें उनंचास (४९) पटल हैं। वे इस प्रकार हैं—पहिली भूमिमें तेरह पटल हैं १३। दूसरी भूमिमें ग्यारह पटल हैं ११। तीसरी भूमिमें नौ पटल हैं ९। चौथी भमिमें सात पटल हैं ७। पांचवीं भूमिमें पांच पटल

पटलमेकम् १। तासु सप्तसु भूमीषु बिलानि चतुरशीतिर्लक्षाः ८४०००००। कथं भवन्तीति क्रमेण कथ्यते—प्रथमभूमौ बिलानि त्रिंशल्लक्षाः ३००००००। एतेषां मध्ये इन्द्रकास्त्रयोदश १३। श्रेणि-बद्धानि चतुश्चत्वारिंशच्छतानि विंशत्यधिकानि ४४२०। शेषाणि मिश्ररूपाणि २९९५५६७। कापोतलेश्याया जघन्यभागो जघन्यायुर्वर्षदशसहस्राणि १००००। उत्कृष्टायुरेकसागरोपमम्। जघन्योत्सेधो नारकाणां त्रयो हस्ताः ३। उत्कृष्टतः सप्त धनूंषि ७ हस्तास्त्रयः ३ अङ्गुलानि षट् ६। तेषामवधिश्चत्वारः क्रोशाः ४। इति प्रथमभूमिविशेषः समाप्तः।

अथ द्वितीयशर्कराप्रभायां बिलानि पञ्चविंशतिर्लक्षाः २५०००००। इन्द्रका एकादश ११, श्रेणिबद्धानि षड्विंशतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि २६८४। उद्धरितानि मिश्राणि २४९७३०५। मध्यमा कापोतलेश्या। जघन्यायुः सागरोपमप्रमाणं त्रिसागरोपमप्रमाणमुत्कृष्टम्। जघन्योत्सेधः पूर्वोक्तः स एव। तस्योत्कृष्ट उत्सेधो द्विगुणः। तेषामवधिः सार्धक्रोशत्रयम्। इत्येकरज्जुमध्ये द्वे भूमि स्तः २।

अथ द्वितीयरज्जूमध्ये तृतीयभूमिस्तस्यां बालुकाप्रभाख्यायां भूमौ बिलानि पञ्चदश लक्षाः १५०००००। एतेषां मध्ये नवेन्द्रकाः ९। श्रेणीबद्धानि चतुर्दश शतानि षट्सप्तत्यधिकानि १४७६। इतराणि पुष्पप्रकीर्णकमिश्रसंज्ञानि १४९८५१५। उत्कृष्टा कपोतलेश्या जघन्यांशा नीललेश्या।

हैं ५। छठी भूमिमें तीन पटल हैं ३। और सातवीं भूमिमें एक पटल है १। उन सातों ही भूमियोंमें चौरासी लाख बिल हैं ८४०००००।

वे बिल (नारकियोंके रहनेके स्थान) किस प्रकारसे किस भूमिमें कितने हैं? यह क्रमसे कहते हैं—प्रथम भूमिमें तीस लाख बिल हैं ३००००००। इनके मध्यमें इन्द्रक नामके तेरह बिल हैं। श्रेणीवद्ध (दिशा-गत) बिल बीस अधिक चवालीस सौ ४४२० हैं। शेष मिश्ररूप बिल २९९५५६७ हैं। पहिली नरक भूमिमें कापोत लेश्याका जघन्य भाग है। जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है १००००। उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम है। यहांके नारकियोंके शरीरकी जघन्य ऊंचाई तीन हाथ है और उत्कृष्ट ऊंचाई सात धनुष ७, तीन हाथ ३, छह अङ्गुल ६ है। उनका अवधिज्ञान चार कोश प्रमाण है ४। इस प्रकार प्रथम भूमिका विशेष वर्णन किया।

अब दूसरी भूमिका वर्णन करते हैं—दूसरी शर्कराभूमिमें बिल पच्चीस लाख हैं २५०००००। उनमें इन्द्रक बिल ग्यारह हैं ११। श्रेणिबद्ध बिल चौरासी अधिक छब्बीस सौ २६८४ हैं। शेष मिश्ररूप बिल २४९७३०५ हैं। दूसरी भूमिके नारकियोंके मध्यम कापोतलेश्या है। उनकी जघन्य आयु एक सागरोपम प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु तीन सागरोपमप्रमाण है। यहांके नारकियोंके शरीरकी जघन्य ऊंचाई पूर्वोक्त ७ धनुष, ३ हाथ और छह अङ्गुल है। तथा उत्कृष्ट ऊंचाई जघन्य से दुगुनी अर्थात् १५ धनुष, २ हाथ १२ अङ्गुल है। यहांके नारकियोंका अवधिज्ञान साढ़े तीन कोश प्रमाण है। पहिली और दूसरी ये दो भूमियां एक राजुके भीतर हैं।

अब दूसरी राजुके मध्यमें जो तीसरी वालुकाप्रभानामकी भूमि है, उसमें पन्द्रह लाख बिल हैं १५०००००। इनके मध्यमें नौ इन्द्रक बिल हैं ९। श्रेणीबद्ध बिल छिहत्तर अधिक चौदह सौ १४७६ हैं। शेष पुष्पप्रकीर्णक नामवाले बिल चौदह लाख अठयानवै हजार पांच सौ पन्द्रह १४९८५१५ हैं। इस तीसरी नरकभूमिमें उत्कृष्ट कापोत लेश्या और नील लेश्याका जघन्य अंश

जघन्यायुस्त्रिसागरोपमप्रमाणम् ३। उत्कृष्टं सप्तसागरोपमप्रमाणम् ७। जघन्योत्सेधः पञ्चदश धनूंषि १५ द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानि १२। उत्कृष्ट उत्सेधस्तद्विगुणः धनूंषि ३१, हस्तः १। क्रोशास्त्रयोऽवधिर्भवेत्।

अथ तृतीयरज्जूमध्ये पङ्कप्रभायां चतुर्थभूमौ बिलानि दशलक्षाः १०००००० । एतेषां मध्ये इन्द्रकसंज्ञानि सप्त। श्रेणीबद्धानि सप्त शतानि ७००। अन्यानि पुष्पप्रकीर्णकमिश्रसंज्ञानि ९९९२९३। नीललेश्या मध्यमांशा। जघन्योत्सेधः स एव पूर्वोक्तः। उत्कृष्टोत्सेधो धनूंषि ६२ हस्त २। जघन्यायुः पूर्वोक्तम्। उत्कृष्टं दशसागरोपमम् १०। सार्धक्रोशद्वयमवधिर्भवेत्। इति चतुर्थनरकभूमिः ४।

अथ चतुर्थरज्जूमध्ये धूमप्रभायां पञ्चमभूमौ बिलानि तिस्रो लक्षाः ३००००० । एतेषां मध्ये पञ्चेन्द्रकाः ५। श्रेणीबद्धानि षष्ट्यधिके द्वे शते २६०। उद्धरितानि मिश्ररूपाणि २९९७३५। नीललेश्योत्कृष्टांशा कृष्णलेश्या जघन्या। जघन्योत्सेधः स एव पूर्वोक्तः। उत्कृष्टोत्सेधो धनूंषि १२५। जघन्यमायुः पूर्वोक्तमेव। उत्कृष्टमायुः (सप्तदश सागरोपमम् १७। क्रोशद्वयमवधिर्भवेत्। इति पञ्चमनरकभूमिः ५)

(अथ पञ्चमरज्जूमध्ये तमःप्रभायां षष्ठभूमौ बिलानि पञ्चोनैकलक्षाः ९९९९५। एतेषां मध्ये त्रय इन्द्रकाः ३। श्रेणिबद्धानि षष्ठी ६०। उद्धरितानि मिश्ररूपाणि ९९९३, । मध्यमा

है। यहांके नारकियोंकी जघन्य आयु तीन सागरोपम प्रमाण है ३। तथा उत्कृष्ट आयु सात सागरोपम प्रमाण है ७। यहांके नारकियोंके शरीरकी जघन्य ऊंचाई पन्द्रह धनुष १५ दो हाथ २, और बारह अंगुल १२ प्रमाण है। उत्कृष्ट ऊंचाई इससे दुगुनी अर्थात् ३१ धनुष और १ हाथ प्रमाण है। यहांके नारकियोंका अवधिज्ञान तीन कोश प्रमाण है।

अब तीसरी राजुके मध्यमें पंकप्रभानामकी जो चौथी नरकभूमि है उसमें दश लाख बिल हैं १००००००। इनके मध्यमें सात इन्द्रक बिल हैं। श्रेणीबद्ध बिल सातसौ हैं ७००। अन्य पुष्पप्रकीर्णकमिश्रसंज्ञावाले बिल नौ लाख निन्यानवे हजार दो सौ तिरानवै ९९९२९३ हैं। यहांके नारकियोंके नीललेश्याका मध्यम अंश है। शरीरकी जघन्य ऊंचाई वही पूर्वोक्त ३१ धनुष १ हाथ प्रमाण है तथा उत्कृष्ट ऊंचाई ६२ धनुष और २ हाथ प्रमाण है। जघन्य आयु पूर्वोक्त सात सागरोपम प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु दस सागरोपम प्रमाण है १०। यहांके नारकियोंका अवधिज्ञान ढाई कोश प्रमाण है। इस प्रकार चौथी नरक भूमिका वर्णन किया ४।

अब चौथी राजुके मध्यमें जो धूमप्रभा नामकी जो पांचवीं नरकभूमि है उसमें बिल तीन लाख हैं ३०००००। इनके मध्यमें पांच इन्द्रक बिल हैं। श्रेणीबद्ध बिल साठ अधिक दो सौ २६० हैं। शेष मिश्ररूप बिल दो लाख निन्यानवै हजार सात सौ पैंतीस २९९७३५ हैं। यहांके नारकियोंके नील लेश्याका उत्कृष्ट अंश और कृष्णलेश्याका जघन्य अंश है। शरीरकी जघन्य ऊंचाई वही पूर्वोक्त ६२ धनुष २ हाथ प्रमाण है और उत्कृष्ट ऊंचाई एक सौ पच्चीस १२५ धनुष प्रमाण है। जघन्य आयु पूर्वोक्त दश सागरोपमप्रमाण है और उत्कृष्ट आयु सत्रह १७ सागरोपमप्रमाण है। यहांके नारकियोंका अवधिज्ञान दो कोश प्रमाण है। इस प्रकार पांचवीं नरक भूमिका वर्णन किया ६।

अब पांचवीं राजुके मध्यमें जो तमःप्रभा नामकी छठी भूमि है उसमें पांच कम एक लाख ९९९९५ बिल हैं। इनके मध्यमें तीन इन्द्रक बिल हैं। श्रेणीबद्ध बिल साठ ६० हैं। शेष मिश्ररूप

कृष्णलेश्या। जघन्योत्सेधः स एव पूर्वोक्तः। उत्कृष्टोत्सेधः धनूंषि २५०। जघन्यमायुःप्रमाणं पूर्वोक्तमेव। उत्कृष्टमायुः द्वाविंशतिसागरोपमम् २२। सार्धक्रोशमवधिर्भवेत् इति षष्ठनरकभूमिः ६)

(अथ षष्ठरज्जूमध्ये महातमःप्रभायां सप्तमभूमौ विलानि पंच ५। एतेषां मध्ये इन्द्रकः १। श्रेणीबद्धानि ४। उत्कृष्टा कृष्णलेश्या। जघन्योत्सेधः स एव पूर्वोक्तः। उत्कृष्टोत्सेधः धनूंषि ५००। जघन्यमायुःप्रमाणं) पूर्वोक्तमेव। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणमुत्कृष्टमायुः। तेषामवधिरेकः क्रोशः। इति सप्तमं नरकवर्णनं समाप्तम्।

अथ सप्तमरज्जूमध्ये निगोदास्तिष्ठन्ति वातवलयत्रयपर्यन्तम्। तेषां नारकाणां पञ्चप्रकाराणि क्षेत्रोद्भव-शरीर-वचनोद्भव-मानसिकासुरोदीरितलक्षणानि दुःखानि भवन्ति। तीव्रपापकर्मोदयाच्च चतुर्थपर्यन्त-सम्बन्धिनां नारकाणामुष्णवेदना स्यात्। पञ्चमनरकद्विभागयोरुष्णवेदना, तृतीयभागे शीतवेदना केवला। षष्ठ-सप्तमनरकयोरत्यन्तशीतवेदना जायतेतराम्।

पञ्चेन्द्रियासंज्ञिनो जीवा मृताः सन्तः प्रथमनरके यान्ति। द्वितीयनरके षारटाः (सरीसृपाः) यान्ति। पक्षिणस्तृतीये। सर्पोरुगाश्चतुर्थे गच्छन्ति। सिंहाः पञ्चम्यां यान्ति। षष्ठयां भूमौ पापाः

बिल निन्यानवै हजार नौ सौ पैंतीस ९९९३५ हैं। यहांके नारकियोंके मध्यम कृष्ण लेश्या है। शरीरकी जघन्य ऊंचाई वही पूर्वोक्त १२५ धनुष प्रमाण है और उत्कृष्ट ऊंचाई २५० धनुष है। जघन्य आयुका प्रमाण पूर्वोक्त सत्रह सागरोपम १७ है। उत्कृष्ट आयु बाईस सागरोपमप्रमाण है २२। यहांके नारकियोंका अवधिज्ञान डेढ़ कोश प्रमाण है। इस प्रकार छठी नरक भूमिका वर्णन किया ६।

अब छठी राजुके मध्यमें महातमःप्रभा नामकी जो सातवीं नरकभूमि है उसमें केवल पांच बिल हैं ५। इनमेंसे एक इन्द्रक बिल है और चार श्रेणीबद्ध बिल हैं। यहांके नारकियोंके उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या होती है। शरीरकी जघन्य ऊंचाई वही पूर्वोक्त २५० धनुष है और उत्कृष्ट ऊंचाई ५०० धनुष प्रमाण है। जघन्य आयु-प्रमाण पूर्वोक्त २२ सागरोपम है और उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागरोपमप्रमाण है। वहांके नारकियोंका अवधिज्ञान एक कोश प्रमाण है। इस प्रकार सातवीं नरकभूमिका वर्णन समाप्त हुआ।

इसके नीचे सातवीं राजुके मध्यमें तीनों वातवलयों पर्यन्त सर्वत्र एकेन्द्रिय निगोदिया जीव रहते हैं।

ऊपर कही गई नरकभूमियोंमें रहनेवाले नारकियोंके पांच प्रकारके दुःख होते हैं—१ क्षेत्र-जनित, २ शारीरिक, ३ वचन-जनित, ४ मानसिक और ५ असुरकुमारोदित। तीव्र पापकर्मके उदयसे चौथी पृथ्वी तकके नारकियोंके उष्णवेदना होती है। पांचवीं नरकभूमिके आदिके दो भागोंमें उष्णवेदना और तीसरे भागमें केवल शीतवेदना होती है। छठी और सातवीं नरकभूमिमें अत्यन्त शीत वेदना होती हैं।

पंचेन्द्रिय-असंज्ञी जीव मरण करते हुए प्रथम नरकमें जाते हैं। शरट (सरीसृप) दूसरे नरकमें जाते हैं। पक्षी तीसरे नरकमें जाते हैं। फणवाले सांप-उरग चौथे नरकमें जाते हैं। सिंह पांचवीं

स्त्रियो व्यभिचारिण्यो गच्छन्ति। सप्तम्यां भूमौ पापकर्मोदयतो मनुष्याः मत्स्याश्च मृताः यान्ति।

सप्तमनरकान्निःसृता मनुष्या न भवन्ति, किन्तु तिर्यञ्चः सिंहादयो जायन्ते। षष्ठनरकान्निर्गताः केचन मनुष्या भवन्ति, संयमं न प्राप्नुवन्ति। पञ्चमान्निर्गता मनुष्याः संयमिनश्च भवन्ति, केवलज्ञानं न प्राप्नुवन्ति। चतुर्थनरकादागता मनुष्याः संयमिनो मोक्षगामिनो भवन्ति, तीर्थंकरा न भवन्ति। तृतीय-द्वितीय-प्रथमनरकेभ्यो निर्गता मनुष्याः संयमिनस्तीर्थंकराश्च भवन्ति।

अथ सप्ताधोभूमीषु नारकाणां नरकगतीषु सम्यक्त्वोत्पत्तिविशेषमाह। तथाहि—सर्वासु पृथ्वीषु नारकाणां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वद्वयमुत्पद्यते। प्रथमायां पृथिव्यां पर्याप्तकानां क्षायिकं चास्ति। तत्र सर्वेषां नारकाणां नपुंसकलिङ्गमस्ति केवलम्, स्त्री-पुंल्लिगद्वयं नास्ति। संस्थानं हुण्डकमेव। ते सर्वे नारकाः पञ्चेन्द्रियाः संज्ञिनश्च भवन्ति।

तीव्रपापकर्मोदयादुत्कृष्टेन कस्मिन् कस्मिन्नरके कति-कतिवारान् यान्ति दुष्टजीवा इत्याह। तद्यथा—सप्तम्यां च नियमाद् द्विवारं यान्ति सततमुत्कृष्टो जघन्येनैकवारम् १। तथा षष्ठ्यां त्रीन् वारान् यान्ति ३। पञ्चम्यां चतुरो वारान् ४। चतुर्थ्यां पञ्चवारान् ५। तृतीयायां षट् वारान् ६। द्वितीयायां सप्तवारान् ७। प्रथमायामष्टौ वारान् यान्ति ८। तथा चोक्तं त्रैलोक्यदीपके—

नरकभूमिमें जाते हैं। पापिनी व्यभिचारिणी स्त्रियां छठी नरकभूमिमें जाती हैं। सातवीं नरकभूमिमें पापकर्मके उदयसे मनुष्य और मत्स्य मरकर उत्पन्न होते हैं।

सातवें नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य नहीं होते हैं, किन्तु सिंहादिक क्रूर तिर्यंच होते हैं। छठे नरकसे निकले हुए कितने ही जीव मनुष्य तो होते हैं, किन्तु संयमको धारण नहीं कर पाते हैं। पांचवें नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य और संयमके धारक तो होते हैं, किन्तु केवलज्ञानको प्राप्त नहीं करते हैं। चौथे नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य, संयमी और मोक्षगामी तो होते हैं, किन्तु तीर्थंकर नहीं होते हैं। तीसरे, दूसरे और पहिले नरकसे निकले हुए जीव मनुष्य, संयमी और तीर्थंकर होते हैं।

अब सातों अधोभूमियोंवाली नरकगतियोंमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके विशेषको कहते हैं। यथा—सभी पृथिवियोंमें पर्याप्तक नारकोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व उत्पन्न होते हैं। पहिली पृथिवीमें पर्याप्तक नारकोंके क्षायिक सम्यक्त्व भी होता है। उन सभी नारकोंके केवल एक नपुंसक लिंग ही होता है, स्त्रीलिंग और पुल्लिग ये दो लिंग नहीं होते। सभी नारकोंके एक हुण्डक संस्थान ही होता है। वे सभी नारकी पंचेन्द्रिय और संज्ञी होते हैं।

अब तीव्र पापकर्मके उदयसे किस-किस नरकमें दुष्ट जीव अधिकसे अधिक कितने-कितने वार जाते हैं, यह बतलाते हैं यथा—सातवीं नरकभूमिमें नियमसे लगातार उत्कृष्टतः दो बार जाते हैं और जघन्यतः एक बार जाते हैं। छठी नरकभूमिमें तीन बार जाते हैं ३। पांचवीं नरकभूमिमें चार बार जाते हैं ४। चौथी नरकभूमिमें पांच बार जाते हैं ५। तीसरी नरकभूमिमें छह बार जाते हैं ६। दूसरी नरकभूमिमें सात बार जाते हैं ७। और पहिली नरकभूमिमें आठ बार जाते हैं ८। जैसा कि त्रैलोक्यदीपकमें कहा है—

यातो यः प्रथमां भूमिं सोऽष्ट कृत्वा तथा व्रजेत् ।
एकैकं हीयमानेन शेषभूमिं प्रयान्ति च ॥२२॥

अथ तिर्यग्गतिः कथ्यते । तथाहि–तिरश्चां भेदमाह—स्थावर-त्रसभेदाद् द्विविधास्तिर्यञ्चः । तन्मध्ये स्थावराः पञ्चप्रकाराः–पृथ्वीकायाप्काय-तेजस्काय-वायुकाय-वनस्पतिकायाः सूक्ष्म-बादरैकेन्द्रियाः । त्रसास्तु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-संज्ञ्यसंज्ञि-पर्याप्तापर्याप्ताश्च सर्वे तिर्यञ्च एव । पञ्चस्थावराणां संस्थानानि मसूरिका-कुशाग्रस्थबिन्दु-सूचि-पताकाकाराणि पृथिव्यप्तेजोवातकायिकानां चतुर्णाम् । वनस्पतिकायिकानां चानेकविधं संस्थानम् । तथा त्रसानामपि संस्थानमागमानुसारेण ज्ञातव्यम् । तेषां तिरश्चामायुरुत्कृष्टं पल्यत्रयम्, जघन्यमन्तर्मुहूर्तम् । उत्सेधस्तेषामुत्कृष्टः क्रोशत्रयप्रमाणम् । रज्ज्वेक मध्ये तिर्यग्लोकः क्षेत्रमस्ति । स्त्री-पुन्नपुंसकलिङ्गानि भवन्ति । चतुर्विधार्त्तध्यानेनोत्पद्यन्ते तिर्यञ्चश्चेति तिर्यग्गतिः ।

अथ मनुष्यगतिरुच्यते । तद्यथा-सार्धद्वीपद्वयमध्ये मानुषोत्तरपर्वतपर्यन्तक्षेत्रे भवन्ति

जो जीव पहिली भूमिमें जाता है, वह उत्कृष्टरूपसे आठ बार वहां जाता है । पुनः एक-एक हीयमान बारसे शेष भूमियोंको जाता है ॥२२॥

अब तिर्यग्गतिका वर्णन करते हैं। पहिले तिर्यंचोंके भेद कहते हैं—तिर्यंच त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके हैं । उनमें स्थावर जीव पांच प्रकारके हैं— पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय । ये सभी एकेन्द्रिय स्थावर जीव सूक्ष्म भी होते हैं और बादर भी होते हैं । त्रसजीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियके भेदसे चार प्रकारके होते हैं । पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारके होते हैं । पुनः ये सभी तिर्यंच जीव पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं । पांच प्रकारके स्थावरोंमेंसे पृथ्वीकायका संस्थान मसूरके समान होता है, अप्कायका संस्थान कुशाके अग्रभागपर स्थित जल-बिन्दुके समान होता है, तैजस्कायका संस्थान सूची (सूई) के समान होता है और वायुकायका संस्थान पताका (ध्वजा) के आकारका होता है । वनस्पतिकायिकजीवोंका संस्थान अनेक प्रकारका होता है । तथा त्रस जीवोंका संस्थान भी आगमके अनुसार जानना चाहिए ।

भोगभूमिमें पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्यप्रमाण होती है और कर्मभूमिके तिर्यंचोंकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण होती है । उक्त तिर्यंचोंके शरीरकी उत्कृष्ट ऊंचाई तीन कोश प्रमाण होती है । एक राजुके मध्यमें तिर्यग्-लोक क्षेत्र है । तिर्यंच स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों लिंगवाले होते हैं । चार प्रकारके आर्त्तध्यानसे मरकर जीव तिर्यंच गतिमें उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार तिर्यग्गतिका वर्णन किया ।

अब मनुष्यगतिका वर्णन करते हैं । यथा—अढाई द्वीपके मध्य मानुषोत्तर पर्वततकके क्षेत्रमें मनुष्य उत्पन्न होते हैं । वे आर्य, म्लेच्छ, भोगभूमिज और कुभोगभूमिजके भेदसे चार प्रकारके होते हैं । उनमें आर्य मनुष्य स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों लिंगवाले होते हैं । तथा वे पर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त भी होते हैं । इसी प्रकार म्लेच्छखण्डमें उत्पन्न हुए मनुष्य भी जानना चाहिए ।

मनुष्याः। ते आर्य-म्लेच्छ-भोगभूमि-कुभोगभूमिजाश्चतुर्विधाः। तत्रार्याः स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गाः पर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्ता स्तथैव म्लेच्छखण्डोत्पन्नाः मनुष्याः। शरीरप्रमाणमुत्कृष्टं धनुषां पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चशतानि। तेषामार्यम्लेच्छखण्डजानामुत्कृष्टमायुः कोटयेकपूर्वप्रमाणम्। जघन्यमायुश्चान्तर्मुहूर्तम्।

किंच आर्यक्षेत्रजा मनुष्या व्रततपोऽणुव्रत-महाव्रतानि लब्ध्वा कर्मक्षयं कृत्वा केचन मोक्षं च लभन्ते, न तु म्लेच्छखण्डजा व्रततपश्चरणाद्यभावात्। भोगभूमिजानां मनुष्याणामुत्तम-मध्यम-जघन्यापेक्षया कायोत्सेधः त्रिद्वयेकक्रोशप्रमाणमनुक्रमेण। आयुश्च त्रिपल्यद्विपल्यैकपल्यप्रमाणं भवेत्। लेश्यास्तु द्रव्य-भावरूपाः शुभाः पीतपद्मशुक्लास्तिस्रो भवन्ति। तीव्रकषायाभावादशुभा न भवन्ति। उत्तम-मध्यम-जघन्यपात्रदानोपार्जितपुण्येन ते संभवन्ति। मृताः सन्तः सर्वे स्त्री-पुरुषाः देवगतिं यान्ति, आर्यभावविशेषादितरां गतिं न गच्छन्ति। स्त्री-पुंलिङ्गाः भवन्ति, नपुंसका नहि भवन्ति। तेषामाहारो बदर-विभीतकामलकप्रमाणं वाञ्छितममृतरूपं त्रिदिन-द्विदिनैकदिनान्तरेण भुञ्जन्ति। दशप्रकाराः कल्पवृक्षाः—मद्याङ्गातोद्याङ्ग-विभूषणाङ्ग-(भाजनाङ्ग) दीपकाङ्ग-ज्योतिरङ्ग-गृहाङ्ग-भोजनाङ्ग-वस्त्राङ्गरूपाः। एते वाञ्छितं प्रयच्छन्ति। युगलरूपोत्पत्तिस्तेषां छिक्का-जृम्भिकाभ्यां युगपन्म्रियन्ते ते भोगभूमिजाः। आयुरन्ते मरणं भवति, अकाल-मृत्यभावात्सम्पूर्णपुण्योदयतश्च।

कर्मभूमिज मनुष्योंके शरीरका उत्कृष्ट प्रमाण पच्चीस अधिक पांच सौ (५२५) धनुष है। इन आर्य और म्लेच्छ खण्डज मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटी वर्ष प्रमाण होती है। जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त है।

आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न हुए मनुष्य व्रत, तप, अणुव्रत और महाव्रतोंको धारण कर कितने ही कर्मोंका क्षय करके मोक्षको प्राप्त करते हैं। किन्तु म्लेच्छखण्डज मनुष्य व्रत, तपश्चरणादिके अभावसे मोक्ष नहीं जाते हैं। भोगभूमिज मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई उत्तमभोगभूमिमें तीन कोश, मध्यम भोगभूमिमें दो कोश और जघन्य भोगभूमिकी अपेक्षा एक कोश प्रमाण होती है। आयु भी तीनों भोगभूमियोंमें अनुक्रमसे तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्यप्रमाण होती है। भोगभूमिज जीवोंके द्रव्य और भावरूप पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएं अनुक्रमसे होती हैं। तीव्र कषायका अभाव होनेसे उनके अशुभ लेश्याएं नहीं होती हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रोंको दान देनेसे उपार्जित पुण्यसे वे क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं। भोगभूमिज सभी स्त्री-पुरुष मर करके देवगतिको जाते हैं। आर्यभावकी विशेषतासे वे अन्य गतिमें नहीं उत्पन्न होते हैं। भोगभूमिज जीव स्त्रीलिंगी और पुल्लिंगी ही होते हैं, नपुंसकलिंगी नहीं होते हैं। उनका आहार क्रमशः बदर (बेर–)प्रमाण, विभीतक–(बहेड़ा–) प्रमाण और आमलक–(आंवला–) प्रमाण वांछित अमृतरूप होता है और वे क्रमसे तीन दिन, दो दिन तथा एक दिनके अन्तरसे आहार करते हैं। वहां पर दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं—मद्यांग, आतोद्यांग, विभूषणांग, भाजनांग, दीपकांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भोजनांग और वस्त्रांग। ये दशों प्रकारके कल्पवृक्ष अपने नामके अनुरूप मनोवांछित वस्तुओंको देते हैं। भोगभूमियां जीव स्त्री-पुरुषके युगलरूपसे उत्पन्न होते हैं और वे छींक और जंभाई लेकर एक साथ मरणको प्राप्त होते हैं। आयुके अन्तमें ही उनका मरण होता है, क्योंकि उनके अकालमृत्युका अभाव है और सम्पूर्ण जीवन भर पुण्यका उदय रहता है। उत्तम भोगभूमिके जीव इक्कीस दिनोंमें, मध्यम भोगभूमिके जीव पैंतीस दिनोंमें और जघन्य भोग-

एकविंशति-पञ्चत्रिंशदेकोनपञ्चाशद्दिनैः सम्पूर्णकाया भवन्ति। षोडशवार्षिकमनुष्ययुवानश्चैकरूपाः सन्ति। मनुष्यगतिरिति।

अथ देवगतिरिति ऊर्ध्वम्। भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासिनां चतुर्णिकायानां देवानां यथाक्रमेण भेदानाह। तथा च—भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारा इति दशप्रकारा भवन्ति। तेषामुत्कृष्टायुः सागरोपममेकं जघन्यं च वर्षाणां दशसहस्राणि। उत्कृष्ट उत्सेधः पञ्चविंशतिर्धनूंषि, जघन्यश्च धनुषां दश। षोडशसहस्रयोजनप्रमाणखरभूमिमध्यभवनेषु निवसन्ति।

तथैव किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूतपिशाचा इत्यष्टप्रकारा व्यन्तरास्तत्रैव खर-पङ्कबहुलपृथ्वीमध्ये निवासिनश्च। उत्कृष्टः शरीरोत्सेधो दश धनूंषि। तेषां जघन्यमायुः वर्षाणि दश सहस्राणि। उत्कृष्ट पल्यमेकं किञ्चिदूनम्। तेषां व्यन्तराणामाहारः सार्धपञ्चभिर्वासरैः, तथाविधैर्मुहूर्तैरुच्छ्वासो भवति ५। इति द्वितीयनिकाया व्यन्तराः।

अथ तृतीयनिकायः—सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णकतारकाख्याः पञ्चप्रकारा ज्योतिष्काः। तेषां मध्ये तारकाः कथ्यन्ते—समधरातलादूर्ध्वं गत्वा शतान्यष्टौ दशोनानि योजनानि तारकाणां विमानानि चलरूपाणि सन्ति। ततो दशयोजनानि गत्वा सूर्याणां विमानानि। तत ऊर्ध्वमशीतिर्यो-

---

भूमिके जीव उनंचास दिनोंमें सम्पूर्ण शरीरके धारक हो जाते हैं। वहांके मनुष्य सोलह वर्ष जैसे जवान और एकरूप होते हैं। इस प्रकार मनुष्यगतिका वर्णन किया।

अब इससे आगे देवगतिका वर्णन करते हैं। देवोंके चार निकाय हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी। अब इनके यथाक्रमसे भेद कहते हैं। भवनवासीदेव दश प्रकारके होते हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार। इनकी उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम और जघन्य आयु दश हजार वर्षकी होती है। शरीरकी उत्कृष्ट ऊंचाई पच्चीस धनुष और जघन्य ऊंचाई दश धनुष प्रमाण है। रत्नप्रभा भूमिका जो सोलह हजार योजन-प्रमाण खरभूमिभाग है, उसके मध्यमें स्थित भवनोंमें ये देवनिवास करते हैं।

दूसरा निकाय व्यन्तर देवोंका है। वे किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाचके भेदसे आठ प्रकारके होते हैं। उसी रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग और पंकबहुलभागके मध्यमें ये व्यन्तर देव निवास करते हैं। इनके शरीरकी उत्कृष्ट ऊंचाई दश धनुष है। उनकी जघन्य आयु दश हजार वर्ष है और उत्कृष्ट आयु कुछ कम एक पल्य प्रमाण है। इन व्यन्तर देवोंका आहार साढ़े पांच दिनोंके बाद होता है, तथा साढ़े पांच मुहूर्तोंके बाद वे श्वासोच्छ्वास लेते हैं। इस प्रकार दूसरे निकायवाले व्यन्तर देवोंका वर्णन किया।

अब तीसरे निकायवाले ज्योतिष्क देवोंका वर्णन करते हैं—वे ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के होते हैं—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारका। इनमेंसे पहिले तारकाओंको कहते हैं—मध्यलोकके समधरातलसे ऊपर दश कम आठ सौ (७९०) योजन जाकर तारकाओंके विमान (अढ़ाई द्वीपमें) चलते हैं। उनसे दश योजन ऊपर जाकर सूर्योंके विमान हैं। उनसे अस्सी योजन ऊपर

जनानि गत्वा चन्द्राणां विमानानि। तत ऊर्ध्वं चत्वारि-चत्वारि योजनानि त्यक्त्वा शुक्राणां बृहस्पतीनां मङ्गलानां शनैश्चराणां क्रमेण विमानानि तिष्ठन्ति, गच्छमानानि सन्तीत्यर्थः।

तेषामनुक्रमेण वृत्तमानव्यासप्रमाणमाह—योजनैकस्यैकषष्ठिभागानां मध्ये षट्पञ्चाशद्भागाचन्द्रविमानस्य, तथाऽष्टचत्वारिंशद्-भागाः सूर्यविमानस्य भवन्ति। शुक्रविमानस्यैकः क्रोशः, गुरोः पादोनः क्रोशः, बुध-मङ्गलयोर्विमानस्यार्धं क्रोशःप्रमाणम्। तथैव शनैश्चरस्य क्रोशार्धः, तारकाणां क्रोशस्यैक पादप्रमाणं विमानस्य $\frac{1}{4}$। नक्षत्राणां विमानस्य प्रमाणं क्रोश एकः १।

चन्द्रसूर्ययोर्विमानयोः किरणाः प्रत्येकं सहस्राणि द्वादश १२०००। १२०००। तथा शुक्रस्य विमानकिरणाः सार्धं शतद्वयम् २५०। तेषामायुःप्रमाणं चन्द्रस्य पल्यमेकं वर्षाणां लक्षैकं च पल्य १, वर्ष १०००००। सूर्यस्यायुःप्रमाणं पल्यमेकं वर्षसहस्रैकम्, पल्यं १ वर्ष १०००। शुक्रस्य पल्यमेकमायुः वर्षाणां शतमेकम्, पल्य १ वर्ष १००। गुरोः पल्यमेकम् १। शेषग्रहाणामायुः प्रमाणम् पल्यार्धम् $\frac{1}{2}$। तारकाणां चायुःप्रमाणं पल्यस्य चतुर्थभागः $\frac{1}{4}$। जघन्येन पल्यस्याष्टमांशः $\frac{1}{8}$। इति पञ्चप्रकारज्योतिष्कदेवानां व्यावर्णनं समाप्तम्।

अथ चतुर्थनिकायकल्पवासिनां स्वरूपमाह—मेरोस्तलादूर्ध्वं सार्धरज्जूमध्ये सौधर्मैशानाख्यौ स्वर्गौ भवतः। तत ऊर्ध्वं सार्धरज्जूपर्यन्तं सनत्कुमार-महेन्द्रनामानौ स्वर्गौ। ततोऽग्रे रज्जूनां षट्स्वर्धेषु ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरः लान्तव-कापिष्ट-शुक्र-महाशुक्रशतार-सहस्रारानत-प्राणतारणाच्युतनामानः

जाकर चन्द्रोंके विमान हैं। उनसे चार-चार योजन छोड़कर शुक्र, वृहस्पति, मंगल और शनैश्चरके विमान क्रमसे अढ़ाई द्वीपमें चलते और उससे आगे अवस्थित रहते हैं।

अब अनुक्रमसे इन ज्योतिष्क देवोंके विमानोंका वृत्त-मान (गोलाईका माप) और व्यास-प्रमाण (चौड़ाईका माप) कहते हैं—एक योजनके इकसठ भागोंमेंसे छप्पन भाग-प्रमाण $\frac{56}{61}$ चन्द्र-विमानका विस्तार है। तथा एक योजनके इकसठ भागोंमेंसे अड़तालीस भाग प्रमाण ($\frac{48}{61}$) सूर्यके विमानका विस्तार है। शुक्रके विमानका विस्तार एक कोश है। गुरुके विमानका विस्तार पौन कोश है। वुध और मंगलके विमानका विस्तार अर्धकोश प्रमाण है। इसी प्रकार शनैश्चरके विमानका विस्तार आधा कोश है। तारकाओंके विमानका विस्तार कोशका एक पाद अर्थात् चौथाई कोश ($\frac{1}{4}$)। नक्षत्रोंके विमानका प्रमाण एक कोश है।

चन्द्र और सूर्यके विमानकी किरणें प्रत्येकमें बारह-बारह हजार हैं। तथा शुक्रके विमानकी किरणें अढ़ाई सौ २५० हैं। अब इन ज्योतिष्क देवोंकी आयुका प्रमाण कहते हैं—चन्द्रदेवकी आयु एक पल्य और एक लाख वर्ष है (१ पल्य १००००० वर्ष)। सूर्यदेवकी आयुका प्रमाण एक पल्य और एक हजार वर्ष है (१ पल्य, १००० वर्ष)। शुक्रदेवकी आयु एक पल्य और एक सौ वर्ष है(१ पल्य १०० वर्ष)। गुरुकी आयु एक पल्य है। शेष ग्रहोंकी आयुका प्रमाण आधा पल्य ($\frac{1}{2}$) है। तारकोंकी आयु का प्रमाण पल्यका चतुर्थ भाग ($\frac{1}{4}$) है। इनकी जघन्य आयुका प्रमाण पल्यका अष्टम भाग ($\frac{1}{8}$) है। इस प्रकार पांचों जातिके ज्योतिष्क देवोंका वर्णन समाप्त हुआ।

अब चतुर्थ निकाय कल्पवासी देवोंका स्वरूप कहते हैं—मेरुके तलभागसे ऊपर डेढ़ राजुके मध्यमें सौधर्म और ऐशान नामके दो स्वर्ग हैं। उनसे ऊपर डेढ़ राजु-पर्यन्त सनत्कुमार और माहेन्द्र नामके दो स्वर्ग हैं। उनसे आगे छहके आधे अर्थात् तीन राजुओंमें ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, और आरण-अच्युत नामके बारह स्वर्ग हैं।

स्वर्गा द्वादश भवन्ति। रज्ज्वैकमध्ये नवग्रैवेयक-नवानुदिश-पञ्चानुत्तराः स्युः। सौधर्मस्य विमानानि द्वात्रिंशल्लक्षाः ३२०००००। तथैशानस्वर्गस्य विमानानि लक्षाणामष्टाविंशतिः। २८०००००। सनत्कुमारे विमानानि लक्षाः द्वादश १२०००००। माहेन्द्रविमानानि लक्षा अष्टौ ८०००००। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरयोर्विमानानि चतस्रो लक्षाः ४०००००। तत् ऊर्ध्वं लान्तवकापिष्टयोर्विमानानि पञ्चाशत्सहस्राणि ५००००। ततोऽग्रे शुक्र-महाशुक्रयोर्विमानानि चत्वारिंशत्सहस्राणि ४००००। तत् ऊर्ध्वं शतार-सहस्रारयोर्विमानानि षट्सहस्राणि ६०००। ततोऽग्रे आनत-प्राणतारणाच्युतेषु विमानानि सप्तशतानि ७००। ततोऽग्रेऽधोग्रैवेयकत्रये विमानानि शतमेकं दशाधिकम् ११०। ततोऽग्रे मध्यमग्रैवेयकत्रये विमानानि सप्तोत्तरशतम्। १०७। तत ऊर्ध्वमूर्ध्वग्रैवेयकत्रये विमानान्येकनवतिः ९१। ततोऽग्रे नवानुदिशेषु विमानानि नव ९। तत ऊर्ध्वं पञ्चानुत्तरेषु पञ्चैव विमानानि भवन्ति ५।

सौधर्मस्वर्गे पटलानि ३१ एकत्रिंशत्। विमानान्युक्तानि पूर्वम्। तथायुरुत्कृष्टं सागर-द्वयम्। जघन्यं पल्योपममेकम्। तथाऽऽहारवाञ्छा द्विसहस्रवर्षेष्वतीतेषु भवति। द्विपक्षयोरतीतयोरुच्छ्वासैकः स्यात्। तथैवैशानस्वर्गे सर्वं समानम्। देवीनामुत्पत्तिर्द्वितीयस्वर्गं यावद् भवति। आयुःप्रमाणमुत्कृष्टं पञ्चपञ्चाशत्पल्यानि षोडशस्वर्गसम्बन्धिनीनाम्। जघन्यमायुः पूर्वीयं पूर्वीयम्। सौधर्मैशानदेवीनामायुः पञ्चपल्योपमानि जघन्यं पल्यमेकम् १। लेश्या मध्यमा पीता। अवधिज्ञानेन प्रथमनरकपर्यन्तं पश्यन्ति देवाः। आत्मानं न पश्यन्ति। शरीरप्रमाणं सप्तकरा

उनसे ऊपर एक राजुके मध्यमें नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान हैं। सौधर्म स्वर्गके विमान बत्तीस लाख ३२०००००० हैं। तथा ऐशान स्वर्गके विमान अट्ठाईस लाख २८०००००० हैं। सनत्कुमार स्वर्गके विमान बारह लाख १२०००००० हैं। माहेन्द्र स्वर्गके विमान आठ लाख ८००००० हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गके विमान चार लाख ४००००० हैं। इनसे ऊपर लान्तव-कापिष्ट स्वर्गके विमान पचास हजार ५०००० हैं। उनसे आगे शुक्र-महाशुक्र स्वर्गके विमान चालीस हजार ४०००० हैं। उनसे ऊपर शतार-सहस्रार स्वर्गके विमान छह हजार ६००० हैं। उनसे आगे आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गके विमान सात सौ ७०० हैं। उनसे आगे अधोग्रैवेयकत्रिकमें विमान दश अधिक सौ ११० हैं। उनसे आगे मध्यम ग्रैवेयकत्रिकमें विमान सात अधिक सौ १०७ हैं। उनसे ऊपर ऊर्ध्व ग्रैवेयकत्रिकमें विमान इक्यानवे ९१ हैं। उनसे आगे नौ अनुदिशोंमें नौ ९ विमान हैं। उनसे ऊपर पांच अनुत्तरोंमें पांच ही विमान ५ हैं।

सौधर्म स्वर्गमें इकतीस ३१ पटल हैं। इस स्वर्गके विमानोंकी संख्या पहिले कही जा चुकी है। इस स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु दो सागरोपम है। जघन्य आयु एक पल्योपम है। तथा यहांके देवोंको आहार करनेकी इच्छा दो हजार वर्ष व्यतीत होनेपर होती है। दो पक्ष व्यतीत होने पर एक वार उच्छ्वास लेते हैं। इसी प्रकार ऐशान स्वर्गमें भी सर्व वर्णन समान है। देवियोंकी उत्पत्ति दूसरे स्वर्गतक होती है। (ऊपरके स्वर्गोंके देव अपनी अपनी नियोगिनी देवियोंको यहांसे ले जाते हैं।) सोलहवें स्वर्ग सम्बन्धिनी देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पचपन पल्यकी है। उनकी जघन्य आयु पूर्व-पूर्वके स्वर्गकी उत्कृष्ट आयुके प्रमाण होती है। सौधर्म-ऐशान स्वर्गके देवियोंकी आयु पांच पल्योपम है। वहांके देवियोंकी जघन्य आयु एक पल्यकी है। इन सर्व देवियोंके मध्यम पीत लेश्या होती है। सौधर्म-ऐशान स्वर्गके देव अवधिज्ञानसे प्रथम नरकके अन्ततक देखते हैं, किन्तु

भवन्ति। उपरितनस्वर्गेषु क्रमहानिक्रमेण हस्तैकप्रमाणं शरीरं भवति। आगमानुसारेणान्यदपि ज्ञातव्यमिति गतिमार्गणा समाप्ता ॥१॥

अथेन्द्रियमार्गणा कथ्यते। तद्यथा—एकेन्द्रियजातौ चतसृगतिमध्ये तिर्यग्गतिरेकैव भवति १। पञ्चेन्द्रियाणां मध्ये इन्द्रियमेकमेव स्पर्शनेन्द्रियम् २। षण्णिकायानां मध्ये कायाः पृथिव्यादयः पञ्च ३। पञ्चदशयोगमध्ये योगास्त्रयः—औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगाः ४। वेदत्रयमध्ये वेदमेकं नपुंसकम् ५। पञ्चविंशतिकषायाणां मध्ये षोडश कषायाः १६। हास्यादि षट्, नपुंसकं चैको वेदः ६। ज्ञानाष्टकमध्येऽज्ञानद्वयं २ कुमतिः कुश्रुतिः ७। संयमसप्तकमध्ये एकोऽसंयमः ८। दर्शनचतुष्टयमध्ये दर्शनमेकं अचक्षुः ९। लेश्याषट्कमध्ये कृष्णादित्रयम् १०। भव्याभव्यमध्ये द्वयमेव ११। सम्यक्त्वषट्कमध्ये मिथ्यात्वमेकम् १२। संज्ञिद्वयमध्ये एकमसंज्ञिकम् १३। आहारकद्वयमध्ये आहारक एक एव(?) १४। चतुर्दशगुणस्थानमध्ये गुणस्थानमेकं मिथ्यात्वम् १५। एकोनविंशति जीवसमासमध्ये चतुर्दश स्थावराः १६। षट्पर्याप्तिमध्ये आहार-शरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासचतुष्टयम् १७। दशप्राणमध्ये प्राणाश्चत्वारः १८। संज्ञाचतुष्टयमेव ४ आहार-भय-मैथुन-परिग्रहरूपम् १९। द्वादशोपयोगमध्ये उपयोगत्रयम्—कुमति-कुश्रुत्यचक्षुरिति २०। षोडशध्यानमध्ये ध्यानाष्टकम्—आर्त्त(चतुष्कं)रौद्र(चतुष्कं) २१। सप्तपञ्चाशत्प्रत्ययमध्ये ५७ अष्टात्रिंशत्प्रत्यया भवन्ति। मिथ्यात्व पञ्च ५, अविरति ७, कषाय २३ योग ३ इति २२। चतुरशीतिलक्षजातिमध्ये

आत्माको नहीं देखते हैं। इन दीनों स्वर्गोंके देवोंके शरीरकी ऊंचाई सात हाथ-प्रमाण है। इनसे ऊपरके स्वर्गोंमें क्रमशः हानिके क्रमसे अनुत्तर विमानवासी देवोंका शरीर एक हाथप्रमाण होता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी विशेष कथन आगमके अनुसार जानना चाहिए। इस प्रकार गति मार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ १।

अब इन्द्रियमार्गणा कहते हैं। यथा—चार गतियोंमेंसे एकेन्द्रियजातिमें केवल एक तिर्यग्गति ही होती है १। पांच इन्द्रियोंमेंसे एक ही स्पर्शनेन्द्रिय होती है २। छह कायोंमेंसे पृथिवी आदि पांच काय होते हैं ३। पन्द्रह योगोंमेंसे औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रयोग और कार्मणकाययोग ये तीन योग होते हैं ४। तीन वेदोंमेंसे एक नपुंसक वेद होता है ५। पच्चीस कषायोंमेंसे सोलह कषाय, हास्यादि छह नोकषाय और एक नपुंसकवेद ये तेईस कषाय होती हैं ६। आठ ज्ञानोंमेंसे कुमति और कुश्रुत ये दो अज्ञान होते हैं ७। सात संयमोंमेंसे एक असंयम होता है ८। चार दर्शनोंमेंसे एक अचक्षुदर्शन होता है ९। छह लेश्याओंमेंसे कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं १०। भव्य मार्गणामेंसे एकेन्द्रिय जातिमें भव्य और अभव्य दोनों होते हैं ११। छह सम्यक्त्वोंमेंसे एक मिथ्यात्व होता है १२। संज्ञिमार्गणाके दो भेदोंमेंसे एक असंज्ञिपना होता है १३। आहारक मार्गणाके दो भेदोंमेंसे एक आहारक (?) ही होता है १४। चौदह गुणस्थानोंमेंसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है १५। उन्नीस जीवसमासोंमेंसे स्थावरकायसम्बन्धी चौदह जीवसमास होते हैं १६। छह पर्याप्तियोंमेंसे आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियां होती हैं १७। दश प्राणोंमेंसे चार प्राण होते हैं १८। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों ही संज्ञाएं होती हैं १९। बारह उपयोगोंमेंसे कुमति, कुश्रुत और अचक्षुदर्शन ये तीन उपयोग होते हैं २०। सोलह ध्यानोंमेंसे आर्त्तचतुष्क और रौद्रचतुष्क ये आठ ध्यान होते हैं २१। सत्तावन बन्ध-प्रत्ययोंमेंसे मिथ्यात्व पांच ५, अविरति सात ७, कषाय तेईस २३, और योग तीन ३, इस प्रकार अड़तीस

द्विपञ्चाशल्लक्षजातयो भवन्ति ५२००००० । २३ । सार्धनवनवत्यधिकशतकोटिकुलमध्ये सप्तषष्ठिकोटिकुलानि भवन्ति पृथिव्यादीनां २४ । इति चतुर्विंशतिस्थानगतैकेन्द्रियजातिर्वर्णिता ।

अथ तथैव द्वीन्द्रियजातिः कथ्यते । तद्यथा—गतिरेका तिर्यग् भवति १ । जातिरपि द्वीन्द्रियाख्यैका २ । काय एकस्त्रसकायः ३ । योगाः ४ औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणवचनरूपाः ४ । वेद एको नपुंसकम् ५ । कषायाः २३ षोडश कषायाः १६ नोकषायाः ६ हास्यादयो नपुंसकं च ६ । ज्ञाने कुमतिकुश्रुती द्वे ७ । संयममध्ये एकोऽसंयमो भवति ८ । दर्शनमध्येऽचक्षुरेकम् ९ । लेश्यामध्ये कृष्णाद्यास्तिस्र: १० । भव्याभव्यौ द्वौ भवतः ११ । सम्यक्त्वमध्ये मिथ्यात्वमेकम् १२ । संज्ञ्यसंज्ञिमध्येऽसंज्ञि १३ । आहारकानाहारकमध्ये आहारकमेकम् १४ । गुणस्थानं प्रथममेकम् १५ । जीवसमासमध्ये द्वीन्द्रियजीवसमासो भवति १६ । पर्याप्तिपञ्चकं मनो विना १७ । प्राणाः षट्—द्वे इन्द्रिये काय वचनोच्छ्वासायुष्कानि १८ । संज्ञाः सर्वाः १९ । उपयोगमध्ये उपयोगत्रयम् २० । ध्यानाष्टकं तदेव २१ । प्रत्ययमध्ये चत्वारिंशत्प्रत्ययाः–मिथ्यात्व ५ असंयम ८ कषाय २३ योगाख्याः ४।२२ । जातिमध्ये द्वीन्द्रियस्य लक्षद्वयम् २०००००।२३। कुलमध्ये सप्तकुलकोट्यो भवन्ति २४ । इति द्वीन्द्रियजातिः २ ।

अथ त्रीन्द्रियजातिर्व्याख्यायते । तथाहि—त्रीन्द्रियजातौ गतिचतुष्टयमध्ये तिर्यग्गतिरेका भवति १ । जातिपञ्चकमध्ये त्रीन्द्रियजातिः २ । कायद्वयमध्ये त्रसकायो भवति ३ । योगमध्ये

बन्धप्रत्यय होते हैं २२ । चौरासी लाख जातियोंमेंसे बावन लाख ५२००००० जातियां होती हैं २३ । एकसौ साढ़े निन्यानवे लाख कुलकोटियोंमेंसे पृथिवीकायादिक एकेन्द्रियोंके सड़सठ कोटि कुल होते हैं २४ । इस प्रकार चौबीस स्थानगत एकेन्द्रियजातिका वर्णन किया ।

अब इसी प्रकारसे द्वीन्द्रियजातिका वर्णन करते हैं । यथा—द्वीन्द्रिय जातिमें एक तिर्यग्गति ही होती है १ । द्वीन्द्रियनामक एक ही जाति होती है २ । त्रस नामक एक काय होता है ३ । औदारिक, औदारिकमिश्र, कार्मण और वचनरूप चार योग होते हैं ४ । वेद एक नपुंसक होता है ५ । पच्चीस कषायोंमेंसे सोलह कषाय, हास्यादि छह नोकषाय और एक नपुंसक वेद ये तेईस कषाय होती हैं ६ । कुमति और कुश्रुत ये दो ज्ञान होते हैं ७ । संयमोंमेंसे एक असंयम होता है ८ । दर्शनोंमेंसे एक अचक्षुदर्शन होता है ९ । लेश्याओंमेंसे कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं १० । भव्यमार्गणामेंसे भव्य और अभव्य दोनों होते हैं ११ । सम्यक्त्वमार्गणामेंसे एक मिथ्यात्व होता है १२ । संज्ञिमार्गणामेंसे एक असंज्ञिपना होता है १३ । आहारक-अनाहारकमेंसे एक आहारकपना होता है १४ । गुणस्थान एकमात्र पहिला होता है १५ । जीवसमासोंमेंसे द्वीन्द्रिय जीवसमास होता है १६ । मनके बिना पांच पर्याप्तियां होती हैं १७ । आदिकी दो इन्द्रियां, कायबल, वचनबल, उच्छ्वास और आयु ये छह प्राण होते हैं १८ । संज्ञाएं सभी होती हैं १९ । उपयोगोंमेंसे तीन उपयोग होते हैं २० । ध्यानोंमेंसे अशुभ आठ ध्यान होते हैं २१ । बन्ध-प्रत्ययोंमेंसे मिथ्यात्व ५, असंयम ८, कषाय २३ और योग ४ ये सब चालीस बन्धप्रत्यय होते हैं २२ । जातियोंमेंसे द्वीन्द्रियकी दो लाख २००००० जातियां होती हैं २३ । कुलकोटियोंमेंसे सात करोड़ कुलकोटियां होती हैं २४ । इस प्रकार द्वीन्द्रिय जातिका वर्णन किया ।

अब त्रीन्द्रियजातिका वर्णन करते हैं । यथा—त्रीन्द्रियजातिमें चार गतियोंमेंसे एक तिर्यग्गति है १ । पांच जातियोंमेंसे एक त्रीन्द्रिय जाति है २ । दोकायमेंसे एक त्रसकाय है ३ । पन्द्रह

योगचतुष्टयम्—औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणवचनसंज्ञम् ४। वेदमध्ये नपुंसकमेकम् ५। कषायमध्ये कषायास्त्रयोविंशतिः स्त्रीपुंविना ६। ज्ञानमध्ये कुमति-कुश्रुती द्वे ७। संयममध्ये एकोऽसंयमः ८। दर्शनमध्ये अचक्षुर्दर्शनमेकम्। ९। लेश्या कृष्णादित्रयम् १०। भव्याभव्यद्वयम् ११। सम्यक्त्वषट्कमध्ये मिथ्यात्वमेकम् १२। संज्ञ्यसंज्ञिमध्ये असंज्ञिरेव १३। आहारकत्वमेकम् १४। गुणस्थानमेकम् १५। जीवसमासमध्ये त्रीन्द्रियजीवसमासः १६। पर्याप्तिपञ्चकं मनो विना १७। प्राणाः सप्त—इन्द्रियद्वयमनोभ्यां विना १८। संज्ञाचतुष्टयम् १९। उपयोगत्रयम्—कुमतिकुश्रुत्यचक्षुरिति २०। ध्यानाष्टकम्—आर्त्तरौद्ररूपम् २१। प्रत्ययाणामेकचत्वारिंशत्-मिथ्यात्व ५ अविरति ९ कषाय २३ योग ४ इति २२। जातिर्लक्षद्वयं त्रीन्द्रियसम्बन्धि २३। कुलकोटीमध्ये लक्षाष्टकं भवति त्रीन्द्रियाणाम् २४। इति त्रीन्द्रियजातिः।

अथ चतुरिन्द्रियजातिः कथ्यते। तद्यथा—चतुरिन्द्रियजातौ तिर्यग्गतिरेकैव भवति १। जातिश्चतुरिन्द्रियाख्या २। षट्कायमध्ये त्रसकायः ३। योगमध्ये चत्वारो योगाः—औदारिकौदारिकमिश्रकार्मणानुभयवचनसंज्ञकाः ४। वेदमध्ये नपुंसकलिङ्गम् ५। कषायमध्ये कषायाः १६ नोकषायाः ६। नपुंसकवेदः ६। ज्ञानमध्ये २ कुमति-कुश्रुती ७। संयममध्येऽसंयमः एकः ८। दर्शनमध्ये चक्षुरचक्षुर्दर्शनद्वयम् ९। लेश्यामध्ये कृष्ण-नील-कापोतत्रयम् १०। भव्याभव्यद्वयम् ११। सम्यक्त्वमध्ये मिथ्यात्वमेकम् १२। संज्ञिमध्येऽसंज्ञी १३। आहारकमध्ये आहारक एक एव १४। गुण-

---

योगोंमेंसे औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रयोग, कार्मणयोग और वचन योग ये चार योग हैं ४। तीन वेदोंमेंसे एक नपुंसकवेद है ५। पच्चीस कषायोंमेंसे स्त्री और पुरुषवेदके बिना तेईस कषाय हैं ६। आठ ज्ञानोंमेंसे कुमति और कुश्रुत ये दो ज्ञान है ७। संयममार्गणामेंसे एक असंयम है ८। दर्शनमार्गणामेंसे एक अचक्षुदर्शन है ९। लेश्यामार्गणामेंसे कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याएं हैं १०। भव्यमार्गणामेंसे भव्य और अभव्य दोनों हैं ११। छह सम्यक्त्वोंमेंसे एक मिथ्यात्व है १२। संज्ञी-असंज्ञीमेंसे एक असंज्ञित्व है १३। आहारक मार्गणामेंसे एक आहारकत्व है १४। गुणस्थानोंमेंसे एक मिथ्यात्व है १५। जीवसमासोंमेंसे एक त्रीन्द्रियजीवसमास है १६। मनके बिना शेष पांच पर्याप्तियां हैं १७। अन्तिम दो इन्द्रियां और मनके बिना शेष सात प्राण हैं १८। संज्ञाएं चारों हैं १९। कुमति, कुश्रुत और अचक्षुदर्शन ये तीन उपयोग हैं २०। आर्त्त और रौद्ररूप आठ ध्यान हैं २१। बन्धप्रत्ययोंमेंसे मिथ्यात्व ५, अविरति ९, कषाय २३, और योग ४ ये इकतालीस बन्धप्रत्यय हैं २२। त्रीन्द्रियसम्बन्धी दो लाख जातियां हैं २३। कुलकोटियोंमेंसे त्रीन्द्रियोंके आठ लाख कुलकोटियां हैं २४। इस प्रकार त्रीन्द्रियजातिका वर्णन कया।

अब चतुरिन्द्रिय जातिका वर्णन करते हैं। यथा—चतुरिन्द्रियजातिमें एक तिर्यग्गति होती है १। पांच जातियोंमेंसे एक चतुरिन्द्रियजाति है २। छह कायोंमेंसे एक त्रसकाय है ३। पन्द्रह योगोंमेंसे औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रयोग, कार्मणयोग और अनुभयवचन योग ये चार योग हैं ४। तीन वेदोंमेंसे एक नपुंसकलिंग है ५। कषायमार्गणामेंसे सोलह कषाय, छह नोकषाय, एक नपुंसकवेद ये तेईस कषाय हैं ६। ज्ञान मार्गणामेंसे कुमति और कुश्रुत ये दो ज्ञान हैं ७। संयममार्गणामेंसे एक असंयम हैं ८। दर्शनमार्गणामेंसे चक्षु और अचक्षु ये दो दर्शन हैं ९। लेश्यामार्गणामेंसे कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभलेश्याएं हैं १०। भव्यमार्गणामेंसे भव्य और अभव्य दोनों हैं ११। सम्यक्त्वमार्गणामेंसे एक मिथ्यात्व है १२। संज्ञिमार्गणामेंसे एक असंज्ञित्व है १३। आहारक-

स्थानमध्ये मिथ्यात्वम् १५। जीवसमासमध्ये चतुरिन्द्रियजातिः १६। पर्याप्तिपञ्चकं मनो विना १७। प्राणाः ८ श्रोत्र-मनोभ्यां विना १८। संज्ञाश्चतस्रः १९। उपयोगमध्ये ४ कुमति-कुश्रुतिश्च-क्षुरचक्षुरिति २०। ध्यानद्वयं ८ आर्त्त-रौद्रयोः २१। प्रत्ययमध्ये ४२ मिथ्यात्व ५ अविरति १० कषाय २३ योगाः ४।२२। जातिः २००००।२३। कुलकोटी ९ चतुरिन्द्रियस्य २४।

तथा पञ्चेन्द्रियादि-पञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदाः ज्ञातव्याः। इति गत्याद्याहारपर्यन्तानि चतुर्दश मार्गणास्थानानि शुद्धात्मनि निश्चयेन न सन्ति। तथा मिथ्यात्व-सासादन-मिश्राविरत-संयतासंयत-प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायोपशान्तकषाय-क्षीणकषाय-सयोगिकेवल्य-योगिकेवल्यन्तानि चतुर्दश गुणस्थानानि यद्यपि व्यवहारानुपचरितासद्भूतनयेनात्मनोऽभिन्नानि, तथापि शुद्धपारिणामिकभावग्राहकेण निश्चयनयेन जीवस्य हेयभूतानि स्वसम्बन्धीनि न भवन्ति।

अपि च एकेन्द्रिय-सूक्ष्म-बादर-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय-संज्ञ्यसंज्ञि-पर्याप्तापर्याप्तभेदभिन्नानि चतुर्दश जीवस्थानान्यपि शुद्धात्मनि न भवन्ति। तथा च कर्मक्षयोपशमजनितानि लब्धिरूपस्थानान्यपि यत्रात्मनि न भवन्ति। मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगरूपाणि बन्धस्थानान्यपि न सन्ति। गुणस्थानाश्रितोदयस्थानोदीरणास्थान-सत्तास्थानादिकानि च यत्र निश्चयनयेन शुद्धात्मतत्त्वे न भवन्तीत्यर्थः ॥२०॥ अथ—

मार्गणामेंसे एक आहारकत्व है १४। गुणस्थानोंमेंसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान है १५। जीवसमासोंमेंसे एक चतुरिन्द्रियजाति जीव-समास है १६। मनके विना शेष पांच पर्याप्तियां हैं १७। श्रोत्रेन्द्रिय और मनके बिना आठ प्राण हैं १८। चारों संज्ञाएं हैं १९। बारह उपयोगोंमेंसे कुमति, कुश्रुत, चक्षु और अचक्षुदर्शन ये चार उपयोग हैं २०। आर्त-रौद्ररूप आठ ध्यान हैं २१। बन्धप्रत्ययोंमेंसे मिथ्यात्व ५, अविरति १०, कषाय २३ और योग ४, ये सब ब्यालीस बन्धप्रत्यय हैं २२। चतुरिन्द्रिय-सम्बन्धी दो लाख २००००० जातियां हैं २३। कुलकोटियोंमेंसे चतुरिन्द्रियसम्बन्धी नौ कुलकोटियां हैं २४। (इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जातिका वर्णन किया।)

इसी प्रकार पंचेन्द्रियजाति आदिमें पंचेन्द्रियमार्गणाके भेद जानना चाहिए। इस प्रकार गतिमार्गणाको आदि लेकर आहारमार्गणा-पर्यन्त चौदह मार्गणास्थान निश्चयनयसे शुद्ध आत्मामें नहीं हैं। तथा मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, संयतासंयत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण संयत, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसाम्पराय संयत, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली तकके चौदह गुणस्थान यद्यपि व्यवहार-अनुपचरित—असद्भूतनयसे आत्मासे अभिन्न हैं, तथापि शुद्धपारिणामिकभावको ग्रहण करनेवाले निश्चयनयकी अपेक्षा ये जीवके स्वसम्बन्धी नहीं हैं, अतः हेयभूत हैं।

तथा एकेन्द्रिय सूक्ष्म, बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संज्ञी, असंज्ञी ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे भिन्न हुए चौदह जीवसमासस्थान भी शुद्ध आत्मामें नहीं हैं। इसी प्रकार कर्मोंके क्षयोपशम-जनित लब्धिरूप स्थान भी इस शुद्ध आत्मामें नहीं हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगरूप बन्धस्थान भी शुद्ध आत्मामें नहीं हैं। गुणस्थानोंके आश्रयसे होनेवाले उदयस्थान, उदीरणास्थान, और सत्तास्थान आदिक भी निश्चयनयसे जिस शुद्ध आत्मतत्त्वमें नहीं हैं, ऐसा वह शुद्ध निरंजनरूप मैं आत्मा हूँ। यह इस गाथाका अर्थ है ॥२०॥

मूलगाथा—फास रस रूव गंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो ।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥२१॥

संस्कृतच्छाया—स्पर्श-रस-रूप-गन्धाः शब्दादिकाश्च यस्य न सन्ति पुनः ।
शुद्धश्चेतनभावो निरञ्जनः सोऽहं भणितः ॥२१॥

टीका—'फास' इत्यादि । पदखण्डनारूपेण श्रीकमलकीर्त्तिमुनिना व्याख्यानं क्रियत इति सर्वत्र ज्ञातव्यम् । 'फास' शीतोष्ण-गुरु-लघु-मृदु-कठिन-स्निग्ध-रूक्षा इत्यष्टप्रकारः स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रिय-गोचरः । 'रस' मधुर-कटुकाम्ल-तीक्ष्ण-कषाया इति पञ्चविधो रसो रसनेन्द्रियविषयः । 'रूप' श्वेत-पीत-रक्त-कृष्ण-हरितवर्णा इति चक्षुरिन्द्रियगोचरः पञ्चधा रूपः । 'गंध' सुरभिरूपोदुरभिरूपश्चेति द्विप्रकारो घ्राणेन्द्रियविषयो गन्धः । 'सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो' निषादर्षभ-गान्धार-षड्ज-

---

वहुरि शुद्ध आत्मा ही का लक्षण कहै हैं—

भा० व०—सो मैं हूँ कह्या निरंजन ऐसा । वहुरि आठ स्पर्श जाकैं नांहीं, ताता ठंडा हलका भारी लूखा चिकनां, नरम कठोर, ए आठ स्पर्श नाहीं । अर पांच रस हू नांहीं । खाटा मीठा कड़वा कसायला चिरपरा । अर गंधके दोय भेद—सुगंधता दुर्गंधता । अर रूपका पांच काला धोला पीला लाल हरिया : ए नांहीं । शब्दका विषय सात—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद ये सात स्वरभेद हूँ नांहीं । तो कहा है ? शुद्ध है, अर चेतनाभाव है । भावार्थ—चार इंद्रियका बीस विषय अर कर्णइंद्रियका सात ये पुद्गल द्रव्यका गुण हैं । शब्दादिक पुद्गल-पर्याय जे हैं सो हैं । यद्यपि उपचाररूप सद्भूतार्थ नयकरि तो आत्माके हैं, तथापि शुद्ध निश्चयकरि पुद्गलके हैं । अर आत्माकैं नांहीं । संसारका मूलभूत राग द्वेष मोहादिक रहितपणां तैं अर केवलज्ञानादि अनंत गुण सहितपणातैं शुद्ध है । अर 'चिती संज्ञाने' धातुका प्रयोग यो है—चेत जाकरि करिये, या प्रकार स्व-पर वस्तुस्वरूप चेतना । अर 'भू सत्तायां' धातुका स्वशक्तिकरि आप ही होय सो भाव कहिए चेतना ही है भाव जाका सो चेतनभाव कहिए । अर गया है ज्ञानावरणादिक आठ कर्म-मलतैं उत्पन्न भया अंजन पापरूप मैल जिसकैं नांहीं ऐसा निरंजन मैं हूँ, ऐसा कह्या है ॥२१॥

अब उस शुद्ध निरंजन आत्माका और भी स्वरूप वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(पुणो) और (जस्स) जिसके (फास-रस-रूव-गंधा) स्पर्श, रस, गन्ध, रूप (सद्दादीया य) और शब्द आदिक (णत्थि) नहीं हैं (सो) वह (सुद्धो) शुद्ध (चेयणभावो) चेतनभावरूप (अहं) मैं (निरंजणो) निरंजन (भणिओ) कहा गया हूँ ।

टीकार्थ—'फास-रस' इत्यादि गाथाका श्रीकमलकीर्त्ति मुनि अर्थ-व्याख्यान करते हैं, यह सम्बन्धरूप अर्थ सर्वत्र जानना चाहिए । 'फास' नाम स्पर्शका है । वह आठ प्रकारका है—शीत, उष्ण, गुरु, लघु, मृदु, कठिन, स्निग्ध और रूक्ष । यह आठों प्रकारका स्पर्श स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है । 'रस' मधुर, कटुक, आम्ल, तीक्ष्ण (तिक्त) और कषाय यह पांच प्रकार का रस रसनेन्द्रियका विषय है । 'रूव' श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण और हरित वर्णरूप पांच प्रकार का रूप चक्षुरिन्द्रियका विषय है । 'गंध' सुरभिरूप और दुरभिरूप दो प्रकारका गन्ध घ्राणेन्द्रियका विषय है । 'सद्दादीया

मध्यम-धैवत-पञ्चमाश्चेत्यमी सप्त स्वरभेदाः शब्दाः कर्णेन्द्रियविषया इति स्पर्शादयो विंशति-संख्याकाः पुद्गलद्रव्यस्य गुणाः शब्दादयः पुद्गलपर्यायाश्च यद्यप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेणात्मनः सन्ति, तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुनर्यस्य शुद्धात्मनो न भवन्तीति ज्ञेयम्। तर्हि किंरूपोऽस्ति स एवात्मेति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—'सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ' संसारस्य मूलभूतराग-द्वेष-मोहादिदोषरहितत्वात्केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितत्वाच्च शुद्धो यः, पुनश्च किंविशिष्टश्चेतन-भावः 'चिती संज्ञाने' धातोः प्रयोगोऽयम्। चेत्यतेऽनयेति स्व-परस्वरूपं चेतना। भू सत्तायां धातुः स्वशक्त्या स्वयं भवतीति भावः। चेतनैव भावो यस्यासौ चेतनभावः। पुनरपि कथम्भूतः ? निर-ञ्जनः, निर्गतं ज्ञानावरणाद्यष्टकर्ममलाञ्जनं यस्मादसौ निरञ्जनः। योऽसौ पूर्वोक्तस्वरूपः शुद्धात्मा भणितः कथितः सोऽहं भवामीति तात्पर्यार्थः ॥२१॥

इति तत्त्वसारविस्तारावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारकश्रीकमलकीर्त्तिदेवविर-चिते कायस्थमाथुरान्वयशिरोमणीभूतभव्यपुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिनकरे स्वगततत्त्व-निर-ञ्जनस्वरूपवर्णनं नाम द्वितीयं पर्व ॥२॥

य जस्स णत्थि पुणो' निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पंचम इन सात स्वर-भेदरूप शब्द कर्णेन्द्रियके विषय हैं। इस प्रकार स्पर्श आदिक बीस संख्यावाले पुद्गल द्रव्यके गुण और शब्दादिक पुद्गलकी पर्याय यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्माके होते हैं, तथापि शुद्ध निश्चयनयसे उस शुद्ध आत्माके नहीं है, ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न—तो फिर वह आत्मा किस स्वरूप वाला है ?

उत्तर—ऐसा पूछनेपर आचार्य उत्तर देते हैं— सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ' अर्थात्, संसारके मूलभूत राग, द्वेष, मोह आदि दोषोंसे रहित होनेसे, तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणोंसे सहित होनेसे जो शुद्ध चेतन भाव है, वही मैं निरंजन आत्मा हूँ।

संस्कृत की 'चिती संज्ञाने' धातुसे यह 'चेतना' शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसके द्वारा स्व और परका स्वरूप चेता जाय, जाना जाय, उसे चेतना कहते हैं। सत्ता अर्थवाली भू धातुसे भावशब्द निष्पन्न होता है। जो अपनी शक्तिसे स्वयं उत्पन्न होता है, उसे भाव कहते हैं। चेतना-रूप भावको चेतनभाव कहते हैं।

प्रश्न—फिर भी वह चेतनभाव कैसा है ?

उत्तर—निरंजन है। ज्ञानावरणादि आठ कर्ममलरूप अंजन (कालिमा) जिसमेंसे निकल गया है, उसे निरंजन कहते हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त स्वरूप वाला जो शुद्धात्मा है, 'वही मैं हूं' ऐसा श्री जिनदेवने कहा है। यह सर्व कथनका तात्पर्यरूप अर्थ है ॥२१॥

इस प्रकार अतिनिकटभव्यजनोंको आनन्दकारक, भट्टारक श्रीकमलकीर्ति-विरचित, कायस्थ माथुरान्वयशिरोमणिभूत भव्यवरपुण्डरीक अमरसिंहके मानस-कमलको दिनकरके समान विक-सित करनेवाले इस तत्त्वसारके विस्तारावतारमें स्वगत-तत्त्वरूप निरंजन आत्माका स्वरूप वर्णन करनेवाला यह दूसरा पर्व समाप्त हुआ ॥२॥

तृतीयं पर्व

स्वगततत्त्वमिदं शिवसौख्यदं परमसाधुजनेहितसत्पदम् ।
अमरसिंहसलक्ष्मण भावय त्वमिह चात्मनि मुक्तिसुखेप्सितम् ॥१॥

इत्याशीर्वादः ।

अथानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्म-नोकर्मादिभावास्तस्यात्मनः सन्तीति मनसि धृत्वा सूत्रमिदं सूत्रकारः प्रतिपादयति—

मूलगाथा—अत्थि त्ति पुणो भणिया णएण ववहारिएण ए सव्वे ।
णोकम्म-कम्मणादी पज्जाया विविहभेयगया ॥२२॥

संस्कृतच्छाया—सन्तीति पुनः भणिताः नयेन व्यावहारिकेनैते सर्वे ।
नोकर्म-कर्मादयः पर्यायाः विविधभेदगताः ॥२२॥

टीका—'अत्थित्ति पुणो भणिया णएण ववहारिएण ए सव्वे' इत्यादि-पदखण्डनारूपेण टीकाकारो मुनिः श्रीकमलकीर्त्तिर्विवृणोति—पुनः सन्तीति भणिताः प्रोक्ताः । के ? ते कला-संस्थान-मार्गणादयः पूर्वोक्ता ये, वक्ष्यमाणास्तु कर्म-नोकर्मजनितभावाः, एते सर्वेऽपि पर्यायाः । कस्य

यह स्वगततत्त्व शिव-सुखका दाता है, परम श्रेष्ठ साधुजन भी इस सतपदकी इच्छा करते हैं । इसलिए हे लक्ष्मण-सहित अमरसिंह, यदि तुम इस लोकमें अपने भीतर मुक्तिसुखकी इच्छा करते हो, तो इस स्वगततत्त्वकी भावना करो ॥१॥ (इति आशीर्वादः)

भा० व०—बहुरि व्यवहारनयकरि कला संस्थान मार्गणादिक पूर्वँ कह्या, अर कथ्यमान कर्म नोकर्मनि उत्पन्न भये एते सर्व ही पर्याय कौनकैं होय हैं, अर कौन नयकरि ? अनुपचरित असद्भूत व्यवहारकरि नोकर्म तो शरीरादिक, अर कर्म ज्ञानावरणादि आठ ते ही पर्याय नाना भेदनि कूं प्राप्त भये संसार अवस्थाविषैं जीवकैं कह्या । यद्यपि स्वशुद्धात्माकैं व्यवहारनयकरि अभिन्न ये जे पूर्वोक्त कर्म-जनित भाव हैं, तो भी निश्चयनय करि परमात्मातैं भिन्न अर हेयभूत त्यागने योग्य हैं, हे भव्य तूं जानि ॥२२॥

अब अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे कर्म-नोकर्मादि भाव इस आत्माके हैं, यह बात मनमें रखकर सूत्रकार श्री देवसेन इस वक्ष्यमाण गाथासूत्रको कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पुणो) पुनः (ववहारिएण णएण) व्यावहारिक नयसे (विविहभेयगया) अनेक भेद-गत (ए सव्वे) ये सर्व (णोकम्मकम्मणादी) नोकर्म और कर्म-जनित (पज्जाया) पर्याय (अत्थित्ति) जीवके हैं, ऐसा (भणिया) कहा गया है ।

टीकार्थ—'अत्थित्ति पुणो भणिया' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि श्रीकमलकीर्त्ति विवरण करते हैं—पूर्वमें कहे गये कला, संस्थान और मार्गणादिक, तथा वक्ष्यमाण कर्म-नोकर्म-जनित

भवन्ति ? जीवस्य। केन नयेन ? अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण। 'णोकम्म-कम्मणादी पज्जाया विविहभेयगया' नोकर्म शरीरादीनि, कर्माणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ, त एव पर्याया विविधभेदगताः संसारावस्थायां जीवस्य भणिताः कथिताः। यद्यपि असिद्धात्मनो व्यवहारनयेनाभिन्नान् यान् पूर्वोक्तकर्मजनितान् भावांस्तथापि निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नान् हेयभूतांस्तान् जानीहि हे भव्यजनेति भावार्थः ॥२२॥

अथात्मनः कर्मणां च संयोगविशेषं दृष्टान्तद्वारेण सूत्रकारो द्रढयति—

मूलगाथा—संबंधो एदेंसि णायव्वो खीर-णीरणाएण।
एकत्तो मिलियाणां णिय-णियसब्भावजुत्ताणं ॥२३॥

संस्कृतच्छाया--सम्बन्ध एतयोः ज्ञातव्यः क्षीर-नीरन्यायेन।
एकत्वं मिलितयोः निज-निजसद्भावयुक्तयोः ॥२३॥

टीका—'संबंधो एदेंसि' इत्यादि-पदखण्डनारूपेण टीकाकारो व्याख्यानं करोति—एतयोर्जीव-कर्मणोः सम्बन्धज्ञेर्विवेकिभिर्ज्ञातव्यो भवति। कथम् ? सहजातक्षीर-नीरयोरिव न्यायेन लोक-

---

आगैं आत्माकूं भिन्न दिखावैं हैं—

भा० व०—जे जीव कर्म तिनिका संबंध है सो संबंधनैं जाननैंवारे विवेकीनिकूं जानना जोग्य है—साथि उत्पन्न भया दूध-जलका न्यायकी नांई लोक प्रसिद्ध मार्गकरि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार बलात् कहिए बलैं एकपणाकरि मिला निज निज स्वभाव गुणयुक्त जीव कर्मनिकैं चेतना अचेतना गुणयुक्तनिकैं जीव अजीव द्रव्य जे दोय या प्रकार। तथापि शुद्धनिश्चयनयकरि ते जीव पुद्गल दोन्यों ही आप आपकै गुण चेतना अचेतनादिकनिकूं नांहीं त्यजै हैं, आत्मा ज्ञानकूं नांहीं छोड़ै है, अर चेतना-रहितपुद्गल अचेतनपनांकूं नांहीं त्यजै है ॥२३॥

भाव, ये सभी पर्याय अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनयसे जीवके होते हैं। 'णोकम्म-कम्मणादी पज्जाया विविहभेयगया, अर्थात् शरीरादिक नोकर्म और ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप अनेक भेदगत पर्याय संसार-अवस्थामें जीवके कही गई हैं। यद्यपि असिद्ध (संसारी) आत्माके पूर्वोक्त कर्म-जनित जिन भावोंको व्यवहारनयसे अभिन्न कहा गया है, तथापि निश्चयनयसे वे परम शुद्ध सिद्धात्मासे भिन्न हैं, अतः हे भव्यजनो, तुम उन्हें हेयभूत अर्थात् छोड़नेके योग्य जानो। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥२२॥

अब सूत्रकार देवसेनाचार्य आत्मा और कर्मोंके संयोगविशेषको दृष्टान्त-द्वारा दृढ़ करते हैं—

अन्वयार्थ—(णिय-णियसब्भावजुत्ताणं) अपने अपने सद्भावसे युक्त, किन्तु (एकत्तो मिलियाणं) एकत्वको प्राप्त (एदेंसि) इन जीव और कर्मका (संबंधो) सम्बन्ध (खीर-णीरणाएण) दूध और पानीके न्यायसे (णायव्वो) जानना चाहिए।

टीकार्थ—'संबंधो एदेंसि' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते हैं—दो द्रव्योंके संयोग-सम्बन्धके ज्ञाता विवेकी जनोंको इन जीव और कर्मोंका सम्बन्ध जन्म-जात दूध-पानीके

प्रसिद्धमार्गेण। 'एकत्तो मिलियाणं णिय-णियसब्भावजुत्ताणं' अनुपचरितासद्भूतव्यवहारबलादेकत्वं मिलितयोः निज-निजस्वभावगुणयुक्तयोश्चेतनाचेतनगुणयुक्तयोः जीवाजीवद्रव्ययोर्द्वयोरिति। तथापि शुद्धनिश्चयनयेन ते द्वे अपि स्वकीयं गुणं चेतनादिकं न त्यजतः। इति मत्वा सहजानन्दैकरूप-स्व-परप्रकाशकचिद्-गुणचकचकायमाननिजात्मनि भावना कर्तव्येति पण्डितैः। कः पण्डितः? विवेकीति तात्पर्यार्थः ॥२३॥

अथ स्व-परयोर्भेदं दृष्टान्तेन दर्शयति--

मूलगाथा— जह कुणइ को वि भेयं पाणिय-दुद्धाण तक्कजोएणं।
णाणी वि तहा भेयं करेइ वरझाणजोएणं ॥२४॥

संस्कृतच्छाया—यथा करोति कोऽपि भेदं पानीय-दुग्धयोस्तर्कयोगेन।
ज्ञानी अपि तथा भेदं करोति वरध्यानयोगेन ॥२४॥

भा० व०—[1]आगैं ज्ञानी स्व-परका भेद कैसे करै, सो कहै हैं—

जैसे कोऊ पुरुष तर्कके योगसे पानी और दूध कूं जुदा जुदा करै है, तैसे ही ज्ञानी पुरुष हूँ वर कहिए उत्तम ध्यानके बलकरि स्व-परका भेद करै है ॥२४॥

समान न्यायसे अर्थात् लोक-प्रसिद्ध मार्गसे भिन्न-भिन्न जानना चाहिए। 'एकत्तो मिलियाणं णिय-णियसब्भावजुत्ताणं' अर्थात् अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनयके बलसे एकत्वरूपसे मिले हुए और अपने-अपने स्वाभाविक गुणसे अर्थात् चेतन-अचेतन गुणसे युक्त—जीव और अजीव इन दोनों द्रव्योंका संयोग सम्बन्ध है, तथापि शुद्ध निश्चयनयसे वे दोनों ही अपने-अपने गुण चेतनत्व और अचेतनत्वको नहीं छोड़ते हैं। ऐसा मानकर सहजानन्दी, एकरूप, स्व-पर-प्रकाशक, चिद्-गुणसे चकचकायमान (प्रकाशमान या चमकते हुए) अपने आत्मामें पंडितजनोंको भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ॥२३॥

प्रश्न—पंडित कौन कहलाता है?

उत्तर—जो सत् और असत्का या स्व-परका विवेकी है।

अब सूत्रकार स्व-परके भेदको दृष्टांत-द्वारा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (को वि) कोई पुरुष (तक्कजोएण) तर्कके योगसे (पाणिय-दुद्धाण) पानी और दूधका (भेयं) भेद (कुणइ) करता है, (तहा) उसी प्रकार (णाणी वि) ज्ञानी पुरुष भी (वर-झाणजोएणं) उत्तम ध्यानके योगसे (भेयं) चेतन और अचेतनरूप स्व-परका (भेयं) भेद (करेइ) करता है।

---

१. ब्यावर भवनकी प्रतिमें गाथा २४ और उसका अर्थ नहीं है। हमने उसी भाषामें बना करके लिखा है।
—सम्पादक

टीका—'जह कुणइ को वि भेयं' इत्यादि—पदखण्डनारूपेणोत्तरकर्त्ता भट्टारकश्रीपङ्कज-कीर्त्तिना व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—यथा कश्चिद् दक्षः पुरुषः करोति। कम्? भेदम्। कयोः? पाणिय-दुद्धाण तक्कजोएणं' पानीय-दुग्धयोः सहजातयोः। केन प्रकारेण? तर्कप्रयोगेण पृथक् पृथक् करोतीत्यर्थः। 'णाणी वि तहा भेयं करेइ' वीतरागनिर्विकल्पनिजशुद्धात्मश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपभेदाभेदरत्नत्रयभावनोत्पन्नस्वसंवेदनज्ञान्यपि तथैव पूर्वोक्तदृष्टान्तन्यायेन भेदं करोति। केन कारणेन? 'वरझाणजोएण' वरध्यानयोगेन वरं प्रधानं च तद् ध्यानं च वरध्यानम्, वरध्यानस्य योगो वरध्यानयोगः, तेन वरध्यानयोगेन। कयोर्भेदम्? पूर्वोक्तस्व-परद्रव्यस्वरूपयोरिति भेदं कृत्वा मुक्तिललनाभिलाषिणा पुरुषेण निजात्मद्रव्यमुपादेयबुद्ध्या निरन्तरं स्मरणीयं भवतीति भावार्थः ॥२४॥

अथ ध्यानेन भेदं कृत्वा किं करोतीति विकल्पं मनसि सम्प्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति सूत्रकर्त्ता। तथा हि--

मूलगाथा—झाणेण कुणउ भेयं पुग्गल-जीवाण तह य कम्माणं।
घेत्तव्वो णिय अप्पा सिद्धसरूवो परो बंभो ॥२५॥

भा० व०—पूर्वोक्त धर्म शुक्लध्यानकरि सोही पूर्वोक्त ज्ञानी भेदकूं भिन्न-भिन्न करो। कोन का भेद करै? पुगद्‌ल जीवका, शरीर आत्माका। तैसैं ही ज्ञानी ज्ञानावरणादिक अष्ट

टीकार्थ—(जह कुणइ को वि भेयं) इत्यादि गाथाका उत्तरकर्ता भट्टारक श्री पंकज (कमल) कीर्त्ति अर्थ-व्याख्यान करते हैं—जैसे कोई दक्ष (कुशल) पुरुष (पाणिय-दुद्धाणं) पानी और दूधका जो कि गायके स्तनोंसे एक साथ मिले हुए निकलते हैं—(तक्कजोएण) तर्कके प्रयोग द्वारा पृथक्-पृथक् रूपसे भेद कर देता है (णाणी वि तहा भेयं करेइ) वीतराग निर्विकल्प अपने शुद्ध आत्माके श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूतिरूप भेदाभेदात्मक रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न स्वसंवेदन ज्ञानी भी उसी प्रकार पूर्वोक्त दृष्टान्तके न्यायसे भेद कर देता है।

प्रश्न—किस कारणके द्वारा भेद करता है?

उत्तर—'वरझाणजोएण' वर अर्थात् प्रधान जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं उनके योगसे भेद करता है।

प्रश्न—किनका भेद करता है?

उत्तर—पूर्वोक्त स्व-पर द्रव्यस्वरूप जीव और कर्मोंका भेद करता है।

अतएव मुक्ति-ललनाके अभिलाषी पुरुषको उपादेयबुद्धिसे अपने शुद्ध आत्मद्रव्यका निरन्तर स्मरण करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥२४॥

अब ध्यानके द्वारा भेद करके ज्ञानी पुरुष क्या करता है, ऐसा विकल्प मनमें धरकर सूत्रकार देवसेन यह वक्ष्यमाण सूत्र कहते हैं—

अन्वयार्थ—(झाणेग) ध्यानसे (पुग्गल-जीवाण) पुद्गल और जीवका (तह य) और उसी प्रकार (कम्माणं) कर्म और जीवका (भेयं) भेद (कुणउ) करना चाहिए। तत्पश्चात् (सिद्धसरूवो) सिद्ध-स्वरूप (परो बंभो) परम ब्रह्मरूप (णिय अप्पा) अपना आत्मा (घेत्तव्वो) ग्रहण करना चाहिए।

संस्कृतच्छाया—ध्यानेन करोतु भेदं पुद्गल-जीवयोस्तथा च कर्मणाम् ।
ग्रहीतव्यः निजात्मा सिद्धस्वरूपः परः ब्रह्मा ।।२५।।

टीका—'झाणेण' इत्यादि टीकाकर्त्ता मुनिः पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं करोति । 'झाणेण कुणउ भेयं' पूर्वोक्तधर्म-शुक्लध्यानेन स एव पूर्वोक्तज्ञानी भेदभिन्नं भिन्नं करोतु । कयोः केषां वा ? 'पुग्गलजीवाण तह कम्माणं' पुद्गल-जीवयोः शरीरात्मनोः, तथैव ज्ञानावरणाद्यष्टविधद्रव्यकर्मणां रागद्वेषादिभावकर्मणां च, औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणादिपञ्चप्रकारशरीरनोकर्मणामपि स्वशुद्धात्मनः सकाशात् पृथक्त्वं करोतु । पश्चात् किं कर्तव्यं भवतीति क्रियायाः अध्याहारः क्रियते । 'घेत्तव्वो णिय अप्पा' निश्चयनयेन द्रव्यकर्मभावकर्म-नोकर्मरहितो निजशुद्धात्मा ग्रहीतव्यः । कथम्भुतो निजात्मा ? 'सिद्धसरूवो परो बंभोः' सिद्धस्वरूपः—सिद्धं निष्पन्नं कृतकृत्यं स्वरूपं यस्यासौ

प्रकार द्रव्यकर्मनिका अर राग-द्वेषादिक भावकर्मनिका । बहुरि औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणादिक पांच शरीर नोकर्मनिका हू स्वशुद्धात्मातैं हू न्यारा करौ । पीछैं कहा कर्तव्य होय है ? निज आत्मा कूं ही ग्रहण करना योग्य है । कैसा है सिद्ध स्वरूपकूं ही उत्पन्न भया है कृतकृत्य अपना स्वरूप जाका । अर सर्वोत्कृष्ट अर स्वज्ञानादिक गुणकरि वृद्धिकौं प्राप्त होय सो ब्रह्मा कहिए, ताहि ग्रहण करणा योग्य है ।।२५।।

भावार्थ—भेदज्ञान करके ज्ञानीपुरुष अपने शुद्धस्वरूपको ग्रहण करता है ।

टीकार्थ—'झाणेण कुणउ भेयं' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ-व्याख्यान करते हैं । 'झाणेण कुणउ भेयं' अर्थात् पूर्वोक्त धर्मध्यान और शुक्लध्यानके द्वारा वही पूर्वोक्त ज्ञानी भिन्न-भिन्न रूपसे भेद करे ।

प्रश्न—किनका भिन्न-भिन्न भेद करे ?

उत्तर—'पुग्गल-जीवाण तह य कम्माणं' पुद्गल और जीवका, अर्थात् शरीर और आत्माका तथैव ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके द्रव्यकर्मोंका, राग-द्वेषादि भावकर्मोंका और औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण आदि पांच प्रकारके शरीररूप नोकर्मोंका भी अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे पृथक्पना करे ।

प्रश्न—पीछे क्या करना चाहिए ?

उत्तर—'पश्चात् क्या कर्तव्य है' इस क्रियाका अध्याहार करना चाहिए । तब 'घेत्तव्वो णिय अप्पा' निश्चयनयसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित निज शुद्ध आत्मा ग्रहण करना चाहिए ।

प्रश्न—निज आत्मा कैसा है ?

उत्तर—'सिद्धसरूवो परो बंभो' सिद्ध स्वरूप है । 'सिद्ध अर्थात् निष्पन्न हो गया है कृतकृत्य स्वरूप जिसका, वह सिद्धस्वरूप कहलाता है । भावार्थ—जिसे संसारमें करनेके योग्य कोई भी कार्य शेष नहीं रहा है, उसे कृतकृत्य कहते हैं ।

प्रश्न—पुनः वह आत्मा किस विशेषतासे युक्त है ?

उत्तर—'पर है' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है ।

सिद्धस्वरूपः । पुनः किंविशिष्टः ? परः सर्वोत्कृष्टः । पुनरपि कथम्भूतः ? ब्रह्मा 'ब्रहि वृद्धौ' धातोः प्रयोगः, स्वज्ञानादिगुणेन बृहति वृद्धिं गच्छतीति ब्रह्मा, परब्रह्मस्वरूपः । इति मत्वा भव्यवर-पुण्डरीकेण त्रिशुद्धया तत्र सिद्धबुद्धैकस्वभावे निजात्मनि निरन्तरं भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यार्थः ।।२५।।

अथासौ निजात्मा कीदृशः क्व च तिष्ठतीत्यावेदयति—

मूलगाथा—मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ।।२६।।

संस्कृतच्छाया—मल-रहितो ज्ञानमयो निवसति सिद्धौ यादृशः सिद्धः ।
तादृशो देहस्थः परमो ब्रह्मा मन्तव्यः ।।२६।।

टीका—'मलरहिओ णाणमओ' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण भट्टारक-श्रीकमलकीर्त्तिना व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा–'मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो' मल-रहितः शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्ममलाद् रहितत्वादिति ज्ञानमयः सकलविमलकेवलज्ञानेन

आगैं जैसा सिद्धालयविषैं सिद्ध है तैसा अपना आत्मा जाननां अैसैं कहै हैं—

भा० व०—सिद्धालयविषैं जैसा सिद्ध तिष्ठैं है सो कैसा ? मलरहित शुद्ध द्रव्यार्थिक नय-करि द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म मलरहित अर ज्ञानमय सकल विमल केवलज्ञानकरि पूर्ण है, तैसा ही देहविषैं तिष्ठता परम कहिए उत्कृष्ट मा जो केवलज्ञानादि लक्ष्मी जिस विषैं सो परमात्मा परमब्रह्म जाननां । बहुरि शुद्धनयकरि आत्माकूं ऐसा ध्यावना ।।२६।।

प्रश्न—फिर भी वह कैसा है ?

उत्तर—ब्रह्मा है, अर्थात् परमब्रह्मस्वरूप है । संस्कृत 'ब्रहि' धातुका प्रयोग वृद्धिके अर्थमें होता है । जो अपने ज्ञानादिगुणोंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है, उसे ब्रह्मा कहते हैं ।

इस प्रकार अपने आत्माको परब्रह्मस्वरूप मानकर भव्योंमें श्रेष्ठ कमल सदृश उत्तम पुरुषको मन वचन कायरूप त्रियोगकी शुद्धिसे उस सिद्ध, बुद्धैकस्वभाववाले निज आत्माकी निर-न्तर भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ।।२५।।

अब वह निज आत्मा कैसा है और कहां रहता है ? यह सूत्रकार बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जारिसो) जैसा (मल-रहिओ) कर्म-मलसे रहित, (णाणमओ) ज्ञानमय (सिद्धो) सिद्धात्मा (सिद्धीए) सिद्धलोकमें (णिवसइ) निवास करता है, (तारिसओ) वैसा ही (परमो बंभो) परमब्रह्मस्वरूप अपना आत्मा (देहत्थो) देहमें स्थित (मुणेयव्वो) जानना चाहिए ।

टीकार्थ—'मलरहिओ णाणमओ' इत्यादि गाथाका भट्टारक श्री कमलकीर्त्ति व्याख्यान करते हैं। यथा—'मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो' शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मलोंसे रहित है, अतः निर्मल है। तथा वह सकल विमल केवल-ज्ञानसे सम्पन्न है, अतः वह ज्ञानमय है। ऐसा सिद्ध परमात्मा उपचरित सद्भूतव्यवहारनयसे निवास करता है।

निर्वर्तितत्वाद् ज्ञानमयः, उपचरितसद्भूतव्यवहारनयेन निवसति। क्व? सिद्धौ, सिद्धालये यादृशः सिद्धः पूर्वोक्तः परमात्मा तिष्ठति, 'तारिसओ देहत्थो' तादृश एव देहस्थः अनुपचरितासद्भूत-व्यवहारेण देहे तिष्ठतीति देहस्थः। 'परमो बंभो मुणेयव्वो' परा उत्कृष्टा मा केवलज्ञानादि-लक्ष्मी यत्रासौ परमः, पूर्वोक्त एव ब्रह्मा परमात्मा मन्तव्यो ज्ञातव्यः परमासन्नभव्यजीवैर्ज्ञान-वैराग्यवद्भिर्योगिभिरुपादेयबुद्ध्या मनसा स्मरणीयो वचसा वक्तव्यः, कायेन तदनुकूलमाचरणीय-महर्निशमिति तात्पर्यार्थः ॥२६॥

अथ शुद्धपारिणामिकभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन तस्यैव परमब्रह्मणः स्वरूपं विवृणोति—

मूलगाथा—णोकम्म-कम्मरहिओ, केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो।
सो हं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥२७॥

संस्कृतच्छाया—नोकर्म-कर्मरहितः केवलज्ञानादिगुणसमृद्धो यः।
सोऽहं सिद्धः शुद्धो नित्यः एको निरालम्बः ॥२७॥

भा० व०—सो सिद्धोऽहं कहिए सो सिद्ध मैं हूँ। सो कैसा हूँ? सिद्ध हू, कृतकृत्य भए हैं समस्त कृत्य जाकै ऐसा सिद्ध। अर शुद्ध हूँ रागादिक विभाव कल्पना कलंकादिक रहितपणातैं शुद्ध हूँ। अर नित्य हूँ कर्मोदयकरि उत्पन्न भए जन्म-मरणादिक रहित। अर एक हूँ सहज जो स्वभाव शुद्ध चिदानन्द एकरूपपणातैं एक अद्वितीय स्वरूप हूँ। अर निरालंब हूँ कर्मोदयका अवलंवन रहितपणातैं निरालंब असहाय अन्य आलम्बन रहित हूँ। जो नोकर्म पांच प्रकार शरीर, कर्म ज्ञानावरणादिक आठ प्रकार द्रव्यकर्म, अर समस्त कर्मोत्पन्न भाव रहित हूँ। अर केवलज्ञानादिक अनन्त गुणनि करि भर्या सम्पूर्ण परमात्मा मुक्तिविषैं तिष्ठै सो मैं हूँ। या प्रकार गुण विशेष परम ब्रह्मा सो ही मैं हूँ ॥२७॥

प्रश्न—कहां निवास करता है?

उत्तर—सिद्धिमें अर्थात् सिद्धालयमें निवास करता है।

जैसा पूर्वोक्त सिद्ध परमात्मा सिद्धालयमें निवास करता है, वैसा ही अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे इस देहमें अवस्थित है। उसे ही 'परमो बंभो मुणेयव्वो' परम ब्रह्म मानना चाहिए। पर अर्थात् उत्कृष्ट, मा अर्थात् केवलज्ञानादिरूप लक्ष्मी जिसमें पाई जावे, उसे 'परम' कहते हैं। भावार्थ--पूर्वोक्त उसी ब्रह्माको परमात्मा जानना चाहिए। वही परमब्रह्म परमात्मा ज्ञान और वैराग्य वाले अत्यन्त निकट भव्य जीवोंको उपादेय बुद्धिसे मनके द्वारा स्मरण करनेके योग्य है, वचनके द्वारा कथन करनेके योग्य है और कायके द्वारा तदनुकूल रात-दिन आचरण करनेके योग्य है। यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ॥२६॥

अव सूत्रकार शुद्ध पारिणामिक भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे उसी परम-ब्रह्मका स्वरूप विवरण करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो) जो सिद्ध जीव, (णोकम्म-कम्मरहिओ) शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा राग-द्वेषादि भावकर्मसे रहित है, (केवलणाणाइ-गुणसमिद्धो) केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंसे समृद्ध है, (सो हं) वही मैं (सिद्धो) सिद्ध हूँ, (सुद्धो) शुद्ध हूँ, (णिच्चो) नित्य हूँ, (एक्को) एक स्वरूप हूँ और (णिरालंबो) निरालंब हूँ।

टीका—'णोकम्मकम्म' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण टीकाकारेण मुनिना व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा-स एव परमात्मा कथम्भूतः? 'णोकम्म-कम्मरहिओ' नोकर्माणि पञ्चविधशरीराणि, कर्माणि ज्ञानावरणाद्यष्टविधानि द्रव्यकर्माणि, तैः समस्तकर्मजभावैः रहितः। पुनरपि किंविशिष्टः? 'केवलणाणाइ गुणसमिद्धो' निश्चयेन निजस्वरूपप्रकाशको व्यवहारेण लोकालोकादिपरस्वरूपप्रकाशकः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणैः समृद्धः सम्पूर्णः परमात्मा मुक्तौ तिष्ठति सोऽहं एवंगुणविशिष्टः परमब्रह्म स एवाहम्। पुनश्च किंरूपः? सिद्धो सिद्धः कृतकृत्यो भरितावस्थः। पुनरपि कीदृशः? 'सुद्धो' रागादिविभाव कल्पनाकलङ्काभावात् शुद्धः। पुनश्च कीदृक्? 'णिच्चो' कर्मोदयजनितजन्म-मरणादिरहितत्वान्नित्यः। तथैव सहजशुद्धचिदानन्दैकरूपत्वात् एकोऽद्वितीयस्वरूपः। पुनश्च किं लक्षणः? 'णिरालंबो' कर्मोदयावलम्बनरहितत्वान्निरालम्बोऽसहायः, निर्गतान्यालम्बनानि यस्मादसौ निरालम्बः, तस्मिन्, निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसंजातसहजानन्दैकरूपनिराकुलत्वलक्षणसुखामृतपूरपूरिते निजात्मनि निरन्तरं भावना भावनीया भव्यैरिति भावार्थः ॥२७॥

टीकार्थ—'णोकम्म-कम्मरहिओ' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं। यथा--वह परमात्मा कैसा है? 'णोकम्म-कम्मरहिओ' नोकर्म—पांच प्रकारके शरीर, और कर्म-ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके द्रव्यकर्म, तथा समस्त कर्म-जनित रागादि भावोंसे रहित है।

प्रश्न—फिर भी वह कैसा है?

उत्तर—'केवलणाणाइगुणसमिद्धो' निश्चयनयसे निज-स्वरूप-प्रकाशक, और व्यवहारनयसे लोकालोकादि पर-स्वरूप प्रकाशक केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंसे समृद्ध अर्थात् सम्पूर्ण रूपसे सम्पन्न परमात्मा मुक्तिमें रहता है, वैसा ही उक्त गुणोंसे विशिष्ट परमब्रह्म मैं ही हूँ।

प्रश्न—पुनः मेरा क्या स्वरूप है?

उत्तर—सिद्ध हूँ, कृतकृत्य हूँ और सर्व गुणोंसे परिपूर्ण अवस्था वाला हूँ।

प्रश्न—फिर भी कैसा हूँ?

उत्तर—रागादि विभाव कल्पनाके कलंकका अभाव होनेसे शुद्ध हूँ।

प्रश्न—फिर भी कैसा हूँ?

उत्तर—कर्मोदय-जनित जन्म-मरणादिसे रहित होनेके कारण नित्य हूँ। तथैव सहज शुद्ध चिदानन्दैकरूप होनेसे एक अर्थात् अद्वितीय रूप हूँ।

प्रश्न--और मेरा क्या लक्षण है?

उत्तर--'णिरालंबो' कर्मोदयरूप अवलम्बसे रहित होनेके कारण निरालम्ब हूँ। अर्थात् परकी सहायतासे रहित हूँ। जिसके सभी प्रकारके आलम्बन निकल गये हैं, उसे निरालम्ब कहते हैं। निश्चयनयसे उस वीतराग निर्विकल्प, समाधि-संजात सहजानन्दैकरूप निराकुलत्व लक्षण-वाले सुखामृतसे परिपूर्ण निज आत्मामें भव्य जीवोंको निरन्तर भावना भानी चाहिए। यह उस गाथाका भावार्थ है ॥२७॥

अथ पुनरपि विशेषेणामुमेवार्थं प्रकटयति—

मूलगाथा—सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइसमिद्धो हं।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥२८॥

संस्कृतच्छाया—सिद्धोऽहं शुद्धोऽहं अनन्तज्ञानादिसमृद्धोऽहम्।
देहप्रमाणो नित्योऽसंख्यदेशोऽमूर्तश्च ॥२८॥

टीका—सिद्धोहमित्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—शुद्धनयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणात्मकसिद्धस्वरूपत्वात् सिद्धोऽहम्, निष्कर्मात्मस्वरूपाद्विपरीतकर्मोदयजनितराग-द्वेष-मोहादिमलरहितत्वात् शुद्धोऽहम्, तेनैव नयेन निरावरणानन्तगुणसमूहमयत्वादनन्तज्ञानादिगुण-समृद्धोऽहं भरितावस्थोऽहम्। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन पूर्वोपार्जितनिजदेहप्रमाणोऽहम्, तथैवोत्पादव्ययोपाधिकारणभूतकर्मोदयजनितोत्पादव्ययसहितोऽपि शुद्धनिश्चयेन चिदानन्दात्म-टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वान्नित्योऽहम्, तेनैव नयेन लोकाकाशप्रमितासंख्यातप्रदेशोऽहम्, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवतीमूर्तिहेतुभूतनामकर्मोदयोत्पन्नया मूर्त्या युक्तोऽपि निश्चयेन परमानन्दस्वाभाविक-परप्रकाशककेवलज्ञानमयमूर्तित्वाच्च पौद्गलिकपञ्चेन्द्रियविषयज्ञानेनाग्राह्यत्वादमूर्तोऽहमिति

आगैं शुद्धभावकूं कहै हैं—

भा० व०—मैं सिद्ध हूँ, मैं शुद्ध, मैं अनन्तज्ञानादिक गुणनिकरि भर्या हूँ, अर चरम देह-प्रमाण हूँ, नित्य हूँ, असंख्यप्रदेशी हूं, बहुरि अमूर्तीक हूँ ॥२८॥

अब फिर भी विशेषरूपसे इसीही उक्त अर्थको प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(सिद्धोहं) मैं सिद्ध हूँ, (सुद्धो हं) मैं शुद्ध हूँ, (अणंतणाणाइसमिद्धो हं) मैं अनन्त ज्ञानादिसे समृद्ध हूँ, (देहपमाणो) मैं शरीर-प्रमाण हूं, (णिच्चो) मैं नित्य हूं, (असंखदेसो) मैं असंख्य प्रदेशी हूँ, (अमुत्तो य) और अमूर्त्त हूं।

टीकार्थ—'सिद्धो हं' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं—यथा—शुद्धनयसे केवलज्ञानादि अनन्तगुणात्मक सिद्धोंके समान स्वरूप वाला होनेसे मैं सिद्ध हूँ, निष्कर्म आत्मस्वरूपसे विपरीत कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए राग, द्वेष, मोह आदि मलोंसे रहित होनेके कारण मैं शुद्ध हूँ, उसी शुद्धनयकी अपेक्षा निरावरण अनन्त गुणोंके समूहमय होनेसे मैं अनन्तज्ञानादि गुणोंसे समृद्ध हूँ, अर्थात् अनन्त गुणोंसे भरी हुई अवस्थावाला हूँ। अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयसे पूर्व कर्मो-पार्जित अपने शरीरके प्रमाण हूं, तथैव उत्पाद-व्ययरूप उपाधिके कारणभूत कर्मोदयसे उत्पन्न उत्पाद और व्ययसहित होता हुआ भी शुद्ध निश्चयनयसे चिदानन्दस्वरूप टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावी होनेसे मैं नित्य हूँ, उसी ही शुद्ध निश्चयनयसे लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात प्रदेशवाला मैं हूं, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाली मूर्त्तिके कारणभूत नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मूर्त्तिसे संयुक्त होता हुआ भी तथा निश्चयनयसे परमानन्द स्वाभाविक, पर-प्रकाशक केवलज्ञानमयी मूर्त्तिवाला होनेसे पौद्गलिक पांच इन्द्रियोंके विषयभूत ज्ञानके द्वारा अग्राह्य होनेसे मैं अमूर्त्त हूं। इसप्रकार

निरन्तर-भेदज्ञानभावनाबलेन मोक्षाभिलाषिणात्यासन्नभव्येन स्वशुद्धात्मनि भावनया भाव्यमिति भावार्थः ॥२८॥

अथानन्तरं स्वध्यानेनात्मनः किं प्रकटयतीत्यभिप्रायं मनसि कृत्वाऽऽचार्यश्रीदेवसेनदेवः सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

मूलगाथा—थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे ।
पयडइ बंभसरूवं अप्पा झाणेण जोईणं ॥२९॥

संस्कृतच्छाया—स्थिते मनःसंकल्पे रुद्धेऽक्षाणां विषयव्यापारे ।
प्रकटयति ब्रह्मस्वरूपं आत्मा ध्यानेन योगिनाम् ॥२९॥

टीका—'अप्पा झाणेण जोईणं' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण वृत्तिकृता मुनिराजेन व्याख्यानं क्रियते-अयमात्मा परमात्मा ध्यानेन परमयोगिनां 'पयडइ बंभसरूवं' परमब्रह्मस्वरूपं प्रकटयति प्रकाशयतीत्यर्थः । कस्मिन् सति ? 'थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे' कर्मोदयजनित-मनःसम्भूतलोकाकाशप्रमितसंकल्पौघे स्थिते सति नामकर्मोदयोत्पन्नद्रव्य-भावरूपपञ्चेन्द्रिय-

---

आगैं कहैं हैं—आत्मध्यानकरि परमविशुद्धस्वरूप प्रगट होय है—

भा० व०—योगी जे हैं तिनकैं आत्मध्यान करि परम ब्रह्मस्वरूप है सो प्रगट होय है। कर्मका उदय करि उत्पन्न भया मन तातैं उत्पन्न लोकाकाश-प्रमाण संकल्पनिका समूहनिकूं रुकता संता, अर नामकर्मका उदयकरि उत्पन्न भए द्रव्य-भावरूप पांच इंद्रियनिका विषयनिकूं रुकता संता परम ब्रह्म प्रगट होय है ॥२९॥

निरन्तर भेदज्ञानकी भावनाके बलसे मोक्षाभिलाषी अतिनिकट भव्य पुरुषको अपनी शुद्ध आत्मामें भावना भानी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥२८॥

अब इसके पश्चात् अपने ध्यानसे आत्माके क्या प्रकट होता है ? इन प्रश्नरूप अभिप्रायको मनमें धारण करके आचार्य श्री देवसेनदेव यह वक्ष्यमाण सूत्र कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मणसंकप्पे) मनके संकल्पोंके (थक्के) बन्द हो जानेपर (अक्खण) और इन्द्रियोंके (विसयवावारे) विषय-व्यापारके (रुद्धे) रुक जानेपर (जोईणं) योगियोंके (झाणेण) ध्यानके द्वारा (बंभसरूवं) ब्रह्मस्वरूप (अप्पा) आत्मा (पयडइ) प्रकट होता है ।

टीकार्थ—'अप्पा झाणेण जोईणं' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनिराज व्याख्यान करते हैं—यह आत्मस्वरूप परमात्मा ध्यानके द्वारा परमयोगियोंके 'पयडइ बंभसरूवं' परम ब्रह्मस्वरूप प्रकट अर्थात् प्रकाशित होता है।

प्रश्न—किस कार्य-विशेषके होनेपर परम ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है ?

उत्तर—'थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे' अर्थात् कर्मोदय-जनित मनमें उत्पन्न होनेवाले लोकाकाशप्रमाण संकल्प-समूहके स्थित हो जानेपर, तथा नामकर्मके उदयसे उत्पन्न द्रव्य और भावरूप पांचों इन्द्रियोंके विषय-व्यापारके निरुद्ध हो जानेपर परम ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है।

व्यापारे च निरुद्धे सतीत्येवं मत्वा दुर्ध्यानार्त्त-रौद्रद्वयं त्यक्त्वा सर्वोद्यमेनासन्नभव्येन धर्म-शुक्लध्यान-द्वयं निरन्तरमुपादेयबुद्ध्या भावनीयमिति भावार्थः ॥२९॥

अथानन्तरं दृष्टान्तेन सद्-ध्यानमाहात्म्यं पुनरपि विवृणोति--

मूलगाथा— जह जह मणसंचारा इंदियविसया वि उवसमं जंति ।
तह तह पयडइ अप्पा अप्पाणं जह णहे सूरो ॥३०॥

संस्कृतच्छाया--यथा यथा मनःसंचारा इन्द्रियविषया अपि उपशमं यान्ति ।
तथा तथा प्रकटयति आत्माऽऽत्मानं यथा नभसि सूर्यः ॥३०॥

टीका—'जह जह मणसंचारा' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण टीकाकारेण मुनिना प्रकटीक्रियते—यथा यथोपशमं यान्ति । के के ? मणसंचारा इंदियविसया वि उवसमं जंति' कर्मोदयप्रेरितसंचलितमनसः संव्यवहाराः पञ्चेन्द्रियविषयाश्च शान्तिं गच्छन्तीत्यर्थः । 'तह तह पयडइ अप्पा अप्पाणं' तथा तथाऽयमात्मा लब्धकालादिलब्धिरासन्नभव्यसारः स्वात्मानं स्वयं प्रकटयति प्रकाशयति । कथं क इव वा ? 'जह णहे सूरो' यथा नभस्याकाशे सूर्यो घट-पट-स्तम्भ-कुम्भादि-द्रव्यभरितं भुवनं

आगैं कहै हैं—जैसें जैसें इंद्रिय-मनका संचार रुकै है तैसें आत्मा प्रगट होय है—

भा० व०—जैसें जैसें कर्मोदय प्रेरित संक्लेशित मनका संचार व्यवहार पंचेंद्रिय विषय जे हैं ते शांति कूं प्राप्त होय हैं तैसें तैसें यो आत्मा लब्ध भया है कालादिलब्धि निकट भव्यता स्मरण करता स्वात्मानैं स्वयमेव प्रगट करै है । कैसें कौनकी नाईं ? जैसें आकाश विषैं सूर्य सो घट पट स्तम्भ कुंभादिक द्रव्यकरि भर्या जो जगतकूं ही प्रगट करै है प्रकाशै है ॥३०॥

ऐसा जानकर आर्त्त-रौद्ररूप दोनों दुर्ध्यानोंको छोड़कर पूरे उद्यमके साथ निकट भव्यजीवको धर्म और शुक्ल इन दोनों ध्यानोंकी निरन्तर उपादेयबुद्धिसे भावना करनी चाहिए। यह इस गाथा-का भावार्थ है ॥२९॥

अब इसके अनन्तर दृष्टान्त-द्वारा सद्-ध्यानके माहात्म्यको फिर भी सूत्रकार वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जह जह) जैसे जैसे, (मणसंचारा) मनका संचार और (इंदियविसया वि) इन्द्रियोंके विषय भी (उवसमं) उपशमभावको (जंति) प्राप्त होते हैं, (तह तह) वैसे वैसे ही (अप्पा) अपना आत्मा (अप्पाणं) अपने शुद्धस्वरूपको (पयडइ; प्रकट करता है । (जह) जैसे (णहे) आकाश-में (सूरो) सूर्य ।

टीकार्थ—'जह जह मणसंचारा' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ प्रकट करते हैं—जैसे जैसे उपशमभावको प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न—कौन कौन उपशमभावको प्राप्त होते हैं।

उत्तर—'मणसंचारा इंदियविसया वि उवसमं जंति' अर्थात् कर्मके उदयसे प्रेरित अतएव चलायमान मनके सभी व्यापार और पांचों इन्द्रियोंके विषय उपशम अर्थात् शान्तिको प्राप्त होते हैं ।

प्रकटयन् आत्मानमपि प्रकटयति प्रकाशयतीत्यर्थः । इत्यात्मशक्ति ज्ञात्वा मिथ्यात्वाद्यज्ञानभावोपार्जितकर्मोदयोत्पन्नपञ्चेन्द्रिय-विषय-रागादिविभावभावांस्त्यक्त्वा तमेव शुद्धात्मानमुपादेयबुद्धचा भो भव्यवरसिंह, अमरसिंह, भवन्तो भावयन्त्विति भावार्थः ॥३०॥

अथ पुनरपि कस्मिन् सति किमयमात्मा करोतीति प्रकटयति—

मूलगाथा—मण-वयण-कायजोया जइणो जइ जंति णिव्वियारत्तं ।
तो पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पयसरूवं ॥३१॥

संस्कृतच्छाया—मनोवचनकाययोगा यतेर्यदि यान्ति निर्विकारत्वम् ।
तदा प्रकटयति आत्मानं आत्मा परमात्मस्वरूपम् ॥३१॥

टीका—'मण-वयण-कायजोया जइणो जइ जंति णिव्वियारत्तं' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—यदि चेद् यतेर्यतीश्वरस्य निर्विकारत्वं प्राप्नुवन्ति । के ? ते मनोवचनकायरूपा

आगैं कहै हैं—मन वचन कायका योग जैसैं जैसैं निर्विकार होय तैसैं तैसैं आत्मा परमस्वरूप कूं प्रगट करै है—

भा० व०—यतीश्वरकैं मन वचन काय जोग हैं ते निर्विकारताकूं प्राप्त होत संनै तो तिस यतीकैं यो आत्मा है सो अंतरात्मा परमात्मस्वरूप ब्रह्मरूप आत्माकूं ही स्वयमेव प्रगट करै है, अर प्रगट होय है, त ही तैं निर्विकार स्वशुद्धात्मा उपादेय है ग्रहण करणें योग्य हैं ॥३१॥

'तह तह पयडइ अप्पा अप्पाणं' वैसे वैसे ही यह आत्मा, जिसने कालादि लब्धिको प्राप्त किया है और निकट भव्यशिरोमणि है, वह अपने आत्माको स्वयं प्रकट करता है, अर्थात् प्रकाशित करता है ।

प्रश्न—कैसे और किसके समान प्रकाशित करता है ?

उत्तर—'जह णहे सूरो' अर्थात् जैसे आकाशमें सूर्य घट, पट, स्तम्भ, कुम्भ आदि द्रव्योंसे भरे हुए भुवनको प्रकाशित करता हुआ अपने आपको भी प्रकाशित करता है ।

इस प्रकार आत्माकी शक्तिको जानकर मिथ्यात्व आदि अज्ञानभावसे उपार्जित कर्मोंके उदयसे उत्पन्न पांचों इन्द्रियोंके विषयों रागादि विभाव भावोंको छोड़कर उसी शुद्ध आत्माकी उपादेयबुद्धिसे हे भव्योंमें श्रेष्ठ सिंह अमरसिंह, आप भी भावना करें । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३०॥

अब फिर भी 'क्या होनेपर' यह आत्मा क्या करता है, यह प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(जइणो) योगीके (जइ) यदि (मण-वयण-कायजोया) मन, वचन और काययोग (णिव्वियारत्तं) निर्विकारताको (जंति) प्राप्त हो जाते हैं (तो) तो (अप्पा) आत्मा (अप्पाणं) अपने (परमप्पयसरूवं) परमात्मस्वरूपको (पयडइ) प्रकट करता है ।

टीकार्थ—'मण-वयण-कायजोया' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—यदि यति अर्थात् मुनिराजके परिस्पन्दरूप मन वचन काय ये तीनों योग निश्चलताको प्राप्त होते हैं, 'तो

योगाः परिस्पन्दरूपा निश्चलत्वं गच्छन्तीत्यर्थः। 'तो पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पयसरूवं' तदा तस्य यतेः साधोरयमात्माऽन्तरात्मा परमात्मस्वरूपं परमब्रह्मरूपमात्मानं स्वयं प्रकटयति प्रकटीभवतीत्यर्थः। ततः स एव निर्विकारः स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥३१॥

अथानन्तरमुपसंहाररूपेण ध्यानमाहात्म्यं प्रतिपादयति—

मूलगाथा—-मण-वयण-कायरोहे (बज्झइ) रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं ।
चिर-बद्धं गलइ सयं फलरहियं जाइ जोईणं ॥३२॥

संस्कृतच्छाया—मनोवचनकायरोधे रुध्यति कर्मणामास्रवो नूनम् ।
चिर-बद्धं गलति स्वयं फलरहितं याति योगिनाम् ॥३२॥

टीका—'मण-वयण-काय' इत्यादि व्याख्यानं क्रियते—-'मण-वयण-कायरोहे' मनोवचनकाये निरोधे सति। तथा हि—-कर्मोदयजनितशुभाशुभसंकल्परूपेण चलनं मनः, एवंविधे-मनोव्यापारे

आगैं मन वचन कायका योगका रोकना होत संतै नवीन कर्मका आगमन रुकै है, ऐसैं कहै हैं—

भा० व०—जोगीश्वरनिकैं मन वचन काय निरोध जो है सो होत संतै, सोई कहैं हैं कर्मका उदयकरि उत्पन्न भया शुभाशुभ संकल्परूपकरि चलायमान मन, या प्रकार मनका व्यापार कूं होत संतै, तैसैं ही वचनात्मरूप करि या प्रकार करूं, या प्रकार विकल्परूप वचन, अर मन वचनरूप करि प्रवृत्तिरूप काय इति या प्रकार मन वचन कायनिका व्यापारका रोध होत संतैं निश्चयकरि कर्मनिका आश्रव है सो रुकै है। अर चिरकालसंचित बांध्या कर्म जातैं स्वयमेव ही गलै हैं, विनसे हैं। कैसैं कोनकी नांई ? पक्या आम्रादिक फलकी नांई। आलम्बनका अभावतैं वीटकासूं पड़े है, तैसैं ही मन वचन कायका व्यापारका निरोध होत संतै कर्म झड़ पड़ै है, रसदेय खिर जाय है, अर नया बंध नाहीं होय है ॥३२॥

पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पयसरूवं' तव उस साधुका यह अन्तरात्मा परमात्मस्वरूपसे अर्थात् परमब्रह्मरूपसे अपने आप प्रकट हो जाता है। इसलिए वह निर्विकार अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३१॥

अब इसके पश्चात् सूत्रकार उपसंहाररूपसे ध्यानका माहात्म्य बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(मण-वयण-कायरोहे) मनवचनकायकी चंचलता रुकनेपर (कम्माण) कर्मोंका (आसवो) आस्रव (णूणं) निश्चयसे (रुज्झइ) रुक जाता है। तब (चिर-बद्धं) चिरकालीन बंधा हुआ कर्म (जोईणं) योगियोंका (सयं) स्वयं (गलइ) गल जाता है और (फलरहियं) फल-रहित (जाइ) हो जाता है।

टीकार्थ—'मण-वयण-कायरोहे' अर्थात् मन वचन कायके निरोध होनेपर। इसका स्पष्टीकरण यह है—कर्मोदय-जनित शुभाशुभसंकल्परूपसे संचलनको मन कहते हैं। इस प्रकारके मनका

सति, तथाविधवचनात्मकरूपेणैवमेवं करोमीति विकल्पनं वचः, तद्द्वयानुसारेण प्रवृत्तिरूपः काय इति मनश्च वचश्च कायश्च मनोवचःकायास्तेषां मनोवचःकायानां व्यापार इत्याध्याहारः क्रियते, इति मनोवचनकायव्यापारस्तस्मिन् निरोधे सति किं भवति ? 'वज्झइ कम्माण आसवो णूणं' नूनं निश्चयेन वध्यते विनश्यते वाध्यते निराक्रियते वाऽसावाऽस्रवः। (रुज्झइ' पाठे रुध्यते निराक्रियते इत्यर्थः)। केषामास्रवः ? कर्मणाम्। कथम्भूतानाम् ? मिथ्यात्व-रागाद्यज्ञानभावेन स्वयमुपार्जितानामुदयागतानां च कर्मणामास्रवाभावो भवतीत्यर्थः। तथा च 'चिर-बद्धं गलइ सयं फलरहियं जाइ जोईणं' चिरकालसंचितं बद्धं कर्मजातं स्वयमेव गलति नश्यति। कथं किमिव ?

व्यापार होने पर, उसी प्रकार वचनात्मकरूपसे ही 'मैं ऐसा करूं' इस प्रकारके विकल्पको वचन योग कहते हैं, उसके होनेपर, तथा इन दोनोंके अनुसार शारीरिक प्रवृत्तिको काययोग कहते हैं। इस प्रकारके मन और वचन और कायका समास या समुदाय मन-वचन-काय कहलाता है। यहां पर 'व्यापार' पदका अध्याहार करना चाहिए। तब यह अर्थ होता है कि मन वचन कायके व्यापार-का निरोध होनेपर।

प्रश्न—क्या होता है ?

उत्तर—'रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं' अर्थात् कर्मोंका आस्रव निश्चयसे बन्द हो जाता है, विनष्ट हो जाता है, अथवा बन्द कर दिया जाता है अर्थात् रोक दिया जाता है।

टीकाकारके सामने 'वज्झइ' और 'रुज्झइ' ये दो पाठ रहे हैं। ऊपरका अर्थ 'वज्झइ' पाठ-का किया गया है। 'रुज्झइ' पाठका अर्थ रोक दिया जाता है अर्थात् निराकृत कर दिया जाता है।

प्रश्न—किनका आस्रव रोक दिया जाता है ?

उत्तर—कर्मोंका।

प्रश्न—वे कर्म कैसे हैं ?

उत्तर—मिथ्यात्व और रागादि अज्ञानभावसे उपार्जित हैं और उदयागत हैं।

मन-वचन-कायके रुकने पर ऐसे कर्मोंके आस्रवका अभाव हो जाता है। तथा 'चिर-बद्धं गलइ सयं फलरहियं जाइ जोईणं' अर्थात् चिरकाल-संचित अर्थात् बंधा हुआ कर्म-समूह स्वयं ही गल जाता है—नष्ट हो जाता है—

प्रश्न—किसके समान कैसे गल जाता है ?

उत्तर—पके हुए आम आदि फलोंके समान स्वयं गल जाता है अर्थात् झड़ जाता है, क्योंकि उसके आलम्बनका अभाव हो जाता है। आलम्ब डंठल और आलम्ब्य फल इन दोनोंका एक आश्रय होता है। इसलिए वे कर्म फल-रहित हो जाते हैं, अर्थात् अपने शुभ-अशुभ-फल-प्रदान करनेकी असामर्थ्यको प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—कौन शुभाशुभ फल-प्रदानकी असामर्थ्यको प्राप्त हो जाते हैं ?

उत्तर—चिरकालसे बंधे हुए कर्म-समूह।

प्रश्न—किनके ?

उत्तर—योगियोंके।

पक्वाम्रादिफलवदालम्बाभावात्, आलम्बालम्ब्ययोरेकाश्रयत्वादिति फलरहितं स्वकीयशुभाशुभ-फलदानासामर्थ्यं याति प्राप्नोति। किम्? तदेव चिर-बद्धं कर्मजातम्। केषाम्? योगिनाम्। कथम्भूतानां योगिनाम्? 'युजि समाधौ' इति योगशब्देन समाधिरुच्यते। योगो विद्यते येषां ते योगिनस्तेषां योगिनां सम्यग्ज्ञानिनामिति। तथा चोक्तम्—

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतो-निरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥२३॥

इति योगमाहात्म्य ज्ञात्वा सर्वसावधानेन भव्यैर्निरन्तरं योग एव ध्यातव्य इति भावार्थः ॥३२॥

इति तत्त्वसार विस्तरावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारक-श्रीकमलकीर्तिदेवविरचिते कायस्थमाथुरान्वयशिरोमणिभूतभव्यवर-पुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिनकरे स्वगततत्त्व-परगततत्त्वमुख्यत्वेन ध्यानमाहात्म्यवर्णनं नाम तृतीयं पर्व ॥३॥

■

प्रश्न—कैसे योगियोंके?

उत्तर—'युज्' यह संस्कृत धातु समाधिके अर्थमें प्रयुक्त होती है। इसलिए यहां योग शब्द-से समाधिका अर्थ अभीष्ट है। यह योगरूप समाधि जिनके पाई जाती है, वे योगी कहलाते हैं। ऐसे सम्यग्ज्ञानी योगियोंके चिरकालसे बंधे हुए कर्मसमूह स्वयं ही गल जाते हैं। कहा भी है—

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त-निरोध, और शुद्धोपयोग—ये सब एकार्थ-वाचक नाम हैं ॥३२॥

इस प्रकारका योग-माहात्म्य जानकर सर्वप्रकारकी सावधानीके साथ भव्यजनोंको निरन्तर योग ही ध्यान करनेके योग्य है, अर्थात् चित्तका निरोध करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३२॥

इस प्रकार अति निकट भव्यजनोंको आनन्द करनेवाले, भट्टारक श्रीकमलकीर्त्तिदेव-विरचित, कायस्थ माथुरान्वयशिरोमणिभूत, भव्यवर-पुण्डरीक, अमरसिंहके मानस-कमलको दिनकरके समान विकसित करनेवाले इस तत्त्वसारके विस्तारावतारमें स्वगत-तत्त्व और परगततत्त्वकी मुख्यतासे ध्यानके माहात्म्यका वर्णन करनेवाला यह तीसरा पर्व समाप्त हुआ ॥३॥

■

चतुर्थ पर्व

जिनमतमतसारं धर्मकामार्थबीजं सुर-नरपतिपूज्यं तत्त्वविद्-ध्येयभूतम् ।
स्व-परगतसुतत्त्वं मोक्षमार्गस्वरूपं सुरमृगपतिपुत्र स्वात्मलीनं कुरु त्वम् ।।

(इत्याशीर्वादः)

अथ स्वसमय-परसमयस्वरूपं मनसि धृत्वा सूत्रकाराः परमार्थवेदिनो वक्ष्यमाणं सूत्रमिदं प्रतिपादयन्ति । तत्रादौ परसमयस्वरूपं कथ्यते—

मूलगाथा—ण लहइ भव्वो मोक्खं जावय परदव्ववावडो चित्तो ।
उग्गतवं पि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ।।३३।।

संस्कृतच्छाया—न लभते भव्यो मोक्षं यावत् परद्रव्यव्यापृतश्चित्तः ।
उग्रतपोऽपि कुर्वन् शुद्धे भावे लघु लभते ।।३३।।

टीका—'ण लहइ' इत्यादि, न लभते प्राप्नोति । कोऽसौ ? भव्यः, आसन्नभव्योऽपि । कम् ? मोक्षम् । 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष' इति वचनात् । केवलज्ञानाद्यनन्तस्वगुणस्वरूपम् ।

जो जिन-भाषित मतका सार है, धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थका बीज है, देवेन्द्रों और नरेन्द्रोंसे पूज्य है, तत्त्वज्ञोंके द्वारा ध्यान करनेके योग्य है, और मोक्षमार्गस्वरूप है, ऐसे स्वगत और परगत तत्त्वको हे अमरसिंहके पुत्र, तुम इसे अपनी आत्मामें लीन करो अर्थात् धारण करो ।

(इति आशीर्वादः)

आगै कहै है—जितनैं परद्रव्य विषैं आसक्तचित्त जीव तप करता हू मोक्षकूं नांहीं प्राप्त होय है—

भा० व०—भव्य है सो जितनैं परद्रव्य विषैं आसक्तचित्त तिष्ठै है तितने मोक्षकूं नाही प्राप्त होय है । कैसा है भव्य ! उग्रोग्र तप बाह्याभ्यन्तर द्वादश प्रकारका करता, अर परीषह सहन शील हू, अर शुद्ध मिथ्यात्व-रागादि रहित भाव होत संतैं स्व-संवेदन ज्ञान परिणाम होत संतै, अर शुद्धोपयोग होत संतैं लघु कहिए शीघ्र प्राप्त होय है पूर्वोक्त मोक्ष सो ही आसन्न भव्य कहिए निकट भव्य है सो ।।३३।।

अब स्वसमय-परसमयके स्वरूपको मनमें धारण करके परमार्थवेदी सूत्रकार यह वक्ष्यमाण-सूत्र कहते हैं । वहाँ प्रथम परसमयका स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जावय) जब तक (चित्तो) मन (पर दव्ववावडो) पर द्रव्योंमें व्यापृत (व्यापार-युक्त) है, तब तक (उग्ग तवं पि) उग्र तपको भी (कुणंतो) करता हुआ (भव्वो) भव्य जीव (मोक्खं) मोक्षको (ण लहइ) नहीं पाता है । किन्तु (शुद्धे भावे) शुद्ध भावमें लीन होने पर (लहुं) शीघ्र ही (लहइ) पा लेता है ।

टीकार्थ—'ण लहइ भव्वो मोक्खं' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—निकट भव्य भी जीव सम्पूर्ण कर्मोंके अभावरूप और केवलज्ञानादि अनन्तगुणस्वरूप मोक्षको नहीं प्राप्त कर पाता है ।

कियत्कालपर्यन्तं न प्राप्नोति ? 'जावय परदव्ववावडो चित्तो' यावन्तं कालं परद्रव्ये व्यापृतचित्तः परद्रव्यासक्तचित्तस्तिष्ठति प्रवर्तते। किं कुर्वन् सन्? 'उग्गतवं पि कुणंतो' उग्रोग्रतरं तपो बाह्याभ्यन्तरादिरूपं परीषहोपसर्गसहनशीलमित्येवंविधं तपः कुर्वन्नप्यासन्नभव्यः। अमरसिंहो ब्रवीति—ननु कस्मिन् सति मोक्षः प्राप्यते। 'सुद्धे भावे लहुं लहइ' शुद्धे मिथ्यात्व-रागादिरहिते भावे स्वसंवेदनज्ञानपरिणामे शुद्धोपयोगे सति लघु शीघ्रमेव लभते प्राप्नोति,तमेव पूर्वोक्तं मोक्षमेव स एवासन्नभव्यः। अतएव कारणात् स एव शुद्धभावो निरन्तरं सर्वतात्पर्येण तज्ज्ञैर्भव्यैर्भाव्य इति तात्पर्यार्थः ॥३३॥

अथ परद्रव्यलक्षणपूर्वकं परसमयत्वफलं प्रकटयति—

मूलगाथा—परदव्वं देहाई कुणइ ममत्ति च जाय तेसुवरिं।
परसमयरदो तावं बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥३४॥

संस्कृतच्छाया—परद्रव्यं देहादि करोति ममत्वं च यावत्तेषामुपरि।
परसमयरतस्तावद् बध्यते कर्मभिर्विविधैः ॥३४॥

आगैं परद्रव्यका लक्षण कहै हैं—

भा० व०—देहादिक परद्रव्यानि पर जितने ममत्वकूं करै है, तितने काल पर परसमय-रत भया संता नाना प्रकारके कर्मनिकरि बंधै है ॥३४॥

प्रश्न—कितने काल तक नहीं प्राप्त कर पाता है ?

उत्तर—'जावय परदव्ववावडो चित्तो' अर्थात् जितने काल तक चित्त परद्रव्योंमें आसक्त रहता है और पर द्रव्योंमें प्रवृत्ति करता है, तब तक मोक्षको नहीं प्राप्त कर पाता है।

प्रश्न—क्या करते हुए भी नहीं प्राप्त कर पाता है ?

उत्तर—'उग्गतवं पि कुणंतो' अर्थात् उग्रसे उग्रतर भी बाह्य और आभ्यन्तररूप तथा परीषहों और उपसर्गोंके सहनेरूप ऐसे महादुष्कर तपको करता हुआ भी निकट भव्य मोक्षको नहीं प्राप्त कर पाता है।

प्रश्न—यह सुनकर अमरसिंह पूछते हैं कि फिर किसके पानेपर मोक्ष प्राप्त होता है ?

उत्तर—'सुद्धे भावे लहुं लहइ' अर्थात् मिथ्यात्व और रागादिसे रहित शुद्ध भावके अर्थात् स्वसंवेदनज्ञान-परिणामरूप शुद्धोपयोगके प्राप्त होने पर उसी पूर्वोक्त मोक्षको वही निकट भव्य-जीव लघुकालमें शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

अतएव इसी कारण तत्त्वज्ञ भव्यजीवोंको वही शुद्ध भाव निरन्तर सर्व प्रकारसे भावना करनेके योग्य है। यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ॥३३॥

अब पर द्रव्यके लक्षणपूर्वक परसमयकी उपासनाका फल प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(देहाई) देहादिक (परदव्वं) पर द्रव्य हैं, (जाय च) और जब तक (तेसुवरिं) उनके ऊपर (ममत्ति) ममत्व भाव (कुणइ) करता है, (तावं) तब तक वह (पर-समय-रदो) पर समयमें रत है, अतएव (विविहेहिं) नाना प्रकारके (कम्मेहिं) कर्मोंसे (बज्झदि) बंधता है।

टीका—'परदव्वं देहाई' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। तथाहि—परद्रव्यं देहादि, देह आदिर्यस्य तद्देहादि। 'कुणइ ममत्तिं च जाम तेसुवरि' यावत्कालं तस्मिन् परद्रव्ये तस्योपरि वा ममतां मूर्च्छां च करोति। 'परसमयरदो तावं' तावत्कालं जीवोऽयं परसमयरतः सन् किं करोति? 'बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं' बध्यते वेष्टयते। कैः? कर्मभिः द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मभिः, मूलोत्तरप्रकृतिभिर्वा विविधैर्नानाप्रकारैः। तथा च बद्धो जीवश्चतुर्गतिषु चतुरशीतिलक्षयोनिषु वा भ्रमितोऽयं जीवः। तस्मात्कारणाच्छुद्धबुद्धैकचिज्ज्योतिस्वरूपानाकुलत्वलक्षणातीन्द्रियसुखामृतरससागरान्तर्भूतात्मसुगुणास्पदपरमात्मनः सकाशाद् विलक्षणं परद्रव्यं त्रिधा मनोवचनकायेन तत्त्याज्यं भवतीति भावार्थः ॥३४॥

अथायं जीवः परसमयः सन् किं किं करोतीति मनसि सम्प्रधार्य सूत्रकारः सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

मूलगाथा—रूसइ तूसइ णिच्चं इंदियविसएहिं वसगओ मूढो।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥३५॥

संस्कृतच्छाया—रुष्यति तुष्यति नित्यमिन्द्रियविषयैः वशंगतो मूढः।
सकषायोऽज्ञानी ज्ञानी एतस्मात्तु विपरीतः ॥३५॥

आगैं अज्ञानीका लक्षणकूं कहै हैं—

भा० व०—अज्ञानी मूढ बहिरात्मा सर्वकाल विषैं कोइक परद्रव्य विषैं तो रूसै है, अर कोई परद्रव्य विषैं प्रसन्न हो है। कैसा भया संता? निर्विषय परमात्माका निकटतैं विपरीत ऐसे पांच इन्द्रियनिके विषयकै वशकूं प्राप्त भया आसक्त भया संता। बहुरि कैसा होय है? कषाय-सहित क्रोध मान माया लोभ अनंतानुबंधी कषायनि करि साथि वर्तें सो अज्ञानी है। अर या अज्ञानीतैं विपरीत ज्ञानी स्वयमेव अंतरात्मा होय है ॥३५॥

टीकार्थ—'परदव्वं देहाई' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं। यथा—देह है आदिमें जिनके ऐसे कुटुम्ब, परिवार और धनादिको देहादि कहते हैं। 'कुणइ ममत्तिं च जाम तेसुवरि' जितने काल तक उन देहादि परद्रव्योंके ऊपर ममता अर्थात् मूर्च्छा करता है, 'परसमयरदो तावं' उतने काल तक यह जीव परसमय-रत कहलाता है।

प्रश्न—पर-समय-रत होने पर वह क्या करता है?

उत्तर—'बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं' अर्थात् नाना प्रकारके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मोंसे, अथवा मूल और उत्तरकर्म-प्रकृतियोंके द्वारा बंधता है, वेष्टित होता रहता है।

उक्त प्रकारसे कर्मोंके द्वारा बंधा हुआ यह जीव चारों गतियों में, अथवा चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है। इस कारण शुद्ध बुद्ध एकमात्र चैतन्यज्योतिस्वरूप, अनाकुलता लक्षण वाले अतीन्द्रिय सुखामृतरसरूप-सागरके अन्तर्भूत आत्मिक सुगुणोंके स्थानभूत परमात्मासे विलक्षण जो पर-द्रव्य है, वह मन वचन कायरूप तीनों योगोंसे त्यागनेके योग्य है, यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३४॥

अब यह जीव पर-समय-रत होता हुआ क्या-क्या करता है? यह प्रश्न मनमें धारण कर सूत्रकार उत्तर-स्वरूप यह वक्ष्यमाण गाथासूत्र प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(इंदिय-विसएहिं) इन्द्रियोंके विषयोंमें (वसगओ) आसक्त (मूढो) मूढ़ (सकसाओ)

टीका—'रूसइ तूसइ णिच्चं 'इत्यादि, 'रूसइ तूसइ णिच्चं इंदियविसएहिं वसगओ मूढो' मूढो बहिरात्माऽज्ञानी नित्यं सर्वकालमहर्निशं क्वचित्परद्रव्ये रुष्यति, क्वचित्तुष्यति। कथम्भूतः सन् ? निर्विषयपरमात्मनः सकाशाद् विपरीतैः पञ्चेन्द्रियविषयैर्वशंगतो व्यासक्तः सन्। पुनरपि किं विशिष्टो भवति ? 'सकसाओ अण्णाणी' सकषायः क्रोध-मान-माया-लोभानन्तानुबन्धिनः कषायास्तैः सह वर्तते सकषायोऽज्ञानी, अज्ञानमस्त्यस्यासौ अज्ञानी सकषायो भवति, अज्ञानी च भवति। अन्यथा 'णाणी एत्तो दु विवरीदो' एतस्मात्तु अज्ञानिनः सकाशाद् ज्ञानी विपरीतो भवति। कोऽसौ ज्ञानी ? स्वसमयोऽन्तरात्मा। इति ज्ञात्वाऽज्ञानपरसमयत्वकषायेन्द्रियादिदोषेभ्यो विलक्षणवीतरागसर्वज्ञशासनमूलं यत्स्वसंवेदनज्ञानं सकलविमलकेवलज्ञानस्य कारणभूतं तदेव ज्ञानं सर्वप्रकारेणोपादेयमिति भावार्थः ॥३५॥

कषाय-युक्त (अण्णाणी) अज्ञानी पुरुष (णिच्चं) नित्य (रूसइ) किसीमें रुष्ट होता है और किसीमें (तूसइ) सन्तुष्ट होता है। किन्तु (णाणी) ज्ञानी पुरुष (एत्तो दु) इससे (विवरीदो) विपरीत स्वभाववाला होता है।

टीकार्थ—'रूसइ तूसइ णिच्चं' इत्यादि गाथाका अर्थ कहते हैं—'रूसइ तूसइ णिच्चं इंदियविसएहि वसगओ मूढो' अर्थात् मूढ बहिरात्मा अज्ञानी पुरुष नित्य सर्वकाल रात-दिन किसी अनिष्ट प्रतीत होनेवाले परद्रव्यमें रुष्ट होता है अर्थात् द्वेष करता है और किसी इष्ट प्रतीत होनेवाले परद्रव्यमें सन्तुष्ट होता है, अर्थात् प्रसन्न होकर राग करता है।

प्रश्न—कैसा होता हुआ वह किसीमें द्वेष और किसीमें राग करता है ?

उत्तर—निर्विषयरूप परमात्मासे विपरीत जो पांचों इन्द्रियोंके विषय हैं, उनके वशमें गया हुआ यह इन्द्रिय-विषयासक्त जीव किसी वस्तुमें द्वेष और किसी वस्तुमें राग करता है।

प्रश्न—और यह इन्द्रिय-विषयासक्त जीव कैसा होता है ?

उत्तर—'सकसाओ अण्णाणी' सकषाय और अज्ञानी होता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ रूप कषायोंके साथ जो रहता है, सकषाय कहलाता है। तथा अज्ञान जिसके पाया जाये, वह अज्ञानी कहलाता है। इन्द्रिय-विषयासक्त जीव सकषाय भी है और आत्मज्ञानसे रहित होनेके कारण अज्ञानी भी है। अन्यथा 'णाणी एत्तो दु विवरीदो' अर्थात् इस अज्ञानी और सकषाय जीवसे ज्ञानी विपरीत होता है।

प्रश्न—ज्ञानी कौन कहलाता है ?

उत्तर—जो स्व-समय-रत अन्तरात्मा है, वह ज्ञानी कहलाता है।

ऐसा जानकर अज्ञान, पर-समयत्व, कषाय, इन्द्रियादि दोषोंसे विलक्षण, वीतराग, सर्वज्ञ-शासनका मूल जो स्वसंवेदन ज्ञान है और जो सम्पूर्ण विमल केवलज्ञानका कारणभूत है, वही वीतराग विज्ञान सर्व प्रकारसे उपादेय है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३५॥

अथानन्तरं स्वसमयस्वरूपं सामान्येन प्रतिपादयति—

मूलगाथा—चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ इत्थ चेयणासहिओ ।
तम्हा मज्झत्थो हं रूसेमि य कस्स तूसेमि ॥३६॥

संस्कृतच्छाया –चेतनारहितो दृश्यते न च दृश्यतेऽत्र चेतनासहितः ।
तस्मान्मध्यस्थोऽहं रुष्यामि च कस्य तुष्यामि ॥३६॥

टीका—'चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ चेयणासहिओ' यस्मात् कारणादत्र लोके यद् दृश्यते किमपि सद् वस्तु । तत्कथम्भूतम् ? षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय-सप्ततत्त्व-नवपदार्थ-घट-पटादिषु मुख्यभूता स्वपर-प्रकाशिका या चेतना, तया रहितं पुद्गलद्रव्यं समस्तमेव । न च चिच्चमत्कारमात्रचेतनासहितमात्सद्रव्यं दृश्यते । 'तम्हा मज्झत्थो हं रूसेमि य कस्स तूसेमि' तस्मात्कारणादहं मध्यस्थः सन् कस्य कस्मिन् कं वा प्रति रुष्यामि, कस्य वा तुष्यामि । प्राकृतव्याकरणबलाद् विभक्ति-लिङ्ग-वचनादीनां विपर्ययो भवतीति चेतनाचेतनद्रव्यस्वरूपं ज्ञात्वा । चेतनापि द्विविधा भवति शुद्धाशुद्धविकल्पेति, कर्म-कर्मफलचेतनाभेदेनाशुद्धचेतनापि द्विधा । तत्र या शुद्धबुद्धैकरूपा शुद्धचेतना निरन्तरं भावनीया भव्यजनैरिति तात्पर्यार्थः ॥३६॥

आगैं कहै हैं–कौनसैं रूसै, कौनसैं तूसै, ऐसा जनावै हैं—

भा० व०—या लोकविषैं चेतना रहित जड़ पुद्गल दीसै है, अर, चेतनासहित आत्मा नाहीं दीसै है, ताही कारणतैं मैं जो चेतनास्वरूप ज्ञानी हूँ सो मध्यस्थ हूँ। अब किससैं रूसूं, अर किससैं प्रसन्न होंऊँ ॥३६॥

अब इसके पश्चात् सूत्रकार सामान्यसे स्वसमयका स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(इत्थ) इस संसारमें (चेयण-रहिओ) चेतन-रहित पदार्थ (दीसइ) दिखाई देता है, (चेयणा-सहिओ) और चेतना-सहित पदार्थ (ण य दीसइ) नहीं दिखाई देता है । (तम्हा) इस कारण (मज्झत्थोहं) मध्यस्थ मैं (कस्स) किससे (रूसेमि) रुष्ट होऊं (तूसेमि य) और किससे सन्तुष्ट होऊं ?

टीकार्थ—'चेयण-रहिओ दीसइ' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं—जिस कारणसे कि इस लोकमें जो कुछ भी सद्वस्तु दिखाई देती है वह कैसी है ? छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ और घटपटादि पदार्थोंमें मुख्यभूत अर्थात् प्रधान जो स्व-पर-प्रकाशक चेतना है उससे रहित समस्त ही पुद्गल द्रव्यरूप है। चित्-चमत्कारमात्र चेतनासहित जो आत्मद्रव्य है वह दिखाई नहीं देता है। 'तम्हा मज्झत्थोहं रूसेमि य कस्स तूसेमि' इस कारण मैं मध्यस्थ होता हुआ किसके साथ, या किसमें अथवा किसके प्रति रुष्ट होऊं ? अथवा किसके प्रति सन्तुष्ट होऊं ? प्राकृत व्याकरणके बलसे विभक्ति, लिंग और वचन आदिका विपरीत रूप हो जाता है। इस प्रकार चेतन और अचेतन द्रव्यका स्वरूप जानकर मुझे किसीमें राग-द्वेष न करके मध्यस्थ ही रहना चाहिए।

शुद्ध-अशुद्धके भेदसे चेतना भी दो प्रकारकी होती है। पुनः कर्म-चेतना और कर्मफल चेतनाके भेदसे अशुद्ध चेतना भी दो प्रकारकी होती है। इनमें जो शुद्धबुद्धैकरूप शुद्ध चेतना है, उसीकी भव्य जीवोंको निरन्तर भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३६॥

अथ पुनरपि तमेवार्थं द्रढयति—

मूलगाथा—अप्पसमाणा दिट्ठा जीवा सव्वे वि तिहुयणत्था वि ।
सो मज्झत्थो जोई ण य रूसइ णेय तूसेइ ॥३७॥

संस्कृतच्छाया—आत्मसमाना दृष्टा जीवाः सर्वेऽपि त्रिभुवनस्था अपि ।
स मध्यस्थो योगी न च रुष्यति नैव तुष्यति ॥३७॥

टीका—'अप्पसमाणा' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण वृत्तिकर्त्रा श्रीपंकजकीर्त्तिना व्याख्यानं क्रियते–'अप्पसमाणा दिट्ठा जीवा सव्वे वि तिहुयणत्था वि' कालादिलब्धिवशाद् येनान्तरात्मना ज्ञानिना त्रिभुवनस्था अपि त्रिभुवनवर्तिन एकेन्द्रियादि-पञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः सूक्ष्मबादररूपाः सर्वेऽपि जीवा निश्चयनयेनात्मसमाना आत्मसदृशा दृष्टाः परिज्ञाता वीतरागसर्वज्ञोक्तागमे(ना)नुभूत्या चान्तरङ्गेऽनुभूता आराधिताः। स कथम्भूतो भवति? 'सो मज्झत्थो जोई' स मध्यस्थो मध्ये स्वरूपे तिष्ठतीति मध्यस्थो योगः परमसमाधिरस्यास्तीति योगी सन् किं करोति? 'ण य रूसइ

आगैं कहैं हैं—आप समान अन्य आत्माकूं देखता संता कौन विषैं राजी-बेराजी हूं, ऐसैं कहै हैं—

भा० व०—कालादिक लब्धिवशतैं ये अन्तरात्मा ज्ञानीनैं त्रिभुवनका वर्ती एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यन्त सूक्ष्म बादररूप सर्व जीव जे हैं ते निश्चयनयकरि आपके समान जाने संते वीत-राग सर्वज्ञकरि कह्या आगमकी अनुभूति अनुभव करि, वा अन्तरंगविषैं अनुभव कीया आराधन कीया सो ज्ञानो कैसा होय है? मध्यस्थ होय है, मध्यस्वरूप विषैं तिष्ठै है सो मध्यस्थ योगी परम समाधियुक्त भया संता कहा करै है? न तो रूसै है, नांही तोषकूं प्राप्त होय है। कोइक दुष्ट जीवकरि विराधित भया संता रोष नांही करै है, अर कोइक विनयवान भव्य जीवकरि अनेक प्रकार स्तुतिकरि स्तुति कीया संता, आराधना कीया संता हर्ष करै नांही। सोही योगी होय है, अर अन्य नामकरि योगी नाहीं होय है ॥३७॥

अब फिर भी सूत्रकार उक्त अर्थको ही दृढ़ करते हैं—

अन्वयार्थ—(तिहुयणत्था वि) तीन भुवनमें स्थित भी (सव्वे वि) सभी (जीवा) जीव (अप्प-समाणा) अपने समान (दिट्ठा) दिखाई देते हैं, (सो) इसलिए वह (मज्झत्थो) मध्यस्थ (जोई) योगी (ण य) न तो (रूसइ) किसीसे रुष्ट होता है (णेय) और नहीं (तूसेइ) किसीसे सन्तुष्ट होता है।

टीकार्थ—'अप्पसमाणा' इत्यादि गाथाका टीकाकार श्री कमलकीर्त्ति व्याख्यान करते हैं—त्रिभुवनमें स्थित सभी जीव जिसने अपने समान देखे हैं, अर्थात् कालादिलब्धिके वशसे जिस अन्तरात्मा ज्ञानी पुरुषने तीनों लोकवर्ती एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियों तकके सूक्ष्म और बादर सभी जीव निश्चयनयसे वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे गये आगमके द्वारा अपने सदृश जाने हैं और अन्तरंगमें भलीभांतिसे अनुभव किये हैं।

प्रश्न—वह व्यक्ति कैसा होता है?

उत्तर—वह योगी मध्यस्थ होता है। जो इष्ट राग और अनिष्ट द्वेष इन दोनोंके मध्यमें किसी एकरूप न होकर अपने ज्ञायकस्वरूपमें रहता है, वह मध्यस्थ कहलाता है।

णेय तूसेइ' न च रुष्यति नैव तुष्यति, केनापि दुष्टजीवेन विराधितः सन् रोषं न करोति, केनापि विनयवता भव्यजीवेनानेकधा स्तुतः आराधितः सन् तोषं हर्षं न करोति, स च योगी भवति, नान्यो नाम्ना योगी भवतीति भावार्थः ॥३७॥

अथानन्तरं पुनरपि सर्वजीवसमानत्वं नयविभागेन दर्शयति—

मूलगाथा—जम्मण-मरणविमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्णा ।
सगुणेहिं सव्वसरिसा णाणमया णिच्छयणएण ॥३८॥

संस्कृतच्छाया—जन्म-मरणविमुक्ताः आत्मप्रदेशैः सर्वे सामान्याः ।
स्वगुणैः सर्वे सदृशाः ज्ञानमया निश्चयनयेन ॥३८॥

टीका—'जम्मण-मरण' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते तद्यथा—'जम्मण-मरण-विमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्णा' लोकाकाशप्रमाणासंख्यातात्मप्रदेशैः कृत्वा सर्वे जीवाः समाना एकरूपाः । पुनः कथम्भूताः ? जन्म-मरणविमुक्ताः, अपूर्वपर्यायोत्पत्तिरूपं जन्म, निर्विकार-चिदानन्दैकस्वरूपात् परमात्मनो विपरीतसविकारात्मकायुःकर्मविनाशेऽशुद्धप्राणपरित्यागरूपं मरणम् । जन्म च मरणं च जन्म-मरणे; जन्म-मरणाभ्यां विमुक्ता रहिता जन्ममरणविमुक्ताः ।

आगैं अन्य हू कहै है—

भा० व०—निश्चयनयकरि सर्व जीव जे हैं ते जन्म मरण करि रहित हैं, लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात प्रदेशनिकरि सर्वजीव समान हैं, एकरूप हैं । अर केवलज्ञान-दर्शनादिकनि करि स्वगुण आत्मगुणनिकरि सर्व जीव जे हैं ते समान हैं । अर ज्ञानमय केवलज्ञानकरि उत्पन्न भया ज्ञानमय अैसें निश्चयनयकरि जाननें ॥३८॥

योग अर्थात् परम समाधि जिसके पाई जाती है, वह योगी कहलाता है ।

प्रश्न—योगी होकर वह क्या करता है ?

उत्तर—'ण य रूसइ णेव तूसेइ' न रुष्ट होता है और न तुष्ट होता है । अर्थात् किसी भी दुष्ट जीवके द्वारा विराधना किये जानेपर न तो उसपर रोष करता है, और किसी विनयवान् भव्यजीवके द्वारा अनेक प्रकारसे स्तुति और आराधना किये जानेपर न सन्तोष या हर्ष करता है । ऐसा समदर्शी और समभावी पुरुष ही योगी होता है, अन्य कोई 'योगी' इस नामका धारक व्यक्ति योगी नहीं कहलाता है । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३७॥

अब इसके अनन्तर फिर भी नय-विभागसे सर्व जीवोंकी समानता दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(णिच्छयणएण) निश्चयनयसे सभी जीव (जम्मणमरणविमुक्का) जन्म-मरणसे विमुक्त (अप्पपएसेहिं) आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा (सव्वसामण्णा) सभी समान (सगुणेहिं सव्वसरिसा) आत्मीय गुणोंसे सभी सदृश और (णाणमया) ज्ञानमयी हैं ।

टीकार्थ—'जम्मण-मरणविमुक्का' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं—'सभी जीव जन्म-मरणसे रहित और आत्मप्रदेशोंसे सब समान हैं ।' इसका अर्थ यह है कि लोकाकाशके प्रदेश-प्रमाण असंख्यात आत्म-प्रदेशोंकी अपेक्षा सभी जीव समान अर्थात् एक रूप हैं ।

प्रश्न—पुनः वे सब जीव कैसे हैं ?

उत्तर—जन्म और मरणसे विमुक्त हैं । नवीन पर्यायकी उत्पत्तिको जन्म कहते हैं । निर्वि-

पुनश्च किंविशिष्टास्ते जीवाः ? 'सगुणेहि सव्वसरिसा णाणमया णिच्छयणएण' सकलविमल-लोकालोकप्रकाशकानाद्यनन्तकेवलज्ञान-केवलदर्शनादिभिः स्वगुणैरात्मगुणैश्च कृत्वा सर्वे जीवाः सदृशाः समानाः। पुनरपि कथम्भूताः ? ज्ञानमयाः केवलज्ञानेन निर्वृता निष्पन्ना निष्पादिताः ज्ञानमयाः। केन नयेन ? शुद्धनिश्चयनयेन। इति ज्ञात्वा शुद्धबुद्धैकस्वभावा एवंविधाः सर्वे जीवाः सर्वप्रकारेणोपादेया भवन्तीति तात्पर्यार्थः ॥३८॥

अथैवंविधभेदज्ञानिनां किं फलं भवतीति प्रकटयति—

मूलगाथा—इय एवं जो बुज्झइ वत्थुसहावं णएहिं दोहिं पि।
तस्स मणो डहुलिज्जइ ण राय-दोसेहिं मोहेहिं ॥३९॥

**संस्कृतच्छाया—इत्येवं यो बुध्यते वस्तुस्वभावं नयाभ्यां द्वाभ्यामपि।
तस्य मनश्चाल्यते न राग-द्वेषाभ्यां मोहैः ॥३९॥**

अैसें पूर्वोक्त दोय नयकरि वस्तुका स्वरूपकूं जानै है ताका मन नांही डुलै है, अैसें कहै हैं—

भा० व०—पूर्वोक्त प्रकारकरि जो स्वसंवेदन ज्ञानी भव्य अन्तरात्मा भया संता जानै है। कहा जानै है ? वस्तुस्वभावं कहिए वस्तुका स्वभाव। काहे करि ? करणरूप भई निश्चय-व्यवहार नयनि करि, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोय नयनि करि। कैसा ताकैं जान्या है हेयोपादेय वस्तु-स्वरूप जानैं, अैसा जो ज्ञानी ताका मन नांहीं चलायमान होय है, क्षोभकूं प्राप्त नांही होय है, मलिन नांही होय है। काहे करि ? वीतराग निर्विकार चिदानंद एक स्वभाव परमात्मातैं विलक्षण अैसें जे रागीद्वेषी तिनकरि निर्मोह शुद्ध-बुद्ध एक स्वरूप आत्मातैं विपरीत मोहकरि ॥३९॥

कार चिदानन्दैकस्वरूप परमात्मासे विपरीत सविकारी आत्माके आयुकर्मका विनाश होनेपर अशुद्ध प्राणोंके परित्यागरूप अवस्थाको मरण कहते हैं। इस प्रकारके जन्म और मरणसे विमुक्त या रहित जीव जन्म-मरणविमुक्त कहे जाते हैं।

प्रश्न—पुनः वे जीव किस विशेषतावाले हैं ?

उत्तर—'सगुणेहि सव्वसरिसा' अर्थात् सम्पूर्ण विमल, लोकालोक-प्रकाशक, अनादि-अनन्त केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि स्वगुण एवं आत्मगुणोंकी अपेक्षा सब जीव समान हैं।

प्रश्न—फिर भी वे सब जीव कैसे हैं ?

उत्तर—ज्ञानमय हैं। केवलज्ञानसे निर्वृत, निष्पन्न एवं निष्पादित होनेके कारण ज्ञान-मय हैं।

प्रश्न—किस नयकी अपेक्षा सब जीव समान हैं ?

उत्तर—शुद्ध निश्चयनयसे सब जीव समान हैं।

ऐसा जानकर शुद्ध-बुद्ध एकत्व भाववाले ऐसे सभी जीव सर्व प्रकारसे उपादेय हैं। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३८॥

अब इस प्रकारके भेदज्ञानी पुरुषोंको क्या फल प्राप्त होता है, यह प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो) जो ज्ञानी (दोहिं पि) दोनों ही (णएहिं) नयोंसे (इय एवं) यह इस प्रकार-का (वत्थुसहावं) वस्तु-स्वभाव (बुज्झइ) जानता है (तस्स) उसका (मणो) मन (राय-दोसेहिं) राग-द्वेषसे (मोहेहिं) और मोहसे (ण डहुलिज्जइ) डंवाडोल नहीं होता है।

टीका—'इय एवं जो' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण टीकाकारेण मुनिना व्याख्यानं क्रियते—'इय एवं जो बुज्झइ वत्थुसहावं' इति पूर्वोक्तप्रकारेण यः स्वसंवेदनज्ञानी भव्योऽन्तरात्मा सन् बुध्यते जानाति। किम्? वस्तुस्वभावं वस्तुस्वरूपं। काभ्यां करणभूताभ्याम्? 'णएहिं दोहिं पि' निश्चय-व्यवहारनयाभ्यां द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयाभ्यां वा द्वाभ्यामपि कृत्वा। 'तस्स मणो डहुलिज्जइ ण राय-दोसेहिं मोहेहिं' तस्य कथम्भूतस्य? परिज्ञातहेयादेयवस्तुस्वरूपस्य तस्यैव ज्ञानिनो मनो न क्षुभ्यते न चाल्यते न मलिनीक्रियते। काभ्यां केन वा? वीतराग-निर्विकल्पनिर्विकार-चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो विलक्षणाभ्यां राग-द्वेषाभ्यां कृत्वा निर्मोह-शुद्ध-बुद्धैकस्वरूपात्मनो विपरीतेन मोहेन चेति मत्वा स्वशुद्धात्मनो भिन्नस्य विकल्पात्मकस्य मनसः स्थिरीकरणार्थं सहजशुद्ध-बुद्धैकातीन्द्रियनिरञ्जननिजात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पात्मकनिर्विकल्पवीतरागपरमसमाधिसंजातस्वपरप्रकाशकातीन्द्रियस्वसंवेदनज्ञानमेवोपादेयमिति सर्वथा मनसा स्मरणीयं वचसा वक्तव्यं कायेन तदनुकूलाचरणमाचरणीयमित्युपादेयलक्षणं सर्वत्र यथावसरे ज्ञातव्यं परिज्ञाततत्त्वैर्भव्यजनैरिति भावार्थः ॥३९॥

टीकार्थ—'इय एवं जो वुज्झइ' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो स्वसंवेदनज्ञानी भव्य अन्तरात्मा जानता है।

प्रश्न—किसे जानता है?

उत्तर—वस्तु स्वभाव या पदार्थके स्वरूपको।

प्रश्न—किन करणभूत साधकतम कारणोंसे जानता है?

उत्तर—'णएहिं दोहिं पि' अर्थात् निश्चय और व्यवहार नयसे, अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों ही नयोंसे जानता है।

'तस्स मणो डहुलिज्जइ ण राय-दोसेहिं मोहेहिं' अर्थात् उस पुरुषका मन राग, द्वेष और मोहसे डंवाडोल नहीं होता है।

शंका—किस प्रकारके उस पुरुषका मन डंवाडोल नहीं होता है?

उत्तर—जिसने हेय-उपादेयरूप वस्तुस्वरूपको भलीभांतिसे जान लिया है, उसी ज्ञानी पुरुषका मन न क्षोभको प्राप्त होता है, न चलायमान होता है और न मलिन ही किया जाता है।

प्रश्न—किसके द्वारा चलायमान नहीं होता है?

उत्तर—वीतराग निर्विकल्प निर्विकार चिदानन्दैकस्वभावी परमात्मासे विलक्षण—विपरीत स्वभाववाले राग-द्वेषके द्वारा, तथा निर्मोह शुद्ध-बुद्धैकस्वरूप आत्मासे विपरीत मोहके द्वारा ज्ञानी पुरुषका मन चलायमान नहीं होता है।

ऐसा जानकर अपने शुद्ध आत्मासे भिन्न विकल्पात्मक मनके स्थिर करनेके लिए सहज शुद्धबुद्धैकरूप अतीन्द्रिय निरंजन निजात्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप अभेद रत्नत्रयात्मक, निर्विकल्पात्मक, निर्विकल्प वीतराग समाधिसे उत्पन्न हुआ स्व-पर प्रकाशक अतीन्द्रिय स्वसंवेदनरूप ज्ञान ही उपादेय है, ऐसा सर्व प्रकारसे मानकर तत्त्वके जानकार भव्यजनोंको उसीका मनसे स्मरण करना चाहिए, वचनसे उसीका कथन करना चाहिए और कायसे तदनुकूल आचरण करना चाहिए।

यह उपादेयलक्षण वस्तुस्वरूप यथावसर सर्वत्र जानना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥३९॥

अथ पुनरपि तस्यैव निश्चलचित्तस्य ज्ञानिनो माहात्म्यं दर्शयति—

मूलगाथा—रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ।।४०।।

संस्कृतच्छाया—रागद्वेषाद्यैश्च चाल्यते नैव यस्य मनःसलिलम्।
स निजतत्त्वं पश्यति न खलु पश्यति तस्माद् विपरीतः ।।४०।।

टीका—'रायद्दोसादीहि' इत्यादि, 'रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं' मिथ्यात्वाज्ञानभावोपार्जितज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मादिदोषरहितपरमात्मनो विलक्षणै रागद्वेषाद्यैश्च यस्यान्तरात्मनो मनःसलिलं मनोजलं नैव क्षुभ्यते व्याकुलीभवति नैव मलिनीभवति। स किं करोति ? सो णियतच्चं पिच्छइ' स एव परमतत्त्वज्ञानी चिच्चमत्कारमात्र-निजशुद्धात्मतत्त्वं पश्यति नित्यमनुभवति। तद्विलक्षणः किं करोति ? 'ण हु पिच्छइ तस्स विव-

---

आगैं कहै हैं—जाका आत्मा राग-द्वेषकरि चलायमान नांही होय है सो ही आत्मा निज तत्त्वकूं देखै है, अन्य नांही देखै है—

भा० व०—जा अंतरात्माका मनरूप जल जो है सो राग-द्वेषादिकरि नांही क्षोभकूं प्राप्त होय है, व्याकुल नाही होय है, मलिन नाही होय है, सो ही परमतत्त्वका जाननेवाला ज्ञानी चित्-चमत्कारमात्र निज शुद्धात्मतत्त्वकूं देखै है, नित्य अनुभव करै है। अर तातैं विलक्षण कहा करै है ? परमब्रह्मके जाननेवालेनितैं विपरीत बहिरात्मा स्व-पर स्वरूप ताहि निश्चयकरि नांही देखैं है, नांही जानै है ।।४०।।

अब फिर भी उसी निश्चल चित्तवाले ज्ञानी पुरुषका माहात्म्य दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसका (मणसलिलं) मनरूपी जल (रागद्दोसादीहि य) रागद्वेष आदि के द्वारा (णेय) नहीं (डहुलिज्जइ) डंवाडोल होता है (सो) वह (णियतच्चं) निजतत्त्वको (पिच्छइ) देखता है। (तस्स) इससे (विवरीओ) विपरीत पुरुष (ण हु) निश्चयसे नहीं (पिच्छइ) देखता है।

टीकार्थ—'रागद्दोसादीहि य' इत्यादि गाथाका अर्थ-व्याख्यान करते हैं—राग-द्वेष आदिके द्वारा जिसका मनःसलिल डंवाडोल नहीं होता है, अर्थात् मिथ्यात्व, और अज्ञान भावसे उपार्जित ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मादि दोषोंसे रहित परमात्मासे विलक्षण राग-द्वेषादिके द्वारा जिस अन्तरात्माका मनःसलिल—मनरूपी जल क्षोभको प्राप्त नहीं होता, व्याकुल नहीं होता और मलिन नहीं होता है।

प्रश्न—वह क्या करता है ?

उत्तर—'सो णियतच्चं पिच्छइ' अर्थात् वही परमतत्त्वज्ञानी चिच्चमत्कारमात्र निज शुद्ध आत्मतत्त्वको देखता है, अर्थात् नित्य अनुभव करता है।

प्रश्न—इससे विलक्षण या विपरीत ज्ञानी क्या करता है ?

उत्तर—'ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ' अर्थात् परब्रह्मरूप आत्मतत्त्वको जाननेवाले उस

रीओ' परमब्रह्मवेदिनस्तस्माद् विपरीतो बहिरात्मा स्व-परस्वरूप न स्फुटं निश्चयेन पश्यति न जानातीति मत्वा राग-द्वेष-मोहादिदोषरहितात् सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितात् परमात्मनः सकाशाद् विपरीतभूतराग-द्वेष-मोहत्यागेनासन्नभव्यजनेनान्तरात्मना निर्विकल्पचित्तेन निरन्तरं भवितव्यमिति भावार्थः ।।४०।।

अथ दृष्टान्त-दार्ष्टान्ताभ्यां तमेवार्थं दर्शयति—

मूलगाथा—सर-सलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियं पि जह रयणं ।
मण-सलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ।।४१।।

संस्कृतच्छाया—सरःसलिले स्थिरीभूते दृश्यते व्यक्तं निपतितमपि यथा रत्नम् ।
मनःसलिले स्थिरीभूते दृश्यते आत्मा तथा विमले ।।४१।।

टीका—'सर-सलिले' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—'सर-सलिले थिरभूए

आगैं कहै हैं—जैसैं सरोवरका जल थिर भये सरोवरविषैं पड़्या रतन दीखै है, तैसें ही मनोसरोवरकूं स्थिर होत संतैं आत्मा निश्चयकरि दीखै है—

भा० व०—सरोवर-जल है सो स्थिरभूत होत संतैं जैसैं निश्चयकरि पड़्या हुवा रतनकूं प्रगट देखिये है। या दृष्टान्तकरि कहै हैं—तैसैं ही मन सो ही भया मानसरोवरका जल ता विषैं देखिये है। कौनकूं ? आत्माकूं। 'अत सातत्यगमने' धातुको यह प्रयोग है, स्वयमेव ही आत्माकरि आत्मा विषैं आत्माकूं निरन्तरपणा करि गमन करै, प्राप्त होय सो आत्मा जानना। कैसा है मन-जल है सो स्थिरीभूत होत संतैं मिथ्यात्व रागादि अज्ञानभावकरि उपार्जित ज्ञानावरणादिक कर्मोदय पवनका समूह मंद होत संतैं निस्तरंग निश्चल निराकुल होत संतैं। 'कथम्भूते सरोवरे' कहिए कैसे सरोवरविषैं ? विमल कहिए पाप-कर्ममल-रहित ऐसा ।।४१।।

अन्तरात्मासे विपरीत जो बहिरात्मा है, वह स्व और परके स्वरूपको न स्फुटरूप निश्चयनयसे देखता है, और न जानता है।

ऐसा जानकर रागद्वेष मोहादि दोषोंसे रहित सकल विमल केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंसे युक्त परमात्मासे विपरीत स्वरूपवाले रागद्वेष मोहका त्यागकर निकट भव्य अन्तरात्मा पुरुषको निरन्तर निर्विकल्पचित्त होना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ।।४०।।

अब सूत्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तके द्वारा उसी अर्थको दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (सरसलिले) सरोवरके जलके (थिरभूए) स्थिर होनेपर (णिवडियं पि) सरोवरमें गिरा हुआ भी (रयणं) रत्न (णिरु) नियमसे (दीसइ) दिखाई देता है, (तहा) उसी प्रकार (मणसलिले) मनरूपी जलके (थिरभूए) स्थिर होनेपर (विमले) निर्मल भावमें (अप्पा) आत्मा (दीसइ) दिखाई देता है।

टीकार्थ—'सरसलिले' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं—

'सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियं पि जह रयणं' अर्थात् जैसे सरोवरके जलके स्थिरी-

दीसइ णिरु णिवडियं पि जह रयणं' सरःसलिले सरोवरजले स्थिरीभूते सति यथा निश्चयेन निपतितमपि रत्नं व्यक्तं दृश्यते। अनेन दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तमाह—'मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले' तथा मनःसलिले मानससरोजले स्थिरीभूते दृश्यते। कः ? असौ आत्मा। कथम्भूतः ? 'अत सातत्यगमने' धातोः प्रयोगोऽयं स्वयमात्मनात्मन्यात्मा सातत्येन अतति गच्छति प्राप्नोतीत्यात्मा। कथम्भूते मनोजले ? पराभूते मिथ्यात्व-रागाद्यज्ञानभावोपार्जितज्ञानावरणादि-कर्मोदयवातसमूहे मन्दीभूते सति निस्तरंगसमुद्रवन्निश्चलीभूते निराकुलीभूते। पुनश्च कथम्भूते ? विमले पापकर्ममलरहिते। अथवा सम्यक्त्वरत्नाच्छादकमूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहिते शुद्धबुद्धैकस्वरूपात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणभेदेतररत्नत्रयभावनोत्पन्नातीन्द्रियसुखामृतरसपरिपूरिते मनःसरोवरे स्वशुद्धात्मरत्नं रत्नमिव प्रकटं दृश्यते परिज्ञाततत्त्वैः परमयोगिभिर्भव्यजनसुन्दरैः। इति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण स्वशुद्धात्माऽनर्घ्यरत्नमिव ग्राह्यं स्वहिताभिलाषिभिर्भव्यैरिति भावार्थः ॥४१॥

भूत होनेपर अर्थात् तरंग-रहित शान्त हो जानेपर उसके भीतर गिरा हुआ भी रत्न निश्चयसे स्पष्ट दिखाई देता है। आचार्य इस दृष्टान्तसे दार्ष्टान्त कहते हैं—'मणसलिले थिरभूए दीसई अप्पा तहा विमले' उसी प्रकार मनरूपी सरोवरके जलके स्थिर हो जानेपर दिखाई देता है।

प्रश्न—क्या दिखाई देता है ?

उत्तर—आत्मा दिखाई देता है।

प्रश्न—वह आत्मा कैसा है ?

उत्तर—'आत्मा' यह संस्कृत 'अत' धातुका प्रयोग है, 'अत' धातु निरन्तर गमनके अर्थवाली है। अतः जो स्वयं अपने द्वारा अपने आपमें सतत (निरन्तर) गमन करता रहता है, अपने स्वरूपको प्राप्त होता रहता है, उसे आत्मा कहते हैं। अर्थात् आत्मा निरन्तर गमनशील है। संस्कृत नियमके अनुसार सभी गमनार्थक धातुएँ ज्ञानार्थक होती हैं, अतः वह आत्मा ज्ञानस्वभावी है।

प्रश्न—वह आत्मा किस प्रकारके मनोजलमें दिखाई देता है ?

उत्तर—प्रशान्त मनोजलमें दिखाई देता है। जब मिथ्यात्व, रागादि और अज्ञानभावसे उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्मोदयरूप पवनसमूहके पराभूत या मन्दीभूत होने पर निस्तरंग समुद्रके समान मन निश्चल या निराकुल हो जाता है, तब दिखाई देता हैं।

प्रश्न—पुनः कैसे मनमें दिखाई देता है ?

उत्तर—विमल अर्थात् पापकर्मरूप मलसे रहित मनमें दिखाई देता है। अथवा सम्यक्त्वरूप रत्नके आच्छादन करने वाले तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषरूप मलसे रहित, शुद्धबुद्धैकस्वरूप आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप भेदाभेदात्मक रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय सुखरूप अमृत-रससे परिपूरित मानस-सरोवरमें रत्नके समान जो शुद्ध आत्मरत्न है, तत्त्वोके ज्ञाता, भव्यजनोंमें सुन्दर श्रेष्ठ परमयोगियोंको प्रकटरूपसे स्पष्ट दिखाई देता है। ऐसा जानकर आत्म-हितके अभिलाषी भव्यजनोंको सर्वसावधानीपूर्वक उसीमें तत्पर होकर अपना शुद्ध आत्मा अमूल्य रत्नके समान ग्रहण करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४१॥

अथ आत्मतत्त्वे दृष्टे सति योगिनां किं भवतीति प्रतिपादयति—

मूलगाथा—दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इंदियत्थपरिचत्ते ।
जायइ जोइस्स फुडं अमाणुसत्तं खणद्धेण ।।४२।।

संस्कृतच्छाया—दृष्टे विमलस्वभावे निजतत्त्वे इन्द्रियार्थपरित्यक्ते ।
जायते योगिनः स्फुटममानुषत्वं क्षणार्धेन ।।४२।।

टीका—'दिट्ठे विमलसहावे' इत्यादि, व्याख्यानं क्रियते—'दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इंदियत्थपरिचत्ते' दृष्टे स्वसंवेदनज्ञानदृष्ट्या दृष्टे सति । कस्मिन् ? निजतत्त्वे स्वशुद्धात्मस्वरूपे । पुनः कथम्भूते ? विमलस्वभावे, विगतानि विनष्टानि कर्माण्येव मलानि यस्मात्तद् विमलं विमलमेव स्वभावो यस्य तद्विमलस्वभावम्, तस्मिन् विमलस्वभावे । पुनरपि कथम्भूते निजतत्त्वे ? इन्द्रियार्थपरित्यक्ते स्पर्शनरसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणीति पञ्चेन्द्रियाणि, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तदर्था

आगैं कहै हैं—योगीकौं निजतत्त्वकूं देखता संता सर्वज्ञपणां होय है—

भा० व०—निज तत्त्व शुद्धात्मा स्वरूप जो है सो देखता संता जोगीनिके प्रगट अधीक्षणकरि अमानुषत्व जो देवत्वपणां परमदेवपणां व सर्वज्ञत्वपनां होय है । निर्मल स्वभाव अर इन्द्रिय-अर्थ जो इंद्रिय-विषयकरि रहित ऐसा होय है ।।४२।।

अब सूत्रकार आत्मतत्त्वके दिखाई देनेपर योगियोंके क्या होता है, यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(विमलसहावे) निर्मल स्वभाववाले, (इंदियत्थपरिचत्ते) इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित (णियतच्चे) निज आत्मतत्त्वके (दिट्ठे) दिखाई देनेपर (खणद्धेण) आधे क्षणमें (जोइस्स) योगीके (अमाणुसत्तं) अमानुषपना (फुडं) स्पष्ट प्रकट (जायइ) हो जाता है ।

टीकार्थ—'दिट्ठे विमलसहावे' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं । (दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इंदियत्थपरिचत्ते' अर्थात् स्वसंवेदनरूप ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर ।

प्रश्न—किसके देखनेपर ?

उत्तर—स्व-शुद्धात्मस्वरूप निजतत्त्वके देखनेपर ।

प्रश्न—पुनः वह निजात्मतत्त्व कैसा है ?

उत्तर—विमलस्वभाव है । जिसमेंसे कर्मरूप मल विगत या विनष्ट हो गये हैं, उसे विमल कहते हैं । ऐसा विमलरूप स्वभाव जिसका होता है, वह विमलस्वभाव कहलाता है ।

प्रश्न—फिर भी वह निजतत्त्व कैसा है ?

उत्तर—इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित है । इन्द्रियां पाँच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र । इनके विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द हैं । वह शुद्ध निजात्मतत्त्व इन पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित है ।

इति तेषामिन्द्रियाणामर्थाः विषयास्तैः परित्यक्तं रहितमिन्द्रियार्थपरित्यक्तम्, तस्मिन्निन्द्रियार्थ-परित्यक्ते। एवंविधे निजात्मस्वरूपे दृष्टे सति किं फलं भवतीति शंकां निराकरोति सूत्रकर्ता। तथाहि-'जायइ जोइस्स फुडं अमाणुसत्तं खणद्धेण' क्षणार्धेन क्षणमात्रेण स्फुटं निश्चितं जायते योगिनो योगिनां वा। किं तत् ? अमानुषत्वं मानुषस्य भावो मानुषत्वम्, न मानुषत्वममानुषत्वं देवत्वं सर्वज्ञत्वं वा भवतीति मत्वा यदेव मिथ्यात्व-रागादिविषयकषायवशवर्तिनां जीवानामरुचिकरं विरक्तिकारकम्, तद्विपरीतानां तु निर्विषयातीन्द्रियपरमज्ञान-सुखाद्यनन्तगुणात्मतत्त्वसम्यक्-श्रद्धान-ज्ञानानुचरणात्मकाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्ग-मोक्षसुखरतानां भव्यानां तृप्तिजनकं निजात्म-स्वरूपं तदेवोपादेयमिति भावार्थः॥४२॥

अथ परद्रव्यपरित्यागेनोपादेयबुद्ध्या स्वशुद्धात्मस्वरूपं ध्येयमिति प्रतिपादयति—

मूलगाथा— णाणमयं णियतच्चं मेल्लिय सव्वे वि परगया भावा।
ते छंडिय भावेज्जो सुद्धसहावं णियप्पाणं ॥४३॥

संस्कृतछाया—ज्ञानमयं निजतत्त्वं मुक्त्वा सर्वेऽपि परगता भावाः।
तान् त्यक्त्वा भाव्यं शुद्धस्वभावं निजात्मानम् ॥४३॥

फेरि हू कहै हैं—

भा० व०—ज्ञानमय निजात्म तत्त्व ता विना अन्य सर्वभाव परगत ते छांडिकरि निजात्मा-कूं भावना जोग्य है। कैसा है निज आत्मा ? शुद्ध स्वभाव है ॥४३॥

इस प्रकारके इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित निज आत्मतत्त्वके देखनेपर क्या फल होता है ? सूत्रकार इस शंकाका निराकरण करते हैं—'जायइ जोइस्स फुडं अमाणुसत्तं खणद्धेण' अर्थात् क्षणार्धसे—आधे क्षणमात्रमें योगीके या योगियोंके प्रकट हो जाता है।

प्रश्न—वह क्या प्रकट हो जाता है ?

उत्तर—अमानुषत्व प्रकट हो जाता है। मनुष्यके भावको मानुषत्व कहते हैं, ऐसे मानुषत्व के अभावको अमानुषत्व कहते हैं। वह अमानुषत्व देवत्व या सर्वज्ञत्वरूप होता है।

वह अमानुषत्व जो मिथ्यात्व, रागादि, विषय और कषायवशवर्ती जीवोंको अरुचिकर है, विरक्तिकारक है, वही मिथ्यात्व, रागादि विषय और कषायसे विपरीत निर्विषयरूप अतीन्द्रिय परमज्ञान, सुख आदि अनन्त गुणात्मक सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चरणात्मक अभेदरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग और मोक्ष-सुखमें निरत भव्यजनोंको अत्यन्त तृप्तिजनक है। अतएव वही निजात्मस्वरूप उपादेय है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४२॥

अब परद्रव्यके परित्याग-पूर्वक उपादेय बुद्धिसे निज शुद्धात्मस्वरूप ध्यान करनेके योग्य है, यह सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(णाणमयं) ज्ञानमयी (णियतच्चं) निजतत्त्वको (मेल्लिय) छोड़कर (सव्वेवि) सभी (भावा) भाव (परगया) परगत हैं; (ते छंडिय) उन्हें छोड़कर (सुद्धसहावं) शुद्धस्वभाववाले (णियप्पाणं) निज आत्माकी ही (भावेज्जो) भावना करनी चाहिए।

टीका—'णाणमयं' इत्यादि, 'णाणमयं णियतच्चं मेल्लिय सव्वे वि परगया भावा' ज्ञानमयं निजात्मतत्त्वं मुक्त्वा सर्वेऽपि ये केचन परगता भावाः, 'ते छंडिय भावेज्जो' तान् सर्वान् त्यक्त्वा भाव्यो भवति। कोऽसौ ? सुद्धसहावं णियप्पाणं' शुद्धस्वभावो निजात्मा। तथा हि—निजात्मतत्त्वं चिच्चमत्कारमात्रं स्वकीयमात्मस्वरूपमेकं मुक्त्वा। कथम्भूतम् ? तन्नित्य-निरञ्जन-निर्विकार-स्वपरप्रकाशकानाद्यनन्तकेवलज्ञानेन निर्वृतं निष्पन्नं घटितं ज्ञानमयं तस्मिन्निजात्मस्वरूपाद् विपरीता ये केचन अपरे परगताः परं पुद्गलादि परद्रव्यं गता मिलिताः परगता भावाः स्वद्रव्य-गुण-पर्यायैर्भवन्तीति भावाः पदार्थाः सर्वेऽपि चेतनेतराः चेतनाचेतनस्वरूपाः, तान् सर्वान् परगतान् भावान् त्यक्त्वा मनोवचनकायैरुदासीनो भूत्वाऽन्तरात्मभावेन भाव्यो भवनीयो भवति। कोऽसौ ? निजात्मा। कथम्भूतः ? निर्विकारात्मनः सकाशाद् विपरीतद्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्ममलकलङ्क-रहितत्वाच्छुद्धस्वस्यात्मनो भावः स्वभावः। शुद्धश्चासौ स्वभावश्च शुद्धस्वभावो निश्चयनयेन। एवंविधो निजात्मा सर्वथोपादेयो भवतीति भावार्थः ॥४३॥

टीकार्थ—'णाणमयं' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं 'णाणमयं णियतच्चं मेल्लिय सव्वे वि परगया भावा' अर्थात् ज्ञानमयी अपने आत्मतत्त्वको छोड़कर सभी जितने भी कुछ परगत भाव हैं, 'ते छंडिय भावेज्जो' उन सबको छोड़कर भावना करनी चाहिए।

प्रश्न—किसकी भावना करनी चाहिए ?

उत्तर—'सुद्धसहावं णियप्पाणं' शुद्ध स्वभाववाले निज आत्माकी भावना करनी चाहिए।

इसका खुलासा इस प्रकार है—निज आत्मतत्त्व अर्थात् स्वकीय आत्मस्वरूप चैतन्य चमत्कारमात्र है, नित्य निरंजन निर्विकार, स्व-पर-प्रकाशक अनादि-अनन्त केवलज्ञानसे निर्वृत्त, निष्पन्न या घटित है, अतः ज्ञानमय है। उस निज आत्मस्वरूपसे विपरीत जितने कुछ भी अन्य पर-गत भाव हैं, पुद्गलादि परद्रव्य पर कहलाते हैं; उस 'पर' से गत अर्थात् मिलित भाव परगत भाव कहे जाते हैं। जो स्वद्रव्य, गुण और पर्यायोंसे उत्पन्न होते हैं, उन्हें भाव या पदार्थ कहते हैं। इस प्रकारके सभी चेतन और अचेतनस्वरूप परगत भावोंको छोड़कर, मन वचन कायसे उदासीन होकर अन्तरात्मभावसे अपने शुद्ध आत्माकी भावना करनी चाहिए।

प्रश्न—वह निज आत्मा कैसा है ?

उत्तर—निर्विकार स्वरूपसे विपरीत द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मल-कलंकसे रहित होनेके कारण शुद्ध अपने आत्माका जो भाव है, वह स्वभाव कहलाता है। ऐसा शुद्ध जो स्वभाव वह शुद्ध स्वभाव कहा जाता है। ऐसा शुद्धस्वभावी आत्मा निश्चयनयसे सर्वप्रकार उपादेय है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४३॥

अथानन्तरं यः कश्चिद् भव्यो निजात्मानं ध्यायति, स कथम्भूतो भवतीति मनसि सम्प्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

मूलगाथा—जो अप्पाणं झायदि संवेयणचेयणाइ उवजुत्तो ।
सो हवइ वीयराओ णिम्मलरयणत्तओ साहू ॥४४॥

संस्कृतच्छाया—य आत्मानं ध्यायति संवेदनचेतनाद्युपयुक्तः ।
स भवति वीतरागो निर्मलरत्नत्रयः साधुः ॥४४॥

टीका—'जो अप्पाणं' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—'जो अप्पाणं झायदि' यः कश्चिद् भव्यजीवः कर्त्ता कर्मतापन्नं निजात्मानं ध्यायति, 'स्मृ-ध्यै चिन्तायां ध्यै धातोः प्रयोगः, इत्यात्मानं स्मरतीत्यर्थः । कथम्भूतः सन् ? 'संवेयणचेयणाइ उवजुत्तो' स्वसंवेदनचेतनादिभावोपयुक्तः । अयं ध्याता कथम्भूतो भवति ? 'सो हवइ वीयराओ' स एवात्माऽऽराधको वीतरागो भवति । पुनः किंविशिष्टः ? 'णिम्मलरयणत्तओ साहू' निर्मलरत्नत्रयात्मकः साधुः । तथाहि—'राध-साध संसिद्धौ' साधयत्यात्मानं परं परमात्मानं च साधुः, परमाराधको योगी यः किलात्मानं ध्यायति स्मरत्यनुभवतीत्यर्थः । स्वात्मना स्वात्मानं संवेद्यते संवेदनं स्वयं चेत्यते चेतना, संवेदनं च चेतना च संवेदनचेतने, ते द्वे आदौ येषां ते संवेदनचेतनादयः, संवेदनचेतनादिभिर्गुणैरुपयुक्तः संवेदनचेतनाद्युपयुक्तः सन् । स्वरूपं ध्यायन् सन् कथम्भूतो भवति ? वीतो विनष्टो मिथ्यात्वादि-

---

फेरि कहै हैं—

भा० व०—जो साधू आत्माकूं ध्यावे है । कैसा भया संता ? स्वसंवेदन चेतनादिक भावकरि युक्त भया संता । ध्याता साधू सो ही वीतराग हो है । कैसा होय है ? निर्मल रत्नत्रयमय ऐसा ॥४४॥

अब इसके पश्चात् जो कोई भव्य अपनी आत्माका ध्यान करता है, वह कैसा होता है, यह शंका मनमें धारण करके आचार्य यह वक्ष्यमाण गाथासूत्र प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो संवेयणचेयणाइ उवजुत्तो) जो स्वसंवेदनचेतनादिसे उपयुक्त (साहू) साधु (अप्पाणं) आत्माको (झायदि) ध्याता है (सो) वह (णिम्मलरयणत्तओ) निर्मल रत्नत्रयका धारक (वीयराओ) वीतराग (हवइ) हो जाता है ।

टीकार्थ—'जो अप्पाणं झायदि' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—जो कोई ध्यान करनेवाला कर्ता योगी कर्मपनेको प्राप्त निज आत्माका ध्यान करता है । 'स्मृ' और 'ध्यै' ये दो धातुएं चिन्तनार्थक हैं । 'ध्यायति' यह 'ध्यै' धातुका प्रयोग है, तदनुसार उसका अर्थ होता है कि जो आत्माका स्मरण करता है ।

प्रश्न—कैसा होकर स्मरण करता है ?

उत्तर—'संवेयणचेयणाइ-उवजुत्तो' अर्थात् स्वसंवेदन-चेतनादिभावोंसे उपयुक्त होकर स्मरण करता है ।

प्रश्न—वह ध्याता कैसा हो जाता है ?

उत्तर—'सो हवइ वीयराओ' वह आराधक आत्मा वीतराग हो जाता है ।

रागो यस्मादसौ वीतरागः स एव भवति। पुनश्च कथम्भूतो भवति ? निर्मलरत्नत्रयो निर्गतानि कर्माण्येव मलानि यस्मात्तं निर्मलं निर्मलरत्नत्रयं यस्यासौ निर्मलरत्नत्रयो भवति। इति मत्वा स्वशुद्धात्मैवोपादेयबुद्धया चिन्तनीयो भव्यजनैरिति तात्पर्यार्थः ॥४४॥

अथ निश्चयरत्नत्रयसकललक्षणं दर्शयति—

मूलगाथा—दंसण-णाण-चरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणइ।
जो झायइ अप्पाणं सचेयणं सुद्धभावट्ठं ॥४५॥

संस्कृतच्छाया—दर्शन-ज्ञान-चारित्रं योगी तस्येह निश्चयं भणति।
यो ध्यायत्यात्मानं सचेतनं शुद्धभावस्थम् ॥४५॥

भा० व०—या लोकविषैं जोगी है ताकैं निश्चय दर्शन ज्ञानचारित्रकूं ही कहै हैं जो साधू आत्मानैं जानैं है। कैसा आत्मा ? सचेतन निर्विकल्प निरंजन शुद्धोपयोगस्वरूपकरि उत्पन्न जो चेतना, ताकरि सहित वर्तै सो सचेतन कहिए, सो सचेतनकूं ही। बहुरि कैसा आत्मा ? शुद्ध स्वभावस्थ, शुद्धनिश्चयकरि मिथ्यात्व-रागादि दोष-रहितपनातैं शुद्ध। 'भू' सत्ता अर्थ विषैं वर्तै है 'होय' सो भाव कहिए शुद्ध जो भाव, ता शुद्ध भाव विषैं तिष्ठता ॥४५॥

प्रश्न—पुनः वह आराधक कैसा होता है ?

उत्तर—'णिम्मलरयणत्तओ साहू' अर्थात् वह आराधक निर्मल रत्नत्रयात्मक साधु होता है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—संस्कृतमें 'राध' और 'साध' ये दो धातुएं सम्यक् सिद्धिके अर्थवाली हैं। जो आत्माको और पर अर्थात् परमात्माको साधता है, वह साधु है और परमाराधक योगी भी है। जो कोई आत्माका ध्यान करता है, स्मरण करता है, अर्थात् वह उसका अनुभव करता है। अपने आत्माके द्वारा अपने आत्माके अनुभव करनेको संवेदन कहते हैं। जो स्वयं चेते अर्थात् अपने आपको जाने, उसे चेतना कहते हैं। संवेदन और चेतनाका समास 'संवेदन-चेतने' होता है। ये दोनों आदिमें जिनके हों वे 'संवेदनचेतनादि' कहलाते हैं। ऐसे संवेदन-चेतनादिगुणोंसे उपयुक्त आत्माको ध्याता कहते हैं।

प्रश्न—ऐसा आत्म-स्वरूपका ध्याता पुरुष कैसा होता है ?

उत्तर—'वीयराओ हवइ' वीतराग होता है। वीत अर्थात् विनष्ट हो गया है मिथ्यात्व आदि राग जिसमेंसे वह वीतराग होता है।

प्रश्न—पुनः वह कैसा होता है ?

उत्तर—'निर्मलरत्नत्रय होता है। कर्मरूप मल जिसमेंसे निकल गया है, उसे निर्मल कहते है। निर्मल रत्नत्रय जिसका होता है वह निर्मलरत्नत्रय होता है।

ऐसा जानकर भव्यजनोंको अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेयबुद्धिसे चिन्तन करनेके योग्य है। यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ॥४४॥

अब निश्चयरत्नत्रयका सम्पूर्ण स्वरूप दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जो) जो (जोई) योगी (सचेयणं) सचेतन और (शुद्धभावट्ठं) शुद्ध भावमें स्थित

टीका—दंसण-णाण-चरित्तमित्यादि, दर्शन-ज्ञान-चरित्रं योगी तस्येह भणति यो ध्यायत्या-त्मानं सचेतनं शुद्धभावस्थम्। तथाहि—योऽसौ पूर्वोक्तः स्वसंवेदनज्ञानी कर्त्ता स्वात्मानं वेत्ति जानाति। कथम्? शुद्ध-बुद्धैकचिच्चमत्कारमात्रात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुभवचारुस्वभावेना-नुभवति। कथम्भूतमात्मानम्? निरञ्जनं शुद्धोपयोगस्वरूपोत्पन्नया चेतनया सह वर्त्तते सचेतनस्तं सचेतनम्। पुनश्च कथम्भूतम्? शुद्धभावस्थम्—शुद्धनिश्चयेन मिथ्यात्व-रागादिदोषरहितत्वाच्छुद्धः। 'भू सत्तायां' भवतीति भावः। शुद्धश्चासौ भावश्च शुद्धभावः, तस्मिन् शुद्धभावे तिष्ठतीति शुद्ध-भावस्थस्तं शुद्धभावस्थम्। यः किलैवंविधमात्मानं भावयत्याराधयति तस्यैव ज्ञानिनो निश्चितं दर्शन-ज्ञान-चारित्रं भवति, इह जगति वाऽस्मिन् कलिकाले। कोऽसौ भणति? योगी परमयोगी-

---

(अप्पाणं) आत्माको (झायइ) ध्याता है (तस्स) उसको (इह) इस लोकमें (णिच्छयं) निश्चय (दंसण-णाण-चरित्तं) दर्शन ज्ञान चारित्र (भणइ) कहते हैं।

टीकार्थ—'दंसणणाणचरित्तं' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—जो वह पूर्वोक्त स्वसंवेदनज्ञानी ध्यानकर्ता अपने आत्माको जानता है।

प्रश्न—कैसा जानता है?

उत्तर—शुद्धबुद्धैकचिच्चमत्कारमात्र आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप सुन्दर स्वभावसे आत्माका अनुभव करता है। अर्थात् अपनेको शुद्धरत्नत्रयात्मक जानता है।

प्रश्न—पुनः कैसे आत्माको जानता है?

उत्तर—निरंजन और सचेतन आत्माको जानता है। कर्मरूप अंजनसे रहित आत्माको निरंजन कहते हैं और शुद्धोपयोगरूप स्वरूपसे उत्पन्न चेतनाके साथ जो रहता है, उसे सचेतन कहते हैं।

प्रश्न—पुनः कैसे आत्माको जानता है?

उत्तर—शुद्धभावस्थ आत्माको जानता है। शुद्ध निश्चयनयसे मिथ्यात्व और रागादि दोषोंसे रहित आत्माको शुद्ध कहते हैं। 'भू' धातु सत्ताके अर्थमें प्रयुक्त होती है। जो सत् रूप होता है, उसे भाव कहते हैं। शुद्धरूप भावको शुद्ध भाव कहते हैं। उस शुद्ध भावमें जो रहता है, उसे शुद्धभावस्थ कहते हैं।

जो कोई इस प्रकारके आत्माकी भावना करता है, आराधना करता है, उसी ज्ञानीपुरुषके निश्चित दर्शन ज्ञान चारित्र होता है।

प्रश्न—कहाँपर रहनेवालेको होता है?

उत्तर—इस जगत्में, अथवा इस कलिकालमें रहनेवालेको होता है।

प्रश्न—ऐसा किसने कहा है?

उत्तर—योगी, परमयोगीश्वर या सर्वज्ञ देवने कहा है, क्योंकि पुरुषकी प्रमाणतासे वचनमें प्रमाणता होती है।

श्वरो वा सर्वज्ञ इति पुरुषप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यं भवतीति ज्ञात्वाऽऽसन्नभव्येन मोक्षार्थिना रुचिपूर्वक स्वशुद्धात्मनि भावना कर्तव्येति भावार्थः ।।४५।।

इति तत्त्वसारावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारकश्रीकमलकीर्त्तिदेवविरचिते काय-स्थमाथुरान्वयशिरोमणिभूत-भव्यवरपुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिनकरे भेदाभेदरत्नत्रयात्म-कमोक्षमार्गभावनाफलवर्णनं नाम चतुर्थं पर्व ।।४।।

■

ऐसा जानकर निकट भव्य मोक्षाभिलाषी पुरुषको रुचिपूर्वक अपनी शुद्ध आत्मामें भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ।।४५।।

इस प्रकार अति निकट भव्यजनोंको आनन्दकारक, भट्टारक श्री कमलकीर्त्ति-विरचित, कायस्थ-माथुरान्वय-शिरोमणिभूत, भव्यवरपुण्डरीक अमरसिंहके मानस-कमलको दिनकरके समान विकसित करनेवाले इस तत्त्वसारके विस्तारावतारमें भेदाभेद रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गकी भावना-का फल-वर्णन करनेवाला चौथा पर्व समाप्त हुआ ।।४।।

■

पञ्चमं पर्व

रत्नत्रयात्मकसुनिर्मलमोक्षमार्गे संसारसागरसमुत्तरणैकपोते ।
तेऽमर्त्यसिंह स्वतरूद्भवमुक्तिलिप्सो गन्तुं समुद्यतमतिं कुरु पापभीरो ।।

(इत्याशीर्वादः)

अथ भावश्रुतमन्तरेण बाह्यध्यानस्थितोऽप्यात्मानं न जानातीति दर्शयति—

मूलगाथा—झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो संवेइ णियय-अप्पाणं ।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं ।।४६।।

**संस्कृतच्छाया—ध्यानस्थितो हि योगी यदि नो संवेत्ति निजकात्मानम् ।
तु न लभते तं शुद्धं भाग्यविहीनो यथा रत्नम् ।।४६।।**

टीका—'झाणट्ठिओ' इत्यादि । तथाहि—ध्यानस्थितः खलु यदि चेद्योगी ध्याता पुरुषो ध्यानस्थितः सामान्यध्याने स्थितः ध्यानस्थितोऽपि सन् निजात्माऽयं परात्माऽयं चेति न जानाति स तमेव शुद्धात्मानं तदा ध्यानकालेऽपि न लभते, न प्राप्नोति । किं क इव ? यथा भाग्येन हीनो

हे पापभीरु, अमरसिंह ! यदि तुम आत्म-वृक्षसे उत्पन्न होनेवाले मुक्तिरूपी फलको पानेके इच्छुक हो तो संसार-सागरसे पार उतारनेवाले अद्वितीय पोतरूप रत्नत्रयात्मक अतिनिर्मल इस मोक्षमार्गमें गमन करनेके लिए अपनी बुद्धिको उद्यत करो ।।१।।

(इति आशीर्वादः)

आगैं शुरू ही कूं कहैं हैं—

भा० व०—प्रगट जोगी जे हैं ते ध्यानविषैं तिष्ठे हू जो निज आत्मा कूं नाहीं जानैं हैं तो तिह शुद्ध आत्माकूं नांहीं प्राप्त हो है । कौनकी नाईं ? भाग्यहीन जैसे रतनकौं नांहीं प्राप्त होय, तैसैं ।।४६।।

अब भावश्रुतके विना बाह्य ध्यानमें स्थित भी पुरुष आत्माको नहीं जानता है, यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(झाणट्ठिओ) ध्यानमें स्थित (जोई) योगी (जइ) यदि (हु) निश्चयसे (णियय-अप्पाणं) अपने आत्माको (णो) नहीं (संवेइ) अनुभव करता है (तो) तो वह (तं) उस (सुद्धं) शुद्ध आत्माको (ण) नहीं (लहइ) प्राप्त कर पाता है । (जहा) जैसे (भग्गविहीणो) भाग्यहीन मनुष्य (रयणं) रत्नको नहीं प्राप्त कर पाता है ।

टीकार्थ—'झाणट्ठिओ हु जोई' इत्यादि गाथाका अर्थ-व्याख्यान करते हैं—सामान्यरूपसे ध्यानमें स्थित होता हुआ भी यदि कोई ध्याता योगी 'यह निज आत्मा है, और यह पर आत्मा है' ऐसा नहीं जानता है तो वह उस ध्यान-कालमें भी अपने उस शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त कर पाता है ।

भाग्यहीनः पुरुषो रत्नं न प्राप्नोति, तथा मिथ्यात्वराग-द्वेषादिभावोपार्जितज्ञानावरणादिकर्म-पटलावृतो जीव स्वशुद्धात्मरत्नं न लभते चतुर्गतिसंसारसमुद्रेऽतीवदुर्लभत्वादिति मत्वा ज्ञान-पूर्वकमभेदभावना कर्तव्या भव्येनेति भावार्थः ।।४६।।

अथ ध्याता तत्त्वं ध्यायमानोऽपि देहसुखानुरक्तः सन् शुद्धमात्मानं न लभते, इति प्रति-पादयति—

मूलगाथा—देहसुहे पडिबद्धो जेण य सो तेण लहइ ण हु सुद्धं ।
तच्चं वियाररहियं णिच्चं चिय झायमाणो हु ।।४७।।

संस्कृतच्छाया—देहसुखे प्रतिबद्धो येन च स तेन लभते न खु शुद्धम् ।
तत्त्वं विकाररहितं नित्यमेव ध्यायमानो हि ।।४७।।

टीका—'देहसुहे' इत्यादि । तद्यथा—'देहसुहे पडिबद्धो जेण य सो तेण लहइ ण हु सुद्धं' येन कारणेन देहसुखे सुख-सत्ता-चैतन्य-बोधादिप्राणचतुष्कात्मकदेहाद् विलक्षणोऽशुद्धेन्द्रियादिदशप्राण-मयो देहोऽस्य देहस्य सुखं तस्मिन् देहसुखे प्रतिबद्धः प्रत्यासक्तः, तेन कारणेन स एव ध्यातापि

आगैं कहै हैं—देहसुखविषैं आसक्त ध्यान करता हू शुद्ध आत्माकूं नाहीं प्राप्त होय है—

भा० व०—देहसुखविषैं आसक्त ते पुरुष शुद्ध तत्त्वकूं प्रगट नांहीं प्राप्त होय है। कैसा ? तत्त्व विकार-रहितकूं नित्य ध्यायमान हू। जा कारणतैं देह-सुखविषैं सुख सत्ता चैतन्य बोधा-दिक शुद्ध प्राण-चतुष्कात्मक देहादि-विलक्षण, अर अशुद्ध इंद्रियादि दशप्राणमय देहका सुख ता विषैं आसक्त ता कारणकरि सो ही ध्याता हू प्रगट निश्चित शुद्धात्मतत्त्वकूं नांही प्राप्त होय है। कैसा है तत्त्व ? विकार-रहित ताका जो भाव सो तत्त्वकूं विचारकरि वेदने योग्य जानने योग्य वस्तु चेतन अर या वस्तु अचेतन या प्रकारकरि ये विकार ता विकार-रहित। कहा करता ? नित्य ध्यायमान प्रगट जैसें होय तैसें ।।४७।।

प्रश्न—किसके समान प्राप्त नहीं कर पाता है ?

उत्तर—भाग्य-विहीन पुरुषके समान। जैसे भाग्यसे हीन पुरुष रत्नको प्राप्त नहीं कर पाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, राग, द्वेषादि भावोंसे उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्म-पटलसे आच्छादित जीव अपने शुद्ध आत्म-रत्नको नहीं प्राप्त कर पाता है, क्योंकि चतुर्गतिरूप संसार-समुद्रमें उसे पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

ऐसा जानकर भव्यपुरुषको ज्ञानपूर्वक अभेद-रत्नत्रयकी भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ।।४६।।

अब ध्यान करनेवाला पुरुष तत्त्वका ध्यान करता हुआ भी यदि शारीरिक सुखमें अनुरक्त हो तो शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त कर पाता है, यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(वियार-रहियं) विचार-रहित (तच्चं) तत्त्वको (णिच्चं) नित्य (चिय) ही (झायमाणो हु) निश्चयसे ध्यान करता हुआ भी (जेण) यतः (देहसुहे) शरीरके सुखमें (पडिबद्धो) अनुरक्त है (तेण) इसलिए (सो) वह (सुद्धं) शुद्ध आत्मस्वरूपको (ण हु) नहीं (लहइ) प्राप्त कर पाता है।

टीकार्थ—'देहसुहे पडिबद्धो' इत्यादि गाथाका अर्थ व्याख्यान करते हैं। यथा—'देहसुहे पडि-बद्धो जेण य सो तेण लहइ ण हु सुद्धं' अर्थात् जिस कारणसे कि सुख, सत्ता, चैतन्य और बोध आदि

स्फुटं निश्चितं शुद्धात्मतत्त्वं न लभते न प्राप्नोति । कथम्भूतं तत्त्वम् ? 'तच्चं वियाररहिअं' तस्य भावस्तत्त्वम्, विचार्यंते विचारः, अथवेदं वस्तु चेतनमिदं वस्तु न चेतनमिति वा विक्रियते विकारः, विकारेण रहितं विचार-रहितं वा । किं कुर्वन् ? 'णिच्चं चिय झायमाणो हु' नित्यमेव ध्यायते ध्यायमानः स्फुटं यथा भवति ततो हीति ज्ञात्वा संसार-शरीर-भोगेभ्यो निर्विण्णेन विरक्तेन विषयसुखाभासभयाकुलत्वोत्पादकानाद्यनन्तदुःखमूर्च्छितविषयसुखाद् विपरीतातोन्द्रियात्मोत्थानाकुलत्वलक्षणमोक्षसुखानुरक्तेन ध्यातृपुरुषेण ध्यातव्यमिति तात्पर्यार्थः ।।४७।।

अथ देहस्वरूपं देहममत्वकारिणो बहिरात्मनः स्वरूपं निरूपयति--

मूलगाथा—मुक्खो विणासरूवो चेयणपरिवज्जिओ सया देहो ।
तस्स ममत्ति कुणंतो बहिरप्पा होइ सो जीवो ।।४८।।

संस्कृतच्छाया—मूर्खो विनाशरूपश्चेतनापरिवर्जितः सदा देहः ।
तस्य ममतां कुर्वन् बहिरात्मा भवति स जीवः ।।४८।।

आगैं कहैं हैं—देहविषैं ममत्व करता बहिरात्मा होय है—

भा० व०—देह है सो सदाकाल मूर्ख है, विनाशरूप है, चेतनारहित है । ता विषैं ममता करता बहिरात्मा सो जीव होय है । भावार्थ—ताही पूर्वोक्त देहविषैं ममता तन्मयता करता जीव कैसा होय है ? स्वशुद्धात्माकी अनुभूति जो अनुभव ताका अभावकरि उपार्जित ज्ञानावरणादिक कर्मका उदयकरि जीव बहिरात्मा निज आत्मतत्त्वतैं बहिर्भूत आत्मा चित्त जाका सो बहिरात्मा होय है ।।४८।।

प्राणचतुष्कात्मक ज्ञानदेहसे विलक्षण जो अशुद्ध इन्द्रिय आदि दश प्राणमय पुद्गल-देहका सुख है, उस देह-सुखमें वह प्रतिबद्ध अर्थात् अति आसक्त है, इस कारणसे वह तत्त्वध्याता हुआ पुरुष भी निश्चित रूपसे शुद्ध आत्मतत्त्वको नहीं प्राप्त कर पाता है ।

प्रश्न—कैसे तत्त्वको ध्याता हुआ पुरुष शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त कर पाता है ?

उत्तर—'तच्चं वियार-रहियं' अर्थात् विचार-रहित तत्त्वको ध्याता हुआ भी पुरुष शुद्ध आत्माको प्राप्त नहीं कर पाता । सत्तात्मक वस्तुके भावको तत्त्व कहते हैं । 'जो विचारा जाये' उसे विचार कहते हैं । अथवा यह वस्तु चेतन है और यह वस्तु चेतन नहीं है, इस प्रकारके विवेकको विचार कहते हैं । अथवा प्राकृत 'वियार' पदका एक संस्कृतरूप विकार भी होता है । विकृत होनेवाले भावको विकार कहते हैं । ऐसे विकारसे रहित, अथवा विवेकरूप विचारसे रहित तत्त्वका ध्यान करनेवाला पुरुष शुद्ध आत्माको नहीं प्राप्त कर पाता है ।

प्रश्न—क्या करता हुआ नहीं प्राप्त कर पाता है ?

उत्तर—'णिच्चं चिय झायमाणो हु' अर्थात् नित्य ही ध्यान करता हुआ नहीं कर पाता है ।

इसलिए वस्तु-तत्त्वको जानकर संसार, शरीर और इन्द्रिय-भोगोंसे विरक्त होकर विषयसुखाभासमय, आकुलताका उत्पादक अनादिअनन्त दुःखोंसे मूर्च्छित विषय-सुखसे विपरीत जो अतीन्द्रिय आत्मसमुत्पन्न, अनाकुलतारूप मोक्ष-सुख है, उसमें ध्याता पुरुषको अनुरक्त होना चाहिए । यह इस गाथाका तात्पर्यार्थ है ।।४७।।

अब सूत्रकार जड़-स्वरूप देहसे ममत्व करनेवाले बहिरात्माके स्वरूपका निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(देहो) शरीर (सया) सदाकाल (मुक्खो) मूर्ख है, (विणासरूवो) विनाशरूप है,

टीका—'मुक्खो' इत्यादि। तथाहि-मुक्खो विणासरूवो चेयणपरिवज्जिओ सया देहो' देहः शरीरं कथम्भूतः ? मूर्खो जडस्वरूपः, स्व-पर-प्रकाशकातीन्द्रियनिर्विकारसकलविमलकेवलज्ञानाभावात्। पुनश्च किंविशिष्टो देहः ? कर्म-कर्मफल-ज्ञानचेतनाभेदात् त्रिविधचेतनया परि समन्तात् परिवर्जितश्चेतनापरिवर्जितः, सदा सर्वस्मिन् कालेऽतीतानागतवर्तमानकालापेक्षया सर्वदैवैकजडतारूपः। तद्वक्त्रस्य (?) कीदृग् लक्षणं भवति ? 'तस्स ममत्ति कुणंतो बहिरप्पा होइ सो जीवो' तस्यैव तस्मिन् वा पूर्वोक्ते देहे ममतां तन्मयतां कुर्वन् जीवः कथम्भूतो भवति ? स्वशुद्धात्मानुभूत्यभावोपार्जितज्ञानावरणादिकर्मोदयात् स एव जीवो बहिरात्मा निजात्मतत्त्वाद् बहिर्विषये आत्मा चित्तं यस्य स एव बहिरात्मा भवति। आत्मशब्दोऽत्र दशार्थेषु प्रवर्तते। तथा चोक्तम्—

आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे।
परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशन-समीरयोः ॥२४॥

इति ज्ञात्वा अन्तरात्म-परमात्मनोर्विपरीतो बहिरात्मा त्याज्यो भवति भव्यजनैरिति भावार्थः ॥४८॥

(चेयणपरिवज्जिओ) चेतनासे रहित है, जो (तस्स) उसकी (ममत्ति) ममता (कुणंतो) करता है (सो) वह (बहिरप्पा) बहिरात्मा (होइ) है।

टीकार्थ—'मुक्खो विणासरूवो' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—यह देह-शरीर कैसा है ? मूर्ख है—जड़स्वरूप है, क्योंकि इसमें स्व-पर-प्रकाशक अतीन्द्रिय निर्विकार सकल विमलस्वरूपवाले केवलज्ञानका अभाव है।

प्रश्न—पुनः यह देह कैसा है ?

उत्तर—कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतनाके भेदसे तीन प्रकारकी चेतनासे सर्वथा रहित है, अतः चेतनापरिवर्जित है।

और यह देह सदा अर्थात् सभी कालमें भूत, भविष्य और वर्तमान कालकी अपेक्षा सर्वदा ही एकमात्र जड़तास्वरूप वाला है।

प्रश्न—ऐसे देहसे ममता करनेवालेका क्या लक्षण है ?

उत्तर—'तस्स ममत्ति कुणंतो बहिरप्पा होइ सो जीवो' अर्थात् उस पूर्वोक्त स्वरूपवाले देहका, या उस देहसे ममता-तन्मयता करनेवाला जीव कैसा होता है ? बहिरात्मा होता है। अर्थात् अपने शुद्ध आत्माकी अनुभूतिके अभावसे उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयसे वही जीव बहिरात्मा होता है। निज आत्मतत्त्वसे बाहिरी विषयमें जिसका आत्मा अर्थात् चित्त संलग्न हो, वह बहिरात्मा कहलाता है।

यहां शब्दकोषमें 'आत्मा' यह शब्द दश अर्थोंमें प्रवृत्त होता है। जैसा कि कहा है—

चित्त (मन), धृति (धैर्य), यत्न, धिषणा (बुद्धि), कलेवर (शरीर), परमात्मा, जीव, अर्क (सूर्य), हुताशन (अग्नि) और समीर (वायु) इन दश अर्थोंमें 'आत्मा' शब्द प्रयुक्त होता है ॥२४॥

ऐसा जानकर अन्तरात्मा और परमात्मासे विपरीत स्वभाववाला जो बहिरात्मा है, वह भव्यजनोंको त्यागनेके योग्य है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४८॥

अथ स्वस्यापरस्यापि देहस्य च जरा-रोग-मरणादिकं यो दृष्ट्वाऽदेहात्मन्यात्मनि लीनो भवति सोऽदेही भवतीति प्रतिपादयति--

मूलगाथा—रोयं सडणं पडणं देहस्स य पिक्खिऊण जर-मरणं।
जो अप्पाणं झायदि सो मुच्चइ पंचदेहेहिं ॥४९॥

संस्कृतच्छाया--रोगं शातनं पतनं देहस्य च दृष्ट्वा जरा-मरणम्।
य आत्मानं ध्यायति स मुच्यते पञ्चदेहैः ॥४९॥

टीका—'रोयं' इत्यादि, 'रोयं सडणं पडणं देहस्स य पिक्खिऊण जर-मरणं' यो यः कश्चित्तत्त्वज्ञो भव्यात्मा दृष्ट्वाऽवलोक्य। किं दृष्ट्वा ? रोगं शातनं 'शद्लृ शातने' शीर्यत शातनम्, 'पत्लृ पतने' पत्यते पतनम्, कस्य कस्मिन् वा ? देहस्य। तथाऽन्यदपि दृष्ट्वा जरा-मरणम्, 'जरा जुवजो हानौ' जीर्यते जरा, म्रियते मरणम्। जरा च मरणं च जरा-मरणम्। द्वन्द्वैकत्वमित्येकत्वम्। पश्चात् किं करोति यः ? 'अप्पाणं झायदि' स्वशुद्धात्मानं चिच्चमत्कारमात्रं आत्मानं ध्यायति स्मरति नित्यमाराधयतीति। स कथम्भूतो भवति ? 'सो मुच्चइ पंचदेहेहिं' स एवान्तरात्मा मुच्यते त्यज्यते। कैः ? कर्तृभूतैः पञ्चदेहैः। औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणरूपाणि शरीराणि देहा उच्यन्ते। पञ्चैव देहा पञ्चदेहाः, तैः पञ्चदेहैः। तदभावान्मिथ्यात्व-

---

आगैं फेरि कहैं हैं—

भा० व०—जो देहकै सिड़ना पीड़ा, पतन पड़ना जो जरापणां मरणदशा प्राण-रहित होणां देखकरि, अर आत्मा जो शु चिदानन्दकूं ध्यावै है सो मुनि पंच देह जो औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्माण एह जे पांच शरीरनिकरि रहित होय है ॥४९॥

अब अपने और परके भी देहके जरा, रोग और मरण आदिको देखकर जो पुरुष अदेहात्मक अर्थात् जड़रूपतादिसे रहित अपने आत्मामें लीन होता है, वह अदेही अर्थात् शरीर-रहित सिद्ध हो जाता है, यह सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(देहस्स य) देहके (रोयं) रोग (सडणं) सटन और (पडणं) पतनको तथा (जर-मरणं) जरा और मरणको (पिक्खिऊण) देखकर (जो) जो भव्य (अप्पाणं) आत्माको (झायदि) ध्याता है (स) वह (पंच देहेहिं) पांच प्रकारके शरीरोंसे (मुच्चइ) मुक्त हो जाता है।

टीकार्थ—'रोयं सडणं पडणं' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—जो कोई तत्त्वज्ञ भव्यात्मा शरीरके रोगको, सटन अर्थात् सड़न-गलनको और पतन अवस्थाको, तथा जरा और मरणको देखकर 'अप्पाणं झायदि' अर्थात् अपने आत्माका ध्यान करता है—अपने शुद्ध, चिच्चमत्कारमात्र आत्माका स्मरण करता है, उसकी नित्य आराधना करता है।

प्रश्न—वह कैसा हो जाता है।

उत्तर—'सो मुच्चइ पंच देहेहिं' अर्थात् वही अन्तरात्मा मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—किनसे मुक्त हो जाता है ?

उत्तर--संसार-परिभ्रमणके करनेवाले पांच प्रकारके शरीरोंसे मुक्त हो जाता है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण इन पांच शरीरोंको देह कहते हैं।

रागाद्यज्ञानभावोपार्जितकर्मजनितमूर्तत्व-जडत्वरूपपञ्चदेहाद् विलक्षणाशरीरामूर्तानन्तज्ञानाद्यनन्त-गुणात्मकरूपः सिद्धोऽशरीरी भवतीति ज्ञात्वा ज्ञान-वैराग्येन भाव्यं भवितव्यं भव्यजीवैरिति भावः ॥४९॥

अथ ज्ञान-वैराग्यभावनां नाटयति--

मूलगाथा—जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणियं तवसा ।
सयमागयं च तं जइ सो लाहो णत्थि संदेहो ॥५०॥

संस्कृतच्छाया--यद्भवति भोक्तव्यं कर्मोदयस्य आनीय तपसा ।
स्वयमागतं च तद् यदि स लाभो नास्ति सन्देहः ॥५०॥

टीका--'जं होइ' इत्यादि, 'जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणियं तवसा' द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मातीतातीन्द्रियानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणमयमूर्तिभरात्मनो विलक्षणं यत्कर्म मोक्षसुखा-भिलाषिणा मया बाह्याभ्यन्तरद्वादशविधतपसोदयमानीय भोक्तव्यं भवति, तत्कथम्भूतम् ? 'सय-

---

आगैं कहैं हैं--जो कर्म उदयमें तपकरि लाइए है सो स्वयमेव उदय आया सो बड़ा लाभ है—

भा० व०—जो कर्म तपकरि उदयमें ल्यायकरि भोगना था सो कर्म जो स्वयमेव उदयमें आया सो बड़ा लाभ जाननां, संदेह नांही। भोगना जोग्य है ॥५०॥

'शद्-लृ' धातुका अर्थ सड़ना गलना है। 'पत्लृ' धातुका अर्थ गिरता है। 'जरा' का अर्थ जीर्ण होना है। शरीरमें सड़न-गलन, पतन और जीर्ण दशा प्रत्यक्ष दिखाई देती है। जब कोई भव्य जीव मिथ्यात्व, रागादिभाव और अज्ञानभावसे उपार्जित कर्मोंसे उत्पन्न हुए इस मूर्तत्व, जड़त्वरूपसे पंचदेहसे भिन्न अपनी शुद्ध आत्माका ध्यान करता है, तब वह उक्त पंचदेहसे विलक्षण अशरीरी, अमूर्त्त, अनन्तज्ञानादि रूप अनन्त गुणोंसे युक्त अशरीरी सिद्ध हो जाता है। ऐसा जान-कर भव्य जीवोंको ज्ञान-वैराग्यके साथ आत्माकी भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥४९॥

अब सूत्रकार देवसेनाचार्य ज्ञान और वैराग्यभावनाका लाभ बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जं) जो (कम्मं) कर्म (तवसा) तपके द्वारा (उदयस्स) उदयमें (आणियं) लाकर (भुंजियव्वं) भोगनेके योग्य (होइ) होता है, (तं) वह (जइ) यदि (सयं) स्वयं (आगयं) उदयमें आ गया है (सो) वह (लाहो) बड़ा भारी लाभ है। इसमें कोई (संदेहो) सन्देह (णत्थि) नहीं है।

टीकार्थ—'जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणियं तवसा' इत्यादि गाथाका अर्थ-व्याख्यान करते हैं--द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित अतीन्द्रिय, अनन्तज्ञानादिरूप अनन्त गुणमयी मूर्त्तिवाले आत्मासे विलक्षण जो कर्म है वह मोक्षसुखाभिलाषी मुझे बाह्य और आभ्यन्तर बारह प्रकारके तप-द्वारा उदयमें लाकर भोगनेके योग्य हैं।

प्रश्न--फिर वह कर्म कैसा है !

उत्तर--'सयमागयं च तं जइ' अर्थात् यदि वह कर्म तत्त्वके जानकार मेरे स्वयं उदयमें आ गया है।

मागयं च तं जइ' यदि चेत्तत्पूर्वोक्तमेव कर्म स्वयमुदयमागतं मम ज्ञाततत्त्वस्य। तदा किमभूत्? सो लाहो णत्थि संदेहो' स एवापूर्वो लाभः, सन्देहो भ्रान्तिर्वा नास्ति। कस्मात्? परम्परया परमात्मतत्त्वोपलब्धिभाक्। ततः पूर्वोपार्जितशुभाशुभकर्मण्युदयागते समभावेन भाव्यं भव्यजीवेनेति भावार्थः ॥५०॥

अथ पुनरपि शुभाशुभकर्मणां फलमुपभुञ्जानः सन् यो रागद्वेषं न करोति सोऽभिनवकर्माणि न बध्नातीत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य परमाराध्याचार्यश्रीदेवसेनदेवाः सूत्रमिदं प्रतिपादयन्ति—

मूलगाथा—भुंजंतो कम्मफलं कुणइ ण रायं तह य दोसं च।
सो संचियं विणासइ अहिणवकम्मं ण बंधेइ ॥५१॥

संस्कृतच्छाया—भुञ्जानः कर्मफलं करोति न रागं तथैव द्वेषं च।
स सञ्चितं विनाशयत्यभिनवं कर्म न बध्नाति ॥५१॥

टीका—'भुंजंतो कम्मफलं' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण टीकाकारेण व्याख्यानं क्रियते—'भुंजंतो कम्मफलं कुणइ ण रायं तह य दोसं च' यः कश्चित् स्वसंवेदनज्ञानी स्वशुद्धात्मस्वभाव-

---

आगैं कहैं हैं—उदयमें आया जो कर्मकूं भोगता राग द्वेष नांहीं करै है, ताकैं पूर्व-संचित तौ कर्म नष्ट होय है, अर नवीन कर्म नाहीं बंधै हैं—

भा० व०--कर्मफलकूं भोगता राग नांही करै है, तैसैं ही द्वेष हू नांही करै है, सो मुनि संचय कीया पूर्व कर्मकूं विनाश करै है, अर नवीन कर्मकूं नांही बांधै है। भावार्थ=साता वेदनीय कर्मका उदयकरि प्राप्त भया सुख ताविषैं रागी नांही होय है, अर असाता कर्मका उदयकरि प्राप्त भया दुःखकूं भोगता दुःख नांही मानै है। ते ही वीतरागी मुनि चिरकाल संचित कर्मकूं तो नाश करैं हैं, अर रागरूप चिक्कणासके अभावतैं नवीन बंध नांही करै है। सिद्धान्त ऐसा है रागी कर्मनिकूं बांधै है, वीतरागी कर्मनितैं छूटै है। यो ही जिनेन्द्रका मतका संक्षेप जानना बंध-मोक्षका ॥५१॥

प्रश्न--तो क्या हुआ?

उत्तर—'सो लाहो णत्थि संदेहो' अर्थात् वही मेरे अपूर्व लाभ हुआ है, ऐसा जानना चाहिए, इसमें कोई सन्देह या भ्रान्ति नहीं है। क्योंकि ऐसे विचारसे आत्मा परम्परया परमात्मतत्त्वकी उपलब्धिवाला होता है।

इसलिए पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ कर्मका उदय आनेपर भव्यजीवको समभाववाला होना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५०॥

अब फिर भी शुभ-अशुभ कर्मोंके फलको भोगता हुआ जो पुरुष राग-द्वेष नहीं करता है, वह नवीन कर्मोंको नहीं बांधता है, यह अभिप्राय मनमें धारणकर परम आराध्य आचार्यश्रीदेवसेनदेव यह वक्ष्यमाण सूत्र प्रतिपादन करते हैं--

अन्वयार्थ—जो भव्य जीव (कम्मफलं) कर्मोंके फलको (भुंजंतो) भोगता हुआ (ण रायं) न रागको (तह य) और (दोसं च) न द्वेषको (कुणइ) करता है (सो) वह (संचियं) पूर्व संचित कर्मको (विणासइ) विनष्ट करता है और (अहिणवकम्मं) नवीन कर्मको (ण बंधेइ) नहीं बांधता है।

टीकार्थ—'भुंजंतो कम्मफलं' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते हैं—जो कोई स्वसंवेदन ज्ञानी अपने शुद्ध आत्मस्वभावकी भावनासे रहित होकर रागादि विषय-कषायसे सहित

भावनारहितेन मिथ्यात्व-रागादिविषय-कषायसहितेन जीवेन पुरा स्वयमुपार्जितशुभाशुभकर्मफलं भुञ्जानः सन् रागं न करोति, केवलं रागं न करोति किमु तथैव द्वेषं न करोति। स किं करोति ? 'सो संचियं विणासइ अहिणवकम्मं ण बंधेइ' स एव ध्याताऽऽत्माराधकः पूर्वसञ्चितं पूर्वोपार्जित-ज्ञानावरणादिकर्म उदयागतमनुदयागतं वा कर्म विनाशयति निर्जरयति। न केवलं सञ्चितं विनाशयति, अपि त्वभिनवं अभि समन्तान्नवीनमभिनवमपि कर्म नैव बध्नाति, जलानलवत्, तमःप्रकाशवद्वा ज्ञानाज्ञानयोरन्योन्यविरोधादिति ज्ञानमाहात्म्यं ज्ञात्वा तदेव स्वसंवेदनज्ञान-मुपादेयमिति भावार्थः ॥५१॥

अथ स एव पूर्वोक्तध्याता यदि कर्मफलं भुञ्जानोऽशुद्धं भावं करोति तदा कर्मणां कर्ता भवतीति दर्शयति—

मूलगाथा—भुंजंतो कम्मफलं भावं मोहेण कुणइ सुहमसुहं।
जइ तो पुणो वि बंधइ णाणावरणादि अट्ठविहं ॥५२॥

संस्कृतच्छाया—भुञ्जानः कर्मफलं भावं मोहेन करोति शुभमशुभम्।
यदि तदा पुनरपि बध्नाति ज्ञानावरणाद्यष्टविधम् ॥५२॥

आगैं कर्मका फल भोगता मोहकरि सुख-दुःखभाव करै है सो आठ प्रकार ज्ञानावरणादिक कर्मबंध करै है, ऐसैं कहै हैं—

भा० व०—कर्म-फल कूं जो भोगता मोहकर्म करि शुभ-अशुभ भावकूं करै है सो बहुरि ज्ञानावरणादिक आठ प्रकार कर्म बंधकूं बांधै है ॥५२॥

होकर जीवके द्वारा पूर्वकालमें स्वयं उपार्जित शुभ और अशुभ कर्मोंके फलको भोगता हुआ रागको नहीं करता है, केवल रागको ही नहीं करता, किन्तु उसी प्रकार द्वेषको भी नहीं करता है।

प्रश्न—वह क्या करता है ?

उत्तर—'सो संचियं विणासइ अहिणवकम्मं ण बंधेइ' अर्थात् वही आत्माका आराधक ध्यान करनेवाला पुरुष पूर्वसंचित अर्थात् पूर्वकालमें उपार्जित ज्ञानावरणादि कर्मको—वे चाहे उदय-में आ रहे हों, अथवा उदयमें नहीं आ रहे हों, विनष्ट करता है, उसकी निर्जरा करता है। वह न केवल संचित कर्मको ही नष्ट करता है, अपि तु सर्व ओरसे आनेवाले नवीन कर्मको भी नहीं बांधता है, क्योंकि जल और अग्निके समान, अथवा अन्धकार और प्रकाशके समान ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है। इस प्रकार ज्ञानका माहात्म्य जानकर भव्यजीवोंको वही स्वसंवेदन ज्ञान उपादेय है, अतः उसीकी निरन्तर उपासना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५१॥

अब यदि वही पूर्वोक्त ध्याता पुरुष कर्म-फलको भोगते हुए अशुद्ध भाव अर्थात् राग-द्वेष करता है तो वह कर्मोंका कर्ता होता है, यह दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(कम्मफलं) कर्मोंके फलको (भुंजंतो) भोगता हुआ अज्ञानी पुरुष (जइ) यदि (मोहेण) मोहसे (सुहमसुहं) शुभ और अशुभ (भावं) भावको (कुणइ) करता है, (तो) तब (पुणो वि) फिर भी वह (णाणावरणादि) ज्ञानावरणादि (अट्ठविहं) आठ प्रकारके कर्मको (बंधइ) बांधता है।

टीका—तथाहि–'भुंजंतो' इत्यादि, यदि चेत् स एव योगी ध्याता पुरार्जितशुभाशुभविपाकाश्रितकर्मफलं भुञ्जानः सन् निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वाद्विलक्षणेन मोहेन शुभं शुभोपयोगरूपं अशुभमशुभोपयोगरूपं वा भावं परिणामं करोति, 'तो पुणो वि बंधइ' तदा पुनरपि बध्नाति। किं तत् ? 'णाणावरणादि अट्ठविहं' मतिज्ञानादिपंचप्रकारं ज्ञानामावृणोतीति ज्ञानवरणमादिर्यस्य तज्ज्ञानावरणादि। पुनः किं विशिष्टमष्टविधमष्टप्रकारं कर्म संचिनुते निर्मोहशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मनो विपरीतान्मोहोदयादिति मत्वा स एव मोहस्त्याज्यो भवतीति भावार्थः ।।५२।।

अथ यावद्योगी सूक्ष्ममपि रागं न मुञ्चति तावन्मुक्तो न भवतीति प्रतिपादयति—

मूलगाथा—परमाणुमित्तरायं जाम ण छंडेइ जोइ समणम्मि।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणओ समणो ।।५३।।

संस्कृतच्छाया—परमाणुमात्रं रागं यावन्न मुञ्चति योगी स्वमनसि।
स कर्मणा न मुच्यते परमार्थविज्ञायकः श्रमणः ।।५३।।

आगैं कहैं हैं—जितने परमाणूमात्र भी राग है तितने कर्मनिकरि नांही छूटै है—

भा० व०—योगीजननें स्व-मन विषैं परमाणुमात्र राग नांही छोड़ै है सो श्रमण कहिए मुनि कर्मनिकरि नांही छूटै है। कैसा मुनि ? परमार्थका जाननेवाला। भावार्थ-जितने काल राग जो वीतराग सर्वज्ञका तत्त्वसूं विलक्षण कहिए विपरीत मिथ्यात्वका उदयकरि उपज्या राग परिणामकूं नांही त्यजै है। कितनाक राग ? परमाणूमात्र हू। अणु शब्द करि सूक्ष्म जाननां;

टीकार्थ—'भुंजंतो कम्मफलं' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—यदि वही ध्यान करनेवाला योगी पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ विपाकके आश्रित कर्मफलको भोगता हुआ मोह-रहित शुद्ध आत्मतत्त्वसे विलक्षण मोहसे शुभ—शुभोपयोगरूप, अथवा अशुभ—अशुभोपयोगरूप भाव—परिणामको करता है 'तो पुणो वि बंधइ' तब वह फिर भी बांधता है।

प्रश्न—किसे बांधता है ?

उत्तर—'णाणावरणादि अट्ठविहं' अर्थात् मतिज्ञानादि पांच प्रकारके ज्ञानको जो आवृत या आच्छादित करता है, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। ऐसा ज्ञानावरण है आदिमें जिसके ऐसे आठ प्रकारके कर्मको बांधता है अर्थात् नवीन कर्मोंका संचय करता है।

प्रश्न—किसके निमित्तसे बांधता है ?

उत्तर—मोह-रहित शुद्ध-बुद्धैक स्वभाववाले परमात्मासे विपरीत मोहके उदयसे बांधता है, ऐसा जानकर वह मोह ही त्यागनेके योग्य है। यह इस गाथाका भावार्थ है ।।५२।।

अब जबतक योगी सूक्ष्म भी रागको नहीं छोड़ता है तब तक वह कर्मोंसे मुक्त नहीं होता है, यह सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जाम) जबतक (जोई) योगी (समणम्मि) अपने मनमेंसे (परिमाणुमित्तरायं) परमाणुमात्र भी रागको (ण छंडेइ) नहीं छोड़ता है, तबतक (परमट्ठवियाणओ) परमार्थका ज्ञायक भी (स समणो) वह श्रमण (कम्मेण) कर्मसे (ण मुच्चइ) नहीं छूटता है।

टीका—'परमाणुमित्तरायं जाम ण छंडेइ' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण मुनिना वृत्तिकारेण व्याख्यानं क्रियते--यावत्कालं रागं वीतरागसर्वज्ञतत्त्वविलक्षणमिथ्यात्वोदयजनितं रागपरिणामं न त्यजति न मुञ्चति। कियन्तं रागम्? परमाणुमात्रमपि, अणुशब्देन सूक्ष्मत्वमुच्यते, मात्रशब्देन प्रमाणं च, अणुरेव मात्रा यस्य स अणुमात्रः, परमश्चासावणुमात्ररागश्च परमाणुमात्ररागस्तं परमाणुमात्ररागम्। कोऽसौ न मुञ्चति? 'जोई' योगी ध्यानी ध्याता। क्व? 'समणम्मि' स्वमनसि स्वचित्ते। सो कम्मेण ण मुच्चइ, स एव योगी पूर्वोपार्जितकर्मभिर्न मुच्यते न त्यज्यते। स कथम्भूतः सन्? 'परमट्ठवियाणओ समणो' स श्रमणो यतिः परमार्थविज्ञायकः, अर्थशब्देनार्थाः पदार्थाः कथ्यन्ते, परोत्कृष्टा मा लक्ष्मीर्यस्यासौ परमः, परमश्चासावर्थश्च परमार्थः। अथवा परमार्थो वस्तुस्वरूपं तं परमार्थं विशेषेण जानातीति परमार्थविज्ञायकोऽपि रागी चेत्तदा मोक्षं

मात्र शब्दकरि परमाणु अणु ही हैं प्रमाण जाका, सो अणुमात्र जाननां। परम इसो जो अणुमात्र राग सो परमाणु मात्र राग जाननां। कौन नांही छांडै है? योगी ध्यानी ध्याता। कुठै? स्व कहिए अपने मनविषैं। सो योगी पूर्वोपार्जितकर्मनिकरि नांही छूटिए है। कैसा भया संता? सो श्रमण जो यति मुनि परमार्थका जाननेवाला। अर्थ शब्दकरि अर्थ जे पदार्थ कहिए है। परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मी है जाकें, सो परम कहिए। परम ऐसा जो अर्थ सो परमार्थ कहिए। अथवा परमार्थ वस्तुस्वरूप, परमार्थ विशेषपणाकरि जानै सो परमार्थ-विज्ञायक हू जाननेवाला हू ॥५३॥

टीकार्थ—'परमाणुमित्तरायं जाम ण छंडेइ' इत्यादि गाथाके अर्थका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—जितने कालतक वीतराग सर्वज्ञ-प्रणीत तत्त्वसे विपरीत मिथ्यात्वके उदय-जनित राग-परिणामको नहीं त्यागता है, नहीं छोड़ता है।

प्रश्न—कितने रागको नहीं छोड़ता है?

उत्तर—परमाणुमात्र भी रागको नहीं छोड़ता है। अणुशब्दसे सूक्ष्मता कही गई है और मात्र शब्दसे प्रमाण। अणु ही है मात्रा जिसकी वह अणुमात्र कहलाता है। ऐसे परम अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म अणुप्रमाण भी रागको जो नहीं छोड़ता है।

प्रश्न—कौन नहीं छोड़ता है?
उत्तर—'जोई' अर्थात् ध्यान करनेवाला योगी।

प्रश्न—कहां नहीं छोड़ता है?
उत्तर—अपने मनमें नहीं छोड़ता है?

'सो कम्मेण ण मुच्चइ' वह योगी पूर्वोपार्जित कर्मोंसे नहीं छूटता है, नहीं मुक्त होता है।
प्रश्न—कैसा होता हुआ भी योगी कर्मोंसे नहीं छूटता है?
उत्तर—'परमट्ठवियाणओ समणो' अर्थात् जो परमार्थका विज्ञायक श्रमण योगी है।

परमार्थ यह शब्द परम और अर्थ इन दो शब्दोंके योगसे बना है। अर्थ शब्दसे जीवादि पदार्थ कहे गये हैं। 'परा' शब्द उत्कृष्टका वाचक है और 'मा' शब्द लक्ष्मीका वाचक है। ऐसी उत्कृष्ट लक्ष्मी जिसके पाई जावे उसे परम कहते हैं। ऐसा परम जो अर्थ है वह परमार्थ कहलाता है। अथवा परमार्थ नाम वस्तु-स्वरूपका है। उस परमार्थको जो विशेषरूपसे जानता है, उसे

न प्राप्नोति यतो रागद्वेषमोहरहितपुरुषविषयत्वात् । इति मत्वा नीरागात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुभूतिबलेन स रागो हेयो भवत्यासन्नभव्यजीवानाम्, नाभव्यानामिति तात्पर्यार्थः ॥५३॥

अथ ज्ञानिनः समसुखदुःखस्य कर्मणां निर्जराया हेतुस्तप इति प्रतिपादयति—

मूलगाथा— सुहदुक्खं पि सहंतो णाणी झाणम्मि होइ दिढचित्तो ।
हेऊ कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठं इमो भणिओ ॥५४॥

संस्कृतच्छाया—सुखदुःखमपि सहमानो ज्ञानी ध्याने भवति दृढचित्तः ।
हेतुः कर्मणस्तपो निर्जरार्थमिदं भणितम् ॥५४॥

टीका—'सुहदुक्खं' इत्यादि, तद्यथा—पूर्वोपार्जितशुभाशुभकर्मणां फलं सुखदुःखमपि समताभावनाबलेनानुभूयमानः सन् स एव स्वसंवेदनज्ञानी धर्मध्याने शुक्लध्याने च दृढचित्तो भवति यदा, तदा किं भवतीति पृष्टे सत्युत्तरमाह—'हेऊ कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठं इमो भणिओ' पूर्वोक्तानां ज्ञानावरणादिकर्मणां निर्जरणार्थमिदमेव तपो हेतुर्भणितं हेतुर्भूतं कारणं बीजमित्यभिधाने भणितमास्ते ।

आगैं कहै है—ज्ञानी सुख-दुःखकूं सहता हू तपविषैं दृढ़ चित्त होय तब कर्मनिकी निर्जरा होय है—

भा० व०—ज्ञानी सुख-दुःखनिकूं सहता हू ध्यानविषैं दृढ़चित्त होय है । इहां तप है सो कर्मकी निर्जराके अर्थि कह्या है । पूर्व ज्ञानावरणादि कर्मनिकी निर्जरा हेतु तप है ॥५४॥

परमार्थ-विज्ञायक कहते हैं । ऐसा परमार्थ-विज्ञायक भी रागी यदि योगी हो तो वह भी मोक्षको प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि मोक्ष तो रागद्वेष मोहसे रहित पुरुषका विषय है ।

ऐसा जानकर वीतराग आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूतिके बलसे वह राग निकट भव्य जीवोंको हेय है—त्यागनेके योग्य है; अभव्य जीवोंके नहीं । यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५३॥

अब सुख-दुःखमें समान रहनेवाले ज्ञानी पुरुषका तप कर्मोंकी निर्जराका कारण होता है, यह प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(सुह-दुक्खं पि) सुख-दुःखको भी (सहंतो) सहता हुआ (णाणी) ज्ञानी पुरुष जब (झाणम्मि) ध्यानमें (दिढचित्तो) दृढ़ चित्त (होइ) होता है, तब उसका (तपो) तप (कम्मस्स) कर्मकी (णिज्जरणट्ठं) निर्जराके लिए (हेऊ) हेतु होता है (इमो) ऐसा (भणिओ) कहा गया है ।

टीकार्थ—'सुह-दुक्खं पि सहंतो' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं—पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ कर्मोंके फल सुख-दुःखको भी समता-भावनाके बलसे अनुभव करता हुआ वही स्वसंवेदन-ज्ञानी जब धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें दृढ़चित्त होता है, तब क्या होता है ? ऐसा पूछने पर सूत्रकार आचार्य उत्तर देते हैं—

'हेऊ कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठं इमो भणिओ' अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानावरणादि कर्मोंकी निर्जराके लिए यही तप हेतुभूत कारण या बीज कहा गया है । शब्दकोशमें हेतु, कारण और बीज ये एकार्थ-वाचक कहे गये हैं ।

अत्रावसरेऽत्यासन्नभव्योऽमरसिंहः पृच्छति—भो भट्टारक श्रीपंकजकीर्ते ! तत्तपः किं विशिष्टमिति परिहारमाह—तथा च—बाह्याभ्यन्तरभेदेन तद् द्विविधम् । तत्र बाह्यं षड्विधम् । कथम् ? अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाख्यं षड्विधं बाह्यं तपः ।

तत्रान्नपानखाद्यस्वाद्यभेदेन चतुर्विधाहाराभावाख्यमनशनं तपः । न अशनं अनशनमुपवासः, चतुर्थ-षष्ठाष्टम-दशम-द्वादश-चतुर्दश-पक्ष-मास-द्विमास-त्रिमास-चतुर्मास-पंचमास-षण्मास-वर्षोपवास-पर्यन्तं यत्र क्रियते तदनशनं नाम बाह्यं तपः १ ।

द्वितीयमवमोदर्याख्यं तपः । तथाहि—ग्रासैकेन हीनमशनं जघन्यम् । यत्र ग्रासमेकमात्रं भुज्यते तदवमोदर्यमुत्कृष्टं बाह्यं तपः २ ।

एकगृहाद्यर्धग्रामपर्यन्तं भिक्षानिमित्तं यद् भ्रम्यते लाभेऽलाभे च तद् वृत्तिपरिसंख्यानं तृतीयं बाह्यं तपः ३ ।

एकरसादिषड्रसपर्यन्तं परित्यज्यते यत्र तद् रसपरित्यागाख्यं चतुर्थं तपः ४ ।

इस अवसरमें अति निकट भव्य अमरसिंह पूछते हैं—हे भट्टारक श्रीकमलकीर्त्ति ! वह तप किस प्रकारका है ? टीकाकार उसका उत्तर देते हुए कहते हैं—वह तप बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है । उनमें बाह्य तप छह प्रकारका है ।

प्रश्न—वे छह भेद कौनसे हैं ?

उत्तर—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तपके भेद हैं ।

उनमें अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्यके भेदसे चार प्रकारके आहारका त्याग करना अनशन तप है । अशन नाम भोजनका है, अशन नहीं करनेको अनशन अर्थात् उपवास कहते हैं । वह उपवास चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, चतुर्दश, पक्ष, मास, द्विमास, चतुर्मास, षण्मास और वर्षपर्यन्त जिस तपमें किया जावे, वह अनशन नामका पहिला बाह्य तप है १ ।

दूसरा अवमोदर्य नामका बाह्य तप है । (मनुष्यका भोजन ३२ ग्रासप्रमाण और स्त्रीका भोजन २८ ग्रासप्रमाण कहा गया है ।) उक्त प्रमाणभोजनमेंसे एक ग्राससे हीन भोजन करना जघन्य अवमोदर्य तप है । तथा जब एक ग्रासमात्र भोजन किया जाता है, वह उत्कृष्ट अवमोदर्य बाह्य तप है । (दो, चार, आठ आदि ग्राससे हीन भोजन करना मध्यम अवमोदर्य तप जानना चाहिए ।) २ ।

एक घरको आदि लेकर आधे गांवतक भिक्षाके निमित्त परिभ्रमण करना, आहारका लाभ होनेपर उसे ग्रहण करना और लाभ नहीं होनेपर वापिस लौट आना, यह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तीसरा बाह्य तप है ३ ।

दूध, दही, घी, मीठा, तेल और नमक इन छह रसोंमेंसे एकको आदि लेकर छह रस तक का त्याग जिसमें किया जावे, वह रसपरित्याग नामका चौथा तप है ४ ।

स्त्रीपुन्नपुंसकतिरश्चादिवर्जितस्थाने यत्र स्थीयते यतिनाथवद् भिन्नत्वेन शय्यासनत्वेनापि, तद्विविक्तशय्यासनाख्यं पंचमं बाह्यं तपः ५ ।

वर्षाशीतोष्णकालोद्भवपरीषहोपसर्गाद्यातापनयोगैर्यत्र क्लिश्यते तत्कायक्लेशाभिधं षष्ठं बाह्यं तपः ६ । इति षड्विधं बाह्यं तपः ।

अथाभ्यन्तरतपःकथनमाह—प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानानीति । तथाहि—वर्तमानकालकृतापराधेन जीवेन देवस्याग्रे गुरोरग्रे चालोच्यते निवेद्यते (स्वागः) तदालोचनम् १ । अतीतकालापेक्षया कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणम् २ । आलोचन-प्रतिक्रमणाभ्यां निराकरणं क्रियते तदुभयम् ३ । कृतापराधे सत्यात्मानं परं विवेचनं पृथक्करणं विवेकः ४। शरीरादिपरद्रव्यं व्युत्सर्ज्यते त्यज्यते व्युत्सर्गः ५ । पूर्वोक्तप्रकारेण बाह्याभ्यन्तरं तपः ६ । कृतापराधे सति दिन-पक्ष-मास-वर्षादिभेदेन छिद्यते लघुः क्रियते छेदः ७ । कृतापराधस्य परिहरणं परिहारः

स्त्री, पुरुष, नपुंसक और तिर्यंच आदिसे रहित एकान्त शान्त स्थानमें मुनिनाथके समान बैठना और सबसे भिन्न संस्तर पर शयन करना सो वह विविक्तशय्यासन नामका पांचवां बाह्य तप है ५।

वर्षाकाल, शीतकाल और उष्णकालमें उत्पन्न होनेवाले परीषह, उपसर्गादि तथा आतापनयोगादिके द्वारा जो शारीरिक कष्ट सहे जाते हैं, उसे कायक्लेश नामका छठा बाह्य तप कहते हैं ६। इस प्रकार ये छह बाह्य तप हैं।

अब आभ्यन्तर तपोंका कथन करते हैं—आभ्यन्तरतप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह प्रकारका है।

इनका विवरण इस प्रकार है—पहिला आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त है। (अपने किये गये अपराधको स्वीकार कर गुरु-प्रदत्त दण्डको स्वीकार करना प्रायश्चित्त कहलाता है।) वह नौ प्रकारका कहा गया है। वर्तमान काल में किये गये अपने अपराधको देवके आगे, या गुरुके आगे निवेदन करना आलोचना नामका पहिला प्रायश्चित्त है १। अतीत कालकी अपेक्षा किये हुए दोषोंका निराकरण करना प्रतिक्रमण नामका दूसरा प्रायश्चित्त है २। वर्तमान और भूतकालमें किये गये दोषोंका आलोचन और प्रतिक्रमणके द्वारा निराकरण करना तदुभयनामका तीसरा प्रायश्चित्त है ३। किसी गुरुतर अपराधके किये जानेपर अपनेको दूसरेसे पृथक् करना विवेक नामका चौथा प्रायश्चित्त है ४। किसी और भी बड़े अपराधके होनेपर गुरुके द्वारा जो शरीर आदि परद्रव्यका त्याग कराया जाता है, वह व्युत्सर्ग नामका पांचवां प्रायश्चित्त है ५। अपराध विशेषके होनेपर गुरु-प्रदत्त पूर्वोक्त प्रकारके बाह्य और आभ्यन्तर तपोंका यथाविधि पालन करना तपनामका छठा प्रायश्चित्त है ६। किसी महान् अपराधके होनेपर दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदिके भेदसे जो गुरु-द्वारा दीक्षाका छेद कर दिया जाता है और उसको साधु-पर्यायको लघु कर दिया जाता है, वह छेद नामका सातवां प्रायश्चित्त है ७। किसी और भी महान् अपराधके होनेपर संघसे बाहिर कर देना परिहार नामका आठवां प्रायश्चित्त है ८। परिहार या संघ-बहिष्कारसे भी जिसकी शुद्धि न हो सके ऐसे और भी गुरुतर अपराधके होनेपर कुछ दिनों तक संघसे बाहिर रखनेके पश्चात् पूर्व दीक्षाको सर्वथा छेदकर उस साधुको पुनः महाव्रतोंमें उपस्थित कर नवीन

८। तथैव कृतापराधः कश्चिद्यतिरुपस्थाप्यत इत्युपस्थापना ९। इति नवप्रकारप्रायश्चित्तनामाऽभ्यन्तरं तपः १।

सम्यग्दर्शनविनयो ज्ञानविनयश्चारित्रविनयस्तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां विनय उपचारविनय इति चतुर्विधं विनयाख्यमाभ्यन्तरं द्वितीयं तपः २।

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानामिति तत्त्वार्थोक्तदशभेदभक्तिपूर्वं वैयावृत्त्यं नाम तृतीयमाभ्यन्तरं तपः ३। तथा चोक्तं तत्त्वार्थवृत्तिग्रन्थे श्रीपूज्यपाददेवैरिति।

निश्चयेन शुद्ध-बुद्धचिदानन्दस्वरूपात्मतत्त्वे रुचिरूपं दर्शनं संवित्तिरूपं ज्ञानं समनुभवनं चारित्रम्। तत्रैव प्रतपनं तपः, शक्त्यनवगूहनं वीर्यमिति पंचाचारान् निश्चय-व्यवहारानाचरन्ति स्वयं परान् शिष्यजनानाचारयन्तीत्याचार्याः १। मोक्षार्थशास्त्रमुपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः २। महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी ३। शिक्षाशीलः शैक्षः ४। रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः ५। स्थविरसन्ततिर्गणः ६। दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः कुलम् ७। चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संघः। ऋषियतिमुन्यनगारनिवहो मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकानिवहो वा संघः ८। चिरकालप्रव्रजितः साधुः ९। मनोज्ञो लोकसम्मतः १०। विभवाविनाशार्थं तावदनुष्ठानादिभिधर्मोपकरणसंयमसाधकैः सम्यक् स्थापनं च प्रतिकारो वैयावृत्त्यम्। बाह्यद्रव्याभावे कायेन वा पित्त-श्लेष्माद्यन्तर्म-

---

दीक्षा देना सो उपस्थापना नामका नौवां प्रायश्चित्त है ९। यह नौ प्रकारका प्रायश्चित्त नामका प्रथम आभ्यन्तर तप है १।

मानकषायको छोड़कर विनम्र भावको धारण करना विनय कहलाता है। यह विनय तप चार प्रकारका है—सम्यग्दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तथा इनके आराधक आचार्य, उपाध्याय और साधुओंकी विनय करना उपचार विनय, इन चार भेदरूप, विनय नामका दूसरा आभ्यन्तर तप है २।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन तत्त्वार्थ सूत्र-कथित दश प्रकारके साधुओंकी भक्तिपूर्वक सेवा-टहल करना सो वैयावृत्त्य नामका तीसरा आभ्यन्तर तप है ३। जैसा कि श्री पूज्यपाददेवने तत्त्वार्थवृत्ति नामक सर्वार्थसिद्धि ग्रंथमें इनका स्वरूप कहा है, वह यहां कहा जाता है—

निश्चयनयसे शुद्ध-बुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वमें रुचिरूप दर्शन, संवित्तिरूप ज्ञान, अनुभवरूप चारित्र, उसी चारित्रमें क्लेश-कष्टादिके सहनरूप तप और उसमें आत्मशक्ति नहीं छिपाना वीर्य कहलाता है। इन पांच प्रकारके निश्चय और व्यवहार आचारोंको जो स्वयं आचरण करते हैं और अन्य शिष्यजनोंको आचरण कराते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं १। समीप जाकर जिनसे मोक्ष-विषयक शास्त्र पढ़े जाते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं २। महान् उपवास आदि करनेवाले साधुको तपस्वी कहते हैं ३। शास्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करनेवाले साधुको शैक्ष्य कहते हैं ४। रोग आदिसे पीड़ित शरीरवाले साधुको ग्लान कहते हैं ५। वृद्ध साधुओंकी परम्पराको गण कहते हैं ६। दीक्षा देनेवाले आचार्यकी शिष्य-परम्पराको कुल कहते हैं ७। ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार वर्णके साधु-समुदायको संघ कहते हैं। अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक

लापकर्षणादिस्तदनुकूलानुष्ठानं च वैयावृत्यम् । वैयावृत्यकरणे समाध्याधान-प्रवचनवात्सल्यादिर्भवति ।

वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नाय-धर्मोपदेशा इति पंचप्रकारस्वाध्यायरूपं चतुर्थमाभ्यन्तरं तपः ४। उक्तं च तत्रैव विस्तारेण—निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना १। संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छना २। अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा ३। घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः ४। धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः ५। स एष पञ्चविधः स्वाध्यायः किमर्थः ? प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः परमसंवेगस्तपोवृद्धिरतीचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः ।

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः । स द्विविधः—बाह्योपधित्यागः १ अभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति २। अनुपात्तं वास्तु-धनधान्यादि बाह्योपधिः । क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः । कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा बाह्याभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते । स किमर्थः ? निःसङ्गत्व-निर्भयत्व-जीविताशाव्युदासार्थः । इति व्युत्सर्गाख्यमाभ्यन्तरं पञ्चमं तपः ५।

और श्राविकाके समुदायको भी संघ कहते हैं ८। चिरकालके दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं ९। लोकमें सन्मान-प्राप्त साधुको मनोज्ञ कहते हैं १०।

अपने वैभवके अविनाश या सदुपयोगके लिए धार्मिक अनुष्ठान आदिके द्वारा और साधुजनोंको धर्मके उपकरण और संयमके साधक पीछी, कमण्डलु और शास्त्र आदि देकर उन्हें संयममें सम्यक् प्रकार स्थापित करना और उनके बीमार होनेपर रोगादिका प्रतीकार करना वैयावृत्य कहलाता है। बाहिरी धनादि द्रव्यके अभावमें शरीरके द्वारा रोगी साधु आदिके शरीरसे पित्त, कफ आदि अन्तर्मलको दूर करना और उनके अनुकूल आचरण करना भी वैयावृत्य तप कहलाता है। इस वैयावृत्यके करनेपर साधुके चित्तमें समाधि प्राप्त होती है और वैयावृत्य करनेवालेका प्रवचनवात्सल्य आदि प्रकट होता है।

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे पांच प्रकारका स्वाध्याय चौथा आभ्यन्तर तप है ४। उसी तत्त्वार्थवृत्ति ग्रंथमें इन पांचोंका विस्तारसे स्वरूप इस प्रकार कहा है—शास्त्रके निर्दोष ग्रंथ, अर्थ और दोनोंका प्रदान करना वाचना है १। तत्त्वके विषयमें उत्पन्न हुए संशयके दूर करनेके लिए अथवा अपने जाने हुए विषयके और भी दृढ़ करनेके लिए गुरुजनोंसे प्रश्न करना पृच्छना है २। पढ़े हुए अर्थका मनसे पुनः-पुनः अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है ३। शुद्ध उच्चारण करते हुए पाठ-परावर्तन करना आम्नाय है। धार्मिक कथाएं आदि कहकर धर्मका उपदेश देना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है।

शंका—यह पांच प्रकारका स्वाध्याय किसलिए करना चाहिए ?

उत्तर—बुद्धिके अतिशयके लिए, प्रशस्त अध्यवसायके लिए, परम संवेगके लिए, तपकी वृद्धिके लिए और अतीचारोंकी निवृत्ति आदिके लिए स्वाध्याय तप करना चाहिए।

बाहिरी और भीतरी उपधिके त्यागको व्युत्सर्ग तप कहते हैं। वह दो प्रकारका है—बाह्य उपधि त्याग और अभ्यन्तर-उपधित्याग। साधुके द्वारा नहीं ग्रहण किये गये भवन, धन, धान्यादिक बाह्य उपधि हैं। क्रोधादि आत्माके विकारी भाव अभ्यन्तर उपधि हैं। इन दोनों प्रकारकी उपधिका त्याग व्युत्सर्ग तप है। अथवा नियत काल तक या जीवनपर्यन्त कायका त्याग करना बाह्य और आभ्यन्तर उपधित्याग कहा जाता है।

उत्तमसंहननस्यैकाग्र्यचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् । आदिसंहननत्रितयमुत्तमम् । वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराचसंहननमिति तत्त्रयमपि ध्यानस्य साधनं भवति । मोक्षस्य तु आद्यमेव संहननं प्रोक्तं नान्यद् । इत्येवंविधेन बाह्याभ्यन्तररूपेण तपसा कर्मणां निर्जरा भवतीत्यागमवचनादिति । भोः श्री अमर्त्यसिंह, संसार-शरीर-भोगनिर्विण्ण ! इति मत्वा सर्वज्ञवीतरागदेवोक्तद्वादशविधे तपसि भावना कर्तव्येति तात्पर्यार्थः ॥५४॥

अथ निश्चयसंवर-निर्जरयोः स्वरूपं प्रतिपादयन्त्यग्रे श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—ण मुएइ सगं भावं ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं ।
जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥५५॥

संस्कृतच्छाया—न मुञ्चति स्वकं भावं न परं परिणमति मनुते आत्मानम् ।
यो जीवः संवरणं निर्जरणं स स्फुटं भणितः ॥५५॥

आगैं निर्जरा संवरका कारण कहै हैं—

भा० व०—जो निर्विकल्प समाधिकूं प्राप्त भया जीव है सो छोड़ै हैं, नांही त्यजै है। कौन कूं ? भावकूं । कैसा भाव ? स्वकीय आपका भाव। अर पर रागादिक भावकूं नांही परणमै है, नांही तन्मय होय है । तो कहा करै है ? जानै है । अनुभव करै है । काहे कूं ? आत्मा कूं । आत्मस्वरूप ज्ञानमय संवर होय है, यह अध्याहार करना और मिलाना । सो ही जीव निर्जरा भणित कहिए कही । या प्रकार मानि सो आत्मा शुद्ध निश्चयनयकरि संवर निर्जरामय स्वरूप भावनां करना भव्यजननिनैं, या प्रकार अर्थ जाननां ॥५५॥

शंका—यह व्युत्सर्ग तप किसलिए किया जाता है ?

उत्तर—निःसंगता, निर्भयता और जीनेकी आशाके निराकरण करनेके लिए किया जाता है ।

इस प्रकार यह व्युत्सर्ग नामका पांचवां अभ्यन्तर तप है ५ ।

उत्तम संहननके धारक साधुका एकाग्र होकर चिन्ताओंका निरोध करना ध्यान कहलाता है । यह चिन्ता-निरोधरूप ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक होता है । वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराच संहनन ये आदिके तीन संहनन उत्तम कहलाते हैं, क्योंकि ये तीनों ही ध्यानके साधन हैं । किन्तु मोक्षका साधन तो आदिका वज्रवृषभनाराचसंहनन ही कहा गया है, अन्य नहीं ६ ।

इस प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तररूप तपके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा होती है, ऐसा आगमका वचन है । ऐसा जानकर संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हे अमरसिंह ! सर्वज्ञ वीतरागदेवके द्वारा कहे गये बारह प्रकारके तपमें तुम्हें भावना करनी चाहिए । यह इस गाथाका तात्पर्यरूप अर्थ है ॥५४॥

अब आगे श्रीदेवसेनदेव निश्चय संवर और निर्जराका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो जीवो) जो जीव (सगं) अपने (भावं) भावको (ण मुएइ) नहीं छोड़ता है, (परं) और पर पदार्थरूप (ण परिणमइ) परिणत नहीं होता है, किन्तु (अप्पाणं) अपने आत्माका (मुणइ) मनन, चिन्तन और अनुभवन करता है, (सो) वह जीव (फुडं) निश्चयनयसे (संवरणं) संवर और (णिज्जरणं) निर्जरारूप (भणिओ) कहा गया है ।

टीका—'जो जीवो' त्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं करोति टीकाकारः–'जो' यो निर्विकल्पसमाधिगतो जीवो न मुञ्चति न त्यजति। कम् ? भावम्। कथम्भूतम् ? 'सगं' स्वकीयमात्मीयं भावम्। 'ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं' परं रागादिभावं न परिणमति न तन्मयो भवति। तर्हि किं करोति ? मनुते जानात्यनुभवति। कम् ? आत्मानमात्मस्वरूपं ज्ञानमयम्। संवरणं संवरो भवतीत्यध्याहारः क्रियते। 'णिज्जरणं सो फुडं भणिओ' निर्जरणं निर्जरा। स एव जीवो निर्जरा भणितः स्फुटं यथा भवतीति मत्वा स एवात्मा शुद्धनिश्चयेन संवर-निर्जरास्वरूपो भावनीयो भव्यजनैरित्यर्थः ॥५५॥

टीकार्थ—'जो जीवो' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते हैं—जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित जीव नहीं छोड़ता है, नहीं त्याग करता है।

प्रश्न—किसे नहीं त्याग करता है ?

उत्तर—भावको नहीं त्याग करता है।

प्रश्न—कैसे भावको नहीं त्यागता है ?

उत्तर—'सगंभावं' अर्थात् अपने आत्मीय भावको नहीं त्यागता है।

'ण परं परिणमइ, मुणइ अप्पाणं' और न पर भावरूपसे परिणत होता है, अर्थात् रागादि-भावरूपसे तन्मय नहीं होता है।

प्रश्न—तो फिर क्या करता है ?

उत्तर—मनन करता है, जानता है और अनुभव करता है।

प्रश्न—किसका अनुभव करता है ?

उत्तर—अपने ज्ञानमयी आत्मस्वरूपका अनुभव करता है।

वह संवरण अर्थात् संवर है। यहां 'भवति' इस क्रियाका अध्याहार किया गया है। 'णिज्जरणं सो फुडं भणिओ' अर्थात् वही जीव स्पष्टरूपसे निर्जरा कहा गया है।

ऐसा जानकर भव्यजनोंको शुद्ध निश्चयनयसे संवर और निर्जरारूप वही शुद्ध आत्मा भावना करनेके योग्य है।

भावार्थ—अपने भावको नहीं छोड़नेसे तथा परभावरूपसे परिणमन नहीं करनेसे कर्मोंका आस्रव रुकता है, अतः उस समय आत्मा संवररूप है। इसी प्रकार आत्मस्वरूपका अनुभव करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। इस प्रकार निश्चयनयसे स्वभावमें स्थित आत्मा ही संवर और निर्जरा-रूप भगवान्ने कहा है ॥५५॥

अथ निश्चयदर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूपं प्रतिपादयति सूत्रकारः—

मूलगाथा—ससहावं वेदंतो णिच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो।
सो जीवो णायव्वो दंसण-णाणं चरित्तं च ॥५६॥

संस्कृतच्छाया—स्वस्वभावं विदन् निश्चलचित्तो विमुक्तपरभावः।
स जीवो ज्ञातव्यो दर्शनं ज्ञानं चारित्रं च ॥५६॥

टीका—'सो जीवो णायव्वो दंसण णाणं चरित्तं च' इत्यादि, व्याख्यानं करोति—स एव जीवो ज्ञातव्यो भवति ज्ञाततत्त्वैः दर्शन-ज्ञान-चारित्रं च, दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूपं भवति। किं कुर्वन् सन्? इत्याशङ्क्याह—'ससहावं वेदंतो' स्वस्वभावं विदन् जानन् अनुभवन् सन्? पुनश्च कथम्भूतः सन्? 'णिच्चलचित्तो' निश्चलचित्तो निराकुलमानसः सन्। पुनरपि किंविशिष्टः? 'विमुक्कपरभावो' विमुक्तपरभावः, विशेषेण मुक्तः परित्यक्तः परो रागादिर्भावः परिणामो येन स एवंविधः सन् निश्चयमोक्षमार्गं रत्नत्रयस्वरूपं परिणमतीति भावार्थः ॥५६॥

आगैं कहैं हैं—जीव ही दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप है—

भा० व०—जो जीव दर्शन ज्ञान चारित्र जाननां योग्य है। स्वभावकूं जानता अनुभव करता निश्चल चित्त निराकुल मानस भया संता, अर त्यज्या है परभाव जो रागादि भाव परिणाम जानैं सो या प्रकार भया संता ॥५६॥

अब सूत्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(ससहावं) अपने आत्मस्वभावको (वेदंतो) अनुभव करता हुआ जो जीव (विमुक्कपरभावो) परभावको छोड़कर (णिच्चलचित्तो) निश्चल चित्त होता है (सो जीवो) वही जीव (दंसण णाणं चरित्तं च) सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यक् चारित्र है, ऐसा (णायव्वो) जानना चाहिए।

टीकार्थ—'सो जीवो णायव्वो दंसणणाणं चरित्तं च' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते हैं—तत्त्वके ज्ञाता पुरुषोंको वही जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप जानना चाहिए। क्या करता हुआ? ऐसी आशंका उठाकर सूत्रकार कहते हैं—'ससहावं वेदंतो' अर्थात् अपने स्वभावको जानता और अनुभव करता हुआ।

प्रश्न—पुनः कैसा होता हुआ?

उत्तर—'णिच्चलचित्तो' निश्चल चित्त अर्थात् निराकुल मनवाला होता हुआ।

प्रश्न—फिर भी कैसा होता हुआ?

उत्तर—'विमुक्कपरभावो' विमुक्त परभाव होता हुआ। विशेष रूपसे मुक्त अर्थात् छोड़ दिया है रागादि पर भाव या पर-परिणामको जिसने, ऐसा होता हुआ वह जीव रत्नत्रयस्वरूप निश्चय मोक्षमार्गरूपसे परिणत होता है।

भावार्थ—जो रागादि पर भावको छोड़कर स्व-स्वभावको जानता हुआ निश्चल मन हो जाता है, वही निश्चय रत्नत्रय है ॥५६॥

अथायमात्मा निश्चयमाश्रितो ज्ञानादिगुणमयो भवतीति प्रकाशयन्ति श्रीदेवसेन-देवाः—

मूलगाथा—जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं ।
सा सुद्धचेयणा वि जं णिच्छयणयमस्सिए जीवे ।।५७।।

संस्कृतच्छाया—य आत्मा तज्ज्ञानं यज्ज्ञानं तच्च दर्शनं चरणम् ।
सा शुद्धचेतनापि च निश्चयनयमाश्रिते जीवे ।।५७।।

टीका—'णिच्छयणयमस्सिए जीवे' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते टीकाकारेण मुनिना । निर्विकल्पपरमसमाधिस्वरूपं निश्चयनयमाश्रिते जीवे सति । 'जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं' य एवात्मा रागादिरहितः शुद्धात्मा तदेव ज्ञानमतीन्द्रियम्, यज्ज्ञानं तच्च दर्शनम्, तदेव स्वरूपाचरणं चारित्रं च । 'सा सुद्धचेयणा वि य' सैव शुद्धा ज्ञानचेतनापि चेति भावना कर्तव्येति भावार्थः ।।५७।।

आगें फेरि हू कहैं हैं—

भा० व०—जे निर्विकल्प परम समाधिस्वरूप निश्चयनयकूं आश्रित जीवकूं होत संतें जीव ही आत्मा रागादि-रहित शुद्धात्मा सो ही ज्ञान अतीन्द्रिय जो ज्ञान, अर सो ही दर्शन, सो ही स्वरूपाचरण चारित्र, सो ही शुद्ध ज्ञानचेतना हू, या भावना कर्तव्य है ।।५७।।

अव यह आत्मा निश्चयको आश्रित कर ज्ञानादि गुणमय होता है, यह श्री देवसेनदेव प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(णिच्छयणयमस्सिए) निश्चयनयके आश्रित (जीवे) जीवमें (जो अप्पा) जो आत्मा है, (तं णाणं) वही ज्ञान है, (जं णाणं) और जो ज्ञान है (तं च दंसणं चरणं) वही दर्शन है, वही चारित्र है (सा शुद्धचेयणा वि य) और वही शुद्ध चेतना भी है ।

टीकार्थ—'णिच्छयणयमस्सिए जीवे' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—निर्विकल्प परम समाधि स्वरूप निश्चयनयके आश्रित जीवके होने पर 'जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं' अर्थात् रागादि-रहित जो शुद्ध आत्मा है, वही अतीन्द्रिय ज्ञान है, जो ज्ञान है वही दर्शन है और वही स्वरूपाचरणरूप चारित्र है । 'सा सुद्धचेयणा वि य' और वही शुद्ध ज्ञान चेतना भी है, ऐसी भव्यजनोंको भावना करनी चाहिए । यह इस गाथाका भावार्थ है ।।५७।।

अथ रागद्वेषाभावे परमानन्दो विलसतीति प्रकटयति सूत्रकर्ता—

मूलगाथा—उभयविणट्ठे भावे णिय-उवलद्धे सुसुद्धससरूवे ।
विलसइ परमाणंदो जोईणं जोयसत्तीए ॥५८॥

**संस्कृतच्छाया—उभयविनष्टे भावे निजे उपलब्धे सुशुद्धस्वस्वरूपे ।
विलसति परमानन्दो योगिनां योगशक्त्या ॥५८॥**

टीका—'जोईणं जोयसत्तीए' इत्यादि ,व्याख्यानं क्रियते—योगिनां चित्तनिरोधलक्षणो योगो विद्यते येषां ते योगिनस्तेषां योगिनां योगशक्त्या परमनिर्विकल्पसमाधिसामर्थ्येन 'विलसइ परमाणंदो' परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीरनन्तचतुष्टयरूपा यस्मिन्नसौ परमः, परमश्चासावानन्दश्च परमानन्दो विलसति प्रकटीभवति । तथा चोक्तं योगलक्षणं एकत्वसप्ततौ—

**साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥२५॥**

आगैं कहैं हैं—राग द्वेष दोय भाव नष्ट होत संतैं स्वशुद्ध स्वरूप प्राप्त होत संतैं परमानन्द-मैं विलास करैं हैं—

भा० व०—योगीनिकैं चित्त-निरोध लक्षण योग है विद्यमान जिनिकैं ते योगी कहिए, तिनिकैं योगकी शक्तिकरि परम निर्विकल्प समाधि जो ध्यानकी सामर्थ्यकरि परा कहिए उत्कृष्ट है ऐसी जो मा लक्ष्मी अनंत चतुष्टयरूप है जा विषैं सो परम कहिए । परम ऐसा जो आनन्द सो परमानंद है, सो प्रगट होय है । उभय जो दोयरूप भाव परिणाम राग द्वेष तिनि दोऊनिकौं नष्ट होत संतैं । तथा उपलब्ध होत संतैं । काहिकूं ? निज स्वकीय अपने अतिशयकरि सुन्दर शुद्ध रूपकूं प्राप्त होत संतैं सिद्ध होय है ॥५८॥

अब राग और द्वेषका अभाव होने पर परम आनन्द उल्लसित होता है, यह सूत्रकार प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(उभयविणट्ठे भावे) राग और द्वेषरूप दोनों भावोंके विनष्ट होनेपर (सुसुद्धससरूवे) अत्यन्त शुद्ध आत्मस्वरूप (णियउवलद्धे) निज भावके उपलब्ध होनेपर (जोयसत्तीए) योगशक्तिसे (जोईणं) योगियोंके (परमाणंदो) परम आनन्द (विलसइ) विलसित होता है ।

टीकार्थ—'जोईणं जोयसत्तीए' इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं—चित्तके निरोध लक्षण-रूप योग जिनके पाया जाता है, वे योगी कहलाते हैं । उन योगियोंके योगशक्तिसे अर्थात् परम निर्विकल्प समाधिकी सामर्थ्यसे 'विलसइ परमाणंदो' परम आनन्द विलसित होता है । पर नाम उत्कृष्टका है । मा लक्ष्मीका नाम है । वह अनन्त चतुष्टयरूप मा लक्ष्मी जिसमें पाई जाती है, उसे परम कहते हैं । ऐसा परम जो आनन्द होता है, वह परमानन्द विलसित अर्थात् प्रकट होता है ।

एकत्वसप्ततिमें योगका लक्षण इस प्रकार कहा है—

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त-निरोध और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थ-वाचक नाम हैं ॥२५॥

कस्मिन् कस्मिन् सति ? 'उभयविणट्ठे भावे णिय उवलद्धे सुसुद्धससरूवे' उभौ रागद्वेषरूपौ भावौ परिणामौ तयोर्द्वयोर्विनष्टयोः सतोः । तथा उपलब्धे सति कस्मिन् ? निजे स्वकीये। कथम्भूते ? सुष्ठु अतिशयः शुद्धश्चासौ स्वस्वरूपश्च सुशुद्धस्वरूपः, तस्मिन् सुशुद्धस्वरूपे प्राप्ते सति सिद्धा भवन्ति जीवा इति भावार्थः ॥५८॥

अथ योगं समर्थयन्ति श्रीदेवसेनदेवाः--

मूलगाथा—किं किज्जइ[1] जोएणं जस्स य ण हु अत्थि एरिसी सत्ती ।
फुरइ ण परमाणंदो सच्चेयणसंभवो सुहदो ॥५९॥

संस्कृतच्छाया—किं क्रियते योगेन यस्य च न हि अस्ति ईदृशी शक्तिः ।
स्फुरति न परमानन्दः सच्चेतनसंभवः सुखदः ॥५९॥

टीका—'किं कीरइ जोएणं' इत्यादि व्याकरोति टीकाकारः—तेन योगेन किं साध्यं भवति ? किमपि न । 'जस्स य ण हु अत्थि एरिसी सत्ती' यस्य च योगस्य ध्यानस्य स्फुटं यथा

आगैं और हू कहैं हैं—

भा० व०—तिस योग करि कहा करिए, कहा साध्य होय ? नांही कछु भी । जोग्य ध्यानकै प्रगट जैसैं होय तैसैं ऐसी शक्ति नांही, सामर्थ्य न होय, याही कारणतैं । कहा नांही होय ? या आशंकानैं होत संतैं कहिए है परमानन्द परम पद सुखस्वरूप नांही स्फुरायमान होय, नांही जागै । कैसा परमानंद ? सती शाश्वती समीचीन ऐसी जो चेतनाका निकटतैं है उत्पत्ति जाकी सो सच्चेतनासम्भव कहिए । बहुरि भी कैसा ? सुखको देने वाला परम अतीन्द्रिय सुख देने वाला है ॥५९॥

प्रश्न—वह परमानन्द क्या क्या होने पर प्रकट होता है ?

उत्तर—'उभयविणट्ठे भावे णिय-उवलद्धे सुसुद्धससरूवे' अर्थात् रागभाव और द्वेषभाव इन दोनों परिणामोंके विनष्ट होनेपर वह परमानन्द प्रकट होता है ।

प्रश्न—तथा किसके उपलब्ध होनेपर वह परमानन्द प्रकट होता है ?

उत्तर—अपने सुशुद्ध स्वरूपके उपलब्ध होनेपर प्रकट होता है ।

प्रश्न—वह सु शुद्ध स्वरूप कैसा है ?

उत्तर—सु सुष्ठु अर्थात् अतिशययुक्त, रागादि परभावसे रहित जो शुद्ध आत्मस्वरूप है, उस सुशुद्ध आत्मस्वरूपके प्रकट होनेपर परमानन्द प्रकट होता है।

भावार्थ—उस सुशुद्ध स्वरूपके प्राप्त होनेपर जीव सिद्ध हो जाते हैं ॥५८॥

अब श्री देवसेनदेव योगका समर्थन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जोएण किं कीरइ) उस योगसे क्या करना है ? (जस्स य) जिसकी (एरिसी) ऐसी (सत्ती) शक्ति (ण हु) नहीं (अत्थि) है कि उससे (सच्चेयणसंभवो) सत्-चेतनसे उत्पन्न (सुहदो) सुखद (परमाणंदो) परमानन्द (ण फुरइ) प्रकट न हो ।

टीकार्थ—'किं कीरइ जोएण' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते हैं—उस योगसे क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं है । 'जस्स य ण हु एरिसी सत्ती' अर्थात् जिस ध्यानरूप योगकी

---

१. 'कीरइ' इत्यपि पाठः ।

भवति तथेदृशी एवं विचारशक्तिर्नास्ति सामर्थ्यं न भवति। यस्मात् किं नास्तीत्याशङ्कायां सत्यां प्रोच्यते 'फुरइ ण परमाणंदो सच्चेयणसंभवो सुहदो' परमानन्दः परमसुखस्वरूपो न स्फुरति जागर्ति। किंविशिष्टः परमानन्दः ? सती शाश्वती समीचीना चासौ चेतना च सच्चेतना, तस्याः सकाशात् संभवः उत्पत्तिर्यस्य स सच्चेतनासंभवः। पुनरपि कथम्भूतः ? सुखदः परमातीन्द्रियसुखप्रद इत्यर्थः। अतएव परमानन्दसुखलालस भोः श्रीअमरसिंह ! शुभवता भवता तादृग्विधेन योगाभ्यासेन भवितव्यमिति भावार्थः ॥५९॥

अथ तस्यैव योगस्य सहायाभावं दर्शयन्ति सूत्रकृतः—

मूलगाथा—जा किंचि वि चलइ मणो झाणे जोइस्स गहियजोयस्स।
ताम ण परमाणंदो उप्पज्जइ परमसुक्खयरो ॥६०॥

संस्कृतच्छाया—यावत् किञ्चिदपि चलति मनोध्याने योगिनो गृहीतयोगस्य।
तावन्न परमानन्दो उत्पद्यते परमसौख्यकरः ॥६०॥

आगैं कहैं हैं—ग्रहण किया है जोग जानैं, अर मन चलायमान होय है सो परमानन्द प्रगट नांही होय है—

भा० व०—जोगीकैं मन जो चित्त ध्यान जो परमात्मध्यान विषैं जितनें काल किंचित्कालमात्र चलायमान होय है। कैसा योगी कैं ? ग्रहण किया है योग ध्यान जानैं, ऐसा योगी कैं जितने काल परमानन्द नांही उत्पन्न होय है। कैसा परमानंद ? परम परमार्थ रूप सुखकूं करणेका है स्वभाव जाका, ऐसा नांही प्रगट होय है ॥६०॥

निश्चयसे जैसी चाहिए, वैसी विचार-शक्ति या सामर्थ्य नहीं है कि जिससे क्या क्या न हो सके ? ऐसी आशंका होने पर सूत्रकार कहते हैं कि 'फुरइ ण परमाणंदो सच्चेयणसंभवो सुहदो' अर्थात् जिससे परम सुखस्वरूप परमानन्द स्फुरित न हो—जाग्रत न हो।

प्रश्न—कैसा परमानन्द जाग्रत न हो ?

उत्तर—सच्चेतन-संभव। शाश्वतकाल रहने वाली समीचीन चेतनासे जिसकी उत्पत्ति हो, ऐसा सच्चेतनसंभव परमानन्द जाग्रत न हो।

प्रश्न—फिर भी वह परमानन्द कैसा है ?

उत्तर—सुखद है, अर्थात् परम अतीन्द्रिय सुखका देने वाला है।

अतएव परमानन्द सुखके अभिलाषी हे श्री अमरसिंह ! आप जैसे भाग्यशालीको उस प्रकारके परमानन्द देने वाले योगका अभ्यास करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥५९॥

अब सूत्रकार उसी योगकी सहायक सामग्रीकी अभावको दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जा) जब तक (गहियजोयस्स) योगके धारक (जोइस्स) योगीका (मणो) मन (झाणे) ध्यानमें (किंचिवि) कुछ भी (चलइ) चलायमान रहता है (ताम) तब तक (परमसोक्खयरो) परम सुख-कारक (परमाणंदो) परमानन्द (ण उप्पज्जइ) नहीं उत्पन्न होता है।

टीका—'जा किंचिवि चलइ मणो झाणे' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—यावत्कालं किंचिन्मात्रं मनश्चित्तं चलति। कस्मिन्? ध्याने परमात्मध्याने। कस्य? 'जोइस्स' योगिनः। कथम्भूतस्य? 'गहियजोयस्स' गृहीतो योगो ध्यानं येनासौ गृहीतयोगः, तस्यैवंविधस्यापि योगिनः। किं न भवतीति? 'ताम ण परमाणंदो उप्पज्जइ' तावत्कालं परमश्चासावानन्दश्च परमानन्दः न उत्पद्यते संभवति। कथम्भूतः? 'परमसुक्खयरो' परमसौख्यकरः, परमं परमार्थरूपं सौख्यं करोतीत्येवं शीलमित्यर्थः। तस्मात्कारणान्निश्चलचित्तेन भव्येन भाव्यमिति भावार्थः ॥६०॥

अथ रागादि विकल्पाभावफलं दर्शयन्ति सूत्रकर्तारः—

मूलगाथा—सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ को वि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हु ॥६१॥

संस्कृतच्छाया—सकलविकल्पे रुद्धे उत्पद्यते कोऽपि शाश्वतो भावः।
य आत्मनः स्वभावो मोक्षस्य च कारणं स खलु ॥६१॥

आगैं कहैं हैं—सकल विकल्प नष्ट होत संतैं कोई मोक्षका कारण शाश्वता भाव प्रगट होय है—

भा० व०—सकल रागादिक विकल्प नष्ट होत संतैं कोइक शाश्वता भाव उपजै है जो आत्माका स्वभाव है। बहुरि सो स्वभाव मोक्षका कारण होय है।।६१।।

टीकार्थ—'जा किंचिवि चलइ मणो झाणे' इत्यादि गाथाके अर्थका व्याख्यान करते हैं—जितने काल तक रंचमात्र भी चित्त चलायमान रहता है।

प्रश्न—किसमें चलायमान रहता है?

उत्तर—परम शुद्ध आत्मध्यानमें।

प्रश्न—किसका?

उत्तर—योगीका।

प्रश्न—कैसे योगीका?

उत्तर—'गहियजोयस्स' अर्थात् जिसने योग-ध्यानको ग्रहण किया है, इस प्रकारके योगीका।

प्रश्न—उसके क्या नहीं होता?

उत्तर—'ताम ण परमाणंदो उप्पज्जइ' उतने काल तक परम उत्कृष्टरूप जो आनन्द है, वह उत्पन्न नहीं होता है।

प्रश्न—वह परमानन्द कैसा है?

उत्तर—'परमसुक्खयरो' अर्थात् परम सुखका करनेवाला है। परम परमार्थरूप सुखको करनेका स्वभाववाला है।

इस कारण भव्य जीवोंको ध्यान-अवस्थामें अत्यन्त निश्चलचित्त होना चाहिए यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६०॥

अब सूत्रकार रागादि विकल्पोंके अभावका फल दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सयलवियप्पे) समस्त विकल्पोंके (थक्के) रुक जानेपर (कोवि) कोई अद्वितीय (सासओ) शाश्वत—नित्य (भावो) भाव (उप्पज्जइ) उत्पन्न होता है (जो) जो (अप्पणो)

टीका—'उप्पज्जइ को वि सासओ भावो' इत्यादि व्याक्रियते वृत्तिकृता मुनिना—कोऽपि कश्चिदपि भावः। कथम्भूतः ? शाश्वतः। उत्पद्यते प्रकटीभवति। कदा ? 'सयलवियप्पे थक्के' सकलाश्च ते विकल्पा रागादयश्च सकलविकल्पास्तेषु। कथम्भूतेषु ? नष्टेषु सत्सु। बहुवचनं कथम् ? प्राकृते वचन-लिङ्गादिनियमो नास्तीति। कथम्भूतो यो भावः ? 'जो अप्पणो सहाओ' यः किलात्मनः स्वभावः सहोत्पन्नः। पुनश्च किंविशिष्टः ? 'मोक्खस्स य कारणं सो हु' स एव भावः स्फुटं कारणं भवतीत्यध्याहारः। कस्य ? मोक्षस्य चानन्तचतुष्टयस्वरूपस्येति मोक्षाभिलाषिणा भव्येनेति मत्वा सर्वे रागादयः परे भावा मोक्तव्या इति भावार्थः ॥६१॥

आत्माका (सहावो) स्वभाव है। (सो) वह (खु) निश्चयसे (मोक्खस्स य) मोक्षका (कारणं) कारण है।

टीकार्थ—'उप्पज्जइ को वि सासओ भावो' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—कोई विलक्षण भाव। कैसा ? शाश्वत। उत्पन्न होता है—प्रकट होता है।

प्रश्न—कब प्रकट होता है ?

उत्तर—'सयलवियप्पे थक्के' अर्थात् रागादि जितने भी विकल्प हैं, उन सबके नष्ट हो जाने पर वह शाश्वत भाव प्रकट होता है।

प्रश्न—'सयलवियप्पे थक्के' यह तो सप्तमी विभक्तिका एकवचनरूप प्रयोग है। आपने उसका बहुवचनरूप अर्थ कैसे किया है ?

उत्तर—प्राकृतमें वचन और लिंग आदिका कोई नियम नहीं है। इसलिए जहाँ जैसा अर्थ विवक्षित होता है, वैसा अर्थ कहा जाता है।

प्रश्न—फिर वह शाश्वत भाव कैसा है ?

उत्तर—'जो अप्पणो सहावो' अर्थात् वह आत्माका स्वभाव है। निश्चयसे जो आत्माका स्वभाव है वह उसके साथ ही उत्पन्न होता है।

प्रश्न—पुनः वह स्वभाव कैसा है ?

उत्तर—'मोक्खस्स य कारणं सो हु' अर्थात् वही भाव निश्चयसे कारण है। यहाँ 'भवति' क्रियाका अध्याहार किया गया है।

प्रश्न—वह भाव किसका कारण है ?

उत्तर—अनन्तचतुष्टयस्वरूप मोक्षका कारण है।

इसलिए मोक्षके अभिलाषी भव्यपुरुषको ऐसा जानकर सभी रागादि परभाव छोड़नेके योग्य हैं। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६१॥

अथात्मध्यानमाहात्म्यं प्रकटयन्तीति श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—अप्पसहावे थक्को जोई ण मुणेइ आगए विसए।
जाणइ णिय-अप्पाणं पिच्छइ तं चेव सुविसुद्धं ॥६२॥

**संस्कृतच्छाया—आत्मस्वभावे स्थितो योगी न मनुते आगतान् विषयान्।
जानाति निजात्मानं पश्यति तं चैव सुविशुद्धम् ॥६२॥**

टीका—'अप्पसहावे थक्को जोई' इत्यादि व्याकरोति टीकाकृन्मुनिः—आत्मनः स्वभावः स्वरूपमात्मस्वभावः, तस्मिन् स्थितः सन्। कोऽसौ? योगी ध्यानी पुमान्। किं करोतीति? 'ण मुणेइ आगए विसए' न मनुते जानाति नानुभवति। कान्? विषयान्। कथम्भूतान्? उदयमागतान्। यथा शिवकुमारो निजान्तःपुरमध्येऽपि स भावलिङ्गी भवन् षष्ठोपवासेन काञ्जिकाहारेण परगृहादानीतेन स्थितः, तथाऽऽसन्नभव्येनान्येनापि भवितव्यम्। तर्हि किं करोति स

भा० व०—आत्मस्वभावविषैं स्थित होत संतैं योगी उदयमें आये ऐसे जे विषयनिकूं नाहीं जानै है, अर निज आत्माकूं जाणै है, अर आत्मा ही कौं भले प्रकार विशुद्ध देखै हैं ॥६२॥

अब श्री देवसेनदेव आत्म-ध्यानके माहात्म्यको प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(अप्पसहावे) आत्मस्वभावमें (थक्को) स्थित (जोई) योगी (आगए) उदयमें आये हुए (विसए) इन्द्रियोंके विषयोंको (ण मुणेइ) नहीं जानता है। किन्तु (णिय-अप्पाणं) अपनी आत्माको ही (जाणइ) जानता है (तं चेव) और उसी (सुविसुद्धं) अतिविशुद्ध आत्माको (पिच्छइ) देखता है।

टीकार्थ—'अप्पसहावे थक्को जोई' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—आत्माका जो स्वभाव है, स्वरूप है, उस आत्मस्वभावमें स्थित कोई ध्यानी योगी पुरुष है।

प्रश्न—वह क्या करता है?

उत्तर—'ण मुणेइ आगए विसए' अर्थात् नहीं जानता है, उनका अनुभव नहीं करता है।

प्रश्न—किनका अनुभव नहीं करता है?

उत्तर—इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव नहीं करता है।

प्रश्न—कैसे विषयोंका अनुभव नहीं करता है?

उत्तर—उदयमें आये हुए विषयोंका अनुभव नहीं करता है।

जैसे शिवकुमार नामका कोई राजा अपने अन्तःपुरमें रहता हुआ भी भावलिंगी होकर, पर-घरसे लाये गये कांजीके आहारको षष्ठोपवास (वेला-दो दिनके उपवास) की पारणामें ग्रहण करता हुआ स्थित था। उसी प्रकार निकट भव्यजीवको भी होना चाहिए।

योगी ? 'जाणइ णियअप्पाणं' निजात्मानं स्वस्वरूपं जानात्यनुभवति। पुनः किं करोतीति ? 'पिच्छइ तं चेव सुविसुद्धं' सुविशुद्धं रागादिरहितं तमेवात्मानं पश्यत्यवलोकयतीत्यर्थः इति मत्वा शुद्धात्मस्वरूपे भावना कर्तव्या तज्ज्ञैर्भव्यजनैरिति भावार्थः ॥६२॥

अथ पुनरपि निश्चयध्यानारूढस्य योगिनो माहात्म्यं दर्शयतीति सूत्रकारः—

मूलगाथा—ण रमइ विसएसु मणो जोइस्सुवलद्धसुद्धतच्चस्स।
एकीहवइ णिरासो मरइ पुणो झाणसत्थेण ॥६३॥

संस्कृतच्छाया—न रमते विषयेषु मनो योगिन उपलब्धशुद्धतत्त्वस्य।
एकीभवति निराशो म्रियते पुनः ध्यानशस्त्रेण ॥६३॥

टीका—'ण रमइ विसएसु मणो' इत्यादि व्याख्यानं क्रियते टीकाकृता मुनिना—मनो

भा० व०—योगीकौ मन है सो विषयनि विषैं नांही रमै है। कैसा है योगी ? प्राप्त भया है शुद्धतत्त्व जाकैं। बहुरि कैसा है ? एक होत है निराश-विषयनि विषैं नष्ट भई आशा जाकैं। अथवा इस लोकविषैं आशा, परलोक आशा, धनाशा, जीविताशा जाकैं नष्ट भई सो निराश-निर्गत गई है दुराशा जाकैं। पश्चात् कहा करै है ? ताका मन मरै है, विनाशकूं प्राप्त होय है। काहे करि ? ध्यान शस्त्रकरि ॥६३॥

प्रश्न—तो ऐसा वह योगी क्या करता है ?

उत्तर—'जाणइ णिय अप्पाणं' अर्थात् अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपको जानता है और अनुभव करता है।

प्रश्न—पुनः वह क्या करता है ?

उत्तर—'पिच्छइ तं चेव सुविसुद्धं' अर्थात् रागादि-रहित अपनी उसी सुविशुद्ध आत्माको देखता है, अवलोकन करता है।

ऐसा जानकर आत्मज्ञ भव्यजनोंको शुद्ध आत्मस्वरूपमें भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६२॥

अब फिर भी सूत्रकार निश्चयध्यानमें आरूढ़ योगीका माहात्म्य दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(उवलद्धसुद्धतच्चस्स) जिसने शुद्धतत्त्वको प्राप्त कर लिया है, ऐसे (जोइस्स) योगीका (मणो) मन (विसएसु) इन्द्रियोंके विषयोंमें (ण रमइ) नहीं रमता है। किन्तु (णिरासो) विषयोंसे निराश होकर आत्मामें (एकीहवइ) एकमेव हो जाता है। (पुणो) पुनः (झाणसत्थेण) ध्यानरूपी शस्त्रके द्वारा (मरइ) मरणको प्राप्त हो जाता है।

टीकार्थ—'ण रमइ विसएसु मणो' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—अनेक विकल्पात्मक मन नहीं रमता है, अर्थात् आसक्त नहीं होता है।

विकल्पात्मकं न रमते न आसक्तं भवति। केषु ? पञ्चेन्द्रियविषयेषु। कस्य मनः ? 'जोइस्स' योगिनः परमयोगिनः। कथम्भूतस्य ? 'उवलद्धसुद्धतच्चस्स' उपलब्धं प्राप्तं शुद्धं रागादिरहितं तत्त्व-स्वरूपं येनासौ उपलब्धशुद्धतत्त्वः, तस्य। पुनरपि किं करोति तन्मनः ? 'एकीहवइ णिरासो' एकीभवति, नानेकीभवति-एकीभवति। कथम्भूतं सन् ? 'णिरासो' निराशं निर्गता विनष्टा विषयाणामाशा। अथवेह—लोकाशा परलोकाशा धनाशा जीविताशा वा यस्मात्तन्निराशं निर्गतदुराशम्। पश्चात् किं करोति तन्मनः ? 'मरइ पुणो' पुनर्म्रियते विनाशं गच्छति। केन कृत्वा ? 'झाणसत्थेण' ध्यानशस्त्रेण, परमात्मध्यानमेव शस्त्रमायुधः ध्यानशस्त्रं तेन। भव्यजनैरिति मत्वा परगततत्त्व-स्वगततत्त्वस्मरणलक्षणे ध्यानेऽभ्यासः कर्तव्य इति भावार्थः॥६३॥

प्रश्न—किनमें आसक्त नहीं होता है ?

उत्तर—पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होता है।

प्रश्न—किसका मन आसक्त नहीं होता है ?

उत्तर—'जोइस्स' परमध्यानी योगीका मन आसक्त नहीं होता है।

प्रश्न—कैसे योगीका मन आसक्त नहीं होता ?

उत्तर—'उवलद्धसुद्धतच्चस्स' अर्थात् जिसने रागादि-रहित शुद्ध तत्त्वका स्वरूप उपलब्ध कर लिया है, उस योगीका मन आसक्त नहीं होता।

प्रश्न—तो फिर उसका मन क्या करता है ?

उत्तर—'एकीहवइ णिरासो' अर्थात् वह आत्माके साथ एक हो जाता है, फिर वह अनेक विकल्परूप नहीं रहता।

प्रश्न—कैसा होता हुआ वह एक हो जाता है ?

उत्तर—'णिरासो' निराश होकर। जिसके विषयोंकी आशा निकल गई है, नष्ट हो गई है। अथवा जिसमेंसे इस लोककी आशा, परलोककी आशा, धनकी आशा और जीवनकी आशा निकल गई हैं अर्थात् सभी प्रकारकी दुराशाएँ नष्ट हो गई हैं।

प्रश्न—पश्चात् निराश होनेपर वह मन क्या करता है ?

उत्तर—'मरइ पुणो' अर्थात् फिर वह मन मर जाता है।

प्रश्न—किसके द्वारा मर जाता है ?

उत्तर—'झाणसत्थेण' अर्थात् ध्यानरूपी शस्त्रसे मर जाता है—विनाशको प्राप्त हो जाता है। चंचल मनके विनाशके लिए परमात्माका ध्यान ही शस्त्र है, आयुध है।

ऐसा जानकर भव्यजनोंको परगत-तत्त्व और स्वगत तत्त्वके स्मरणरूप ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है॥६३॥

अथ मोहोदये सति मनो न म्रियते, इति ब्रुवन्त्यग्रे श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयं गओ सव्वो ।
खीयंति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ।।६४।।

संस्कृतच्छाया—न म्रियते तावदित्थं मनो यावन्न मोहो क्षयं गतः सर्वः ।
क्षीयन्ते क्षीणमोहे शेषाणि च घातिकर्माणि ।।६४।।

टीका—'ण मरइ तावेत्थ मणो' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते वृत्तिकर्त्रा मुनिना। तावत्कालमित्थममुना प्रकारेण। 'अत्थ' इति पाठे अस्मिन् ध्याने पुरुषे वा मनश्चित्तं विकल्परूपं न म्रियते न विलीयते। कियन्तं कालमिति ? 'जाम ण मोहो खयं गओ सव्वो' यावत्कालं सर्वः सपरिवारो मोहो न क्षयं गतो भवति। 'खीयंति' क्षीयन्ते क्षयं यान्ति। कस्मिन् ? क्षीणमोहे। क्षीणः क्षयं गतो मोहो यस्माद् यस्मिन् वा तत् क्षीणमोहं गुणस्थानम्, तस्मिन् क्षीण-

---

आगैं कहै हैं—मनकूं मरे बिना मोहादिक नांही मरै हैं। अर मन मरैं समस्त कर्म क्षय होय है—

भा० व०—तावत् काल या प्रकार या थानविषैं वा पुरुषविषैं मन जो चित्तके विकल्परूप नांही मरै है, नांही विलय होय है। कितने काल ? या प्रकार जितने काल सर्व परिवार सहित मोह क्षयकूं नांही प्राप्त होय है। अर मोहकूं क्षीणमोह द्वादशम गुणस्थानविषैं मोहकूं क्षीण होत संतैं घातिया कर्म द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक। कितने ? समस्त घातिया कर्म। या प्रकार जाणि मोहका वशीकरणविषैं यत्न कर्तव्य है। कौन कूं ? भव्यजननिकौं। यो भावार्थ जानना ।।६४।।

अब आगे श्रीदेवसेनदेव कहते हैं कि मोहके उदय होनेपर मन नहीं मरता है—

अन्वयार्थ—(जाम) जबतक (सव्वो मोहो) सम्पूर्ण मोह (खयं) क्षयको (ण गओ) नहीं प्राप्त होता है, (ताव) तबतक (इत्थ) इस आत्माका (मणो) मन (ण मरइ) नहीं मरता है। (खीणमोहे) मोहके क्षीण होनेपर (सेसाणि य) शेष भी (घाइकम्माणि) घातीकर्म (खीयंति) नष्ट हो जाते हैं।

टीकार्थ—'ण मरइ तावेत्थ मणो' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ व्याख्यान करते हैं—उतने कालतक इस प्रकारसे मन नहीं मरता है। अथवा 'इत्थ' पाठके स्थानपर 'अत्थ' पाठ मानने पर यह अर्थ होता है—इस ध्यानमें अथवा ध्यान करनेवाले पुरुषमें विकल्परूप मन नहीं मरता है अर्थात् आत्मामें विलीन नहीं होता है।

प्रश्न—कितने कालतक नहीं मरता है ?

उत्तर—'जाम ण मोहो खयं गओ सव्वो' अर्थात् जितने कालतक सपरिवार सर्व मोह क्षय नहीं हो जाता है, तबतक मन नहीं मरता है।

पुनः सर्वमोह परिवार क्षयको प्राप्त होता है।

प्रश्न—किसमें क्षयको प्राप्त होता है ?

उत्तर—क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानमें क्षयको प्राप्त होता है।

मोहे क्षीणकषाये द्वादशे गुणस्थाने। मोहे क्षीणे सति कानि क्षीयन्ते ? 'घाइकम्माणि' घातिकर्माणि द्रव्यकर्माणि ज्ञानावरणादीनि। कियन्ति ? 'सेसाणि य' शेषाणि समस्तानि घातीनि कर्माणीति ज्ञात्वा मनोवशीकरणे यत्नो विधेयो भव्यैरिति भावार्थः ॥६४॥

अथ दृष्टान्तद्वारेण दार्ष्टान्तं मोहराजाभावफलं दर्शयन्तीति सूत्रकर्तारस्तद्यथा--

मूलगाथा--णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाईणि ॥६५॥

संस्कृतछाया--निहते राज्ञि सैन्यं नश्यति स्वयमेव गलितमाहात्म्यम्।
तथा निहते मोहराजे गलन्ति निःशेषघातीनि ॥६५॥

टीका--'णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं' इत्यादि व्याख्यानं क्रियते टीकाकारेण यतिना--तथा राज्ञि नरेन्द्रे निहते विनष्टे सति सैन्यं स्वयमेव नश्यति। कथम्भूतं सत् ?

आगैं कहैं हैं--मोहकूं नाश होत संतैं समस्त घातिया कर्म नाशकूं प्राप्त होय हैं--

भा० व०--जैसें राजाकूं मरण प्राप्त होते संते सैन्य है सो स्वयमेव नाशै है भागै है। कैसें भागै है ? नष्ट भया है माहात्म्य जाका। इहां दार्ष्टान्ति कहै हैं--तैसें मोह राजाकूं नाश होत संतै। काहे करि ? ज्ञान-खड्गकरि। कहा होय ? समस्त घातिया कर्म नाशकूं प्राप्त होय हैं ॥६५॥

जिससे या जिस आत्मामें वह मोह क्षय हो गया है, उसे क्षीणमोह या क्षीणकषाय कहते हैं।

प्रश्न--मोहके क्षीण होनेपर कौन-कौन नष्ट हो जाते हैं ?

उत्तर--'घाइकम्माणि' घाती कर्म ज्ञानावरणादिक नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न--वे घातिकर्म कितने हैं ?

उत्तर--'सेसाणि य' शेष समस्त घातिकर्म जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये द्रव्यकर्म हैं वे समस्त नष्ट हो जाते हैं।

ऐसा जानकर भव्य पुरुषोंको मनके वश करनेमें यत्न करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६४॥

अब सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा दार्ष्टान्तरूप मोहराजके अभावका फल दिखलाते हैं--

अन्वयार्थ--(राए) राजाके (णिहए) मारे जानेपर जैसे (गलियमाहप्पं) जिसका माहात्म्य गल गया है ऐसी (सेण्णं) सेना (सयमेव) स्वयं ही (णासइ) नष्ट हो जाती है, (तह) उसी प्रकार (णिहयमोहराए) मोहराजाके नष्ट हो जानेपर (णिस्सेसघाईणि) समस्त घातिया कर्म (गलंति) स्वयं ही गल जाते हैं।

टीकार्थ--'णिहए राए सेण्णं' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ-व्याख्यान करते हैं--जैसे युद्धस्थलमें राजाके निहत अर्थात् विनष्ट होनेपर सेना स्वयं ही नष्ट हो जाती है।

गलितमाहात्म्यं गलितम् नष्टं माहात्म्यं महिमा यस्य तद्। दार्ष्टान्तमाह—'तह णिहय मोहराए' तथा मोहराजे निहते विनाशिते। केन? ज्ञानखड्गेण। किं भवति? गलन्ति नाशं गच्छन्ति। कानि? निःशेषघातीनि निःशेषाणि समस्तानि च तानि घातिकर्माणि, तानीति ज्ञात्वा परवस्त्वभिलाषरूपो मोहस्त्याज्यो भवति तत्त्वविद्भिः पुरुषैरिति भावार्थः ॥६५॥

अथ घातिकर्मचतुष्टये नष्टे सति किं फलं भवतीति प्रतिपादयन्ति श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—घाइचउक्के णट्ठे उप्पज्जइ विमलकेवलं णाणं।
लोयालोयपयासं कालत्तयजाणगं परमं ॥६६॥

संस्कृतच्छाया—घातिचतुष्के नष्टे उत्पद्यते विमलकेवलज्ञानम्।
लोकालोकप्रकाशकं कालत्रयज्ञायकं परमम् ॥६६॥

टीका—'घाइचउक्के णट्ठे' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते टीकाकृता

आगैं कहैं हैं—घातियाचतुष्टय नष्ट होत संतैं केवलज्ञान प्राप्त होय है—

भा० व०—घातियाचतुष्क ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अन्तराय ये चार घातिया कर्म नष्ट होत संतैं मल-रहित केवलज्ञान उपजै है। कैसा है केवलज्ञान? लोकालोक-प्रकाशक, अर कालत्रयका जाननेवाला परम उत्कृष्ट ऐसा है ॥६६॥

प्रश्न—कैसी होती हुई नष्ट हो जाती है?

उत्तर—गलित माहात्म्य होकर। गल गया है—नष्ट हो गया है माहात्म्य, महिमा या जीतनेका उत्साह जिसका, उसे गलितमाहात्म्य कहते हैं।

अब इसका दार्ष्टान्त कहते हैं—'तह णिहयमोहराए' अर्थात् उसी प्रकार मोहराजाके ज्ञानरूपी खड्गसे विनाश कर दिये जानेपर समस्त घातिकर्म स्वयं ही गल जाते हैं, अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—दशवें गुणस्थानमें मोहके सर्वथा क्षय हो जानेपर बारहवें गुणस्थानमें शेष रहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों घातिया कर्म स्वयं ही क्षयको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसा जानकर तत्त्ववेत्ता भव्यपुरुषोंको पर वस्तुकी अभिलाषारूप मोह सर्वथा त्याग देनेके योग्य है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६५॥

अब चारों घातिया कर्मोंके नष्ट होनेपर क्या फल प्राप्त होता है, यह श्रीदेवसेनदेव बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(घाइचउक्के णट्ठे) चारों घातिया कर्मोंके नष्ट होनेपर (लोयालोयपयासं) लोक और अलोकको प्रकाशित करनेवाला, (कालत्तय जाणगं) तीनों कालोंको जाननेवाला, (परमं) परम (विमलं) निर्मल (केवलणाणं) केवलज्ञान (उप्पज्जइ) उत्पन्न होता है।

टीकार्थ—'घाइचउक्के णट्ठे' इत्यादि गाथाके अर्थका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—ज्ञानावरणादि चारों घातिया कर्मोंके नष्ट होनेपर।

मुनिना। तद्यथा—घातिचतुष्के नष्टे सति घातिकर्मणां ज्ञानावरणादीनां चतुष्कं तस्मिन् विनष्टे सति किं फलं भवतीति ? 'उप्पज्जइ विमलकेवलं णाणं' ज्ञानं समुत्पद्यते प्रकटीभवति। कथम्भूतं तत् ? विमलकेवलं विगतानि विनष्टानि कर्माण्यविमलानि यस्मात्तद्विमलं निर्मलं निष्पापं केवलं सकलमखण्डं विमलकेवलम्। पुनरपि किंविशिष्टम् ? 'लोयालोयपयासं' लोकालोक-प्रकाशकम्। 'लोक दर्शने' लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादयः पदार्था यस्मिन्नसौ लोकः, तस्मात्प-रोऽलोकः, तयोः प्रकाशकं लोकालोकप्रकाशकम्। पुनश्च कथम्भूतम् ? 'कालत्तयजाणगं' काल-त्रयज्ञायकम्, अतीतवर्तमानानागतानां कालानां त्रयं जानातीति कालत्रयज्ञायकम्। पुनश्च किम्भूतम् ? परमम्, परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीः समवशरणादिर्यत्र तत्परमं सर्वोत्कृष्टं वा। तदेवंविधं ज्ञानमेव भावनीयं भव्यजनैरिति भावार्थः ॥६६॥

इति तत्त्वसारविस्तारावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारकश्रीकमलकीर्तिदेव-विरचिते कायस्थमाथुरान्वयशिरोमणिभूतभव्यवरपुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिनकरे धर्मध्यानपरम्प-रयाऽवाप्तशुक्लध्यानोद्भवकेवलज्ञानफलवर्णनं नाम पञ्चमं पर्व ॥५॥

■

प्रश्न—क्या फल प्राप्त होता है ?

उत्तर—'उप्पज्जइ विमलकेवलं णाणं' अर्थात् विमल केवलज्ञान उत्पन्न होता है। विगत या विनष्ट हो गये हैं अविमल—मलिन कर्म जिसमेंसे ऐसा विमल, निर्मल, निष्पाप और अखण्ड केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रश्न—पुनरपि वह कैसी विशेषतावाला है ?

उत्तर—'लोयालोयप्पयासं' अर्थात् लोक और अलोकका प्रकाशक है। 'लोक' धातु देखनेके अर्थमें प्रयुक्त होती है। जितने आकाशमें जीवादि पदार्थ अवलोकन किये जाते हैं—दिखाई देते हैं, उसे लोक कहते हैं। उससे परे जो आकाश है, जहां कि जीवादि पदार्थ नहीं दिखाई देते हैं, उसे अलोक कहते हैं। ऐसे लोक और अलोकका वह प्रकाशक है।

प्रश्न—पुनः वह केवलज्ञान कैसा है ?

उत्तर—'कालत्तयजाणगं' अर्थात् अतीत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालोंको जानता है।

प्रश्न—और फिर वह कैसा है ?

उत्तर—परम है, अर्थात् पर—उत्कृष्ट, मा—लक्ष्मी समवशरणादिरूप जिसमें पाई जावे, उसे परम या सर्वोत्कृष्ट कहते हैं।

इस प्रकारका परम निर्मल केवलज्ञान ही भव्यजनोंको निरन्तर भावना करनेके योग्य है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६६॥

इस प्रकार अति निकट भव्यजनोंको आनन्दकारक, भट्टारक श्री कमलकीर्त्तिदेव-विरचित, कायस्थ-माथुरान्वय-शिरोमणिभूत, भव्यवरपुण्डरीक अमरसिंहके मानस-कमलको दिनकरके समान विकसित करनेवाले इस तत्त्वसारके विस्तारावतारमें धर्मध्यानसे परम्परया प्राप्त होनेवाले शुक्ल-ध्यानद्वारा केवलज्ञानरूप फलका वर्णन करनेवाला पाँचवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥५॥

■

षष्ठ पर्व

सर्वज्ञ ज्ञानसंसिद्धिस्तवास्तु सुखदायिनी।
भो भव्यामरसिंहाख्य सर्वसाधुजनेप्सिता ॥

(इत्याशीर्वादः)

अथ केवलज्ञानोद्भवानन्तरं कथम्भूतो भवतीति प्रतिपादयन्त्यग्रे सूत्रकृतः—

मूलगाथा—तिहुवणपुज्जो होउं खविउ सेसाणि कम्मजालाणि ।
जायइ अभूदपुव्वो लोयग्गणिवासिओ सिद्धो ॥६७॥

संस्कृतच्छाया—त्रिभुवनपूज्यो भूत्वा क्षपित्य शेषाणि कर्मजालानि ।
जायतेऽभूतपूर्वो लोकाग्रनिवासी सिद्धः ॥६७॥

टीका—'तिहुवणपुज्जो होउं' इत्यादि व्याक्रियते वृत्तिकृता यतिना—त्रिभुवनपूज्यो भूत्वा त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम्, तेन पूजितो भूत्वा। पश्चात् किं कृत्वा ? 'खविउ सेसाणि कम्मजालाणि' क्षपित्वा। कानि ? कर्मजालानि कर्मसमूहानि। कथम्भूतानि ? शेषाणि समस्तानि अघातिकर्मांण्युद्धरितानि वा। 'जायइ अभूदपुव्वो' जायते समुत्पद्यते। कथम्भूतो

हे भव्य अमरसिंह ! सर्वसाधुजनोंको अभीष्ट और अक्षय सुख देनेवाली सर्वज्ञ-ज्ञानकी संसिद्धि तेरे होवे ॥१॥ (इति आशीर्वादः)

बहुरि कहा होय ? सो ही कहैं है—

भा० व०—तीन भुवन जो तीन लोक, ताके पूज्य होय करि, अर बाकीके च्यारि अघातिया आयु नाम गोत्र वेदनीय जे समस्त कर्म-जाल तिनकूं नष्ट करि सिद्ध होय है। कैसा सिद्ध होय है ? पूर्वं ऐसा कदे भी नांहीं भया। बहुरि कैसा होय है ? लोकका अग्र भाग विषैं है निवास जिनका ऐसा सिद्ध होय है ॥६७॥

अब केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके पश्चात् जीव कैसा हो जाता है, यह सूत्रकार आगे प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(तिहुवणपुज्जो) अरहन्त अवस्थामें तीन भुवनके जीवोंका पूज्य होकर, पुनः (सेसाणि) शेष (कम्मजालाणि) कर्मजालोंको (खविउ) क्षय करके (अभूदपुव्वो) अभूतपूर्व (लोयग्गणिवासिओ) लोकाग्रका निवासी (सिद्धो) सिद्ध परमात्मा (जायइ) हो जाता है।

टीकार्थ—'तिहुवणपुज्जो होउं' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ व्याख्यान करते हैं—ऊर्ध्व मध्य और अधोलोक इन तीनों भुवनोंके समाहारको त्रिभुवन कहते हैं। ऐसे त्रिभुवनसे पूजित होकर।

जायते ? भूतपूर्वो न, एवंविधोऽभूतपूर्वो जातः समुत्पन्नो जीव इति । पुनश्च कथम्भूतो भवति ? 'लोयग्गणिवासिओ सिद्धो' लोकाग्रनिवासी सिद्धो भवति । लोकाग्रे मोक्षालये निवासः स्थानं विद्यते यस्यासौ लोकाग्रनिवासी सिद्धः कृतकृत्यः परमात्मा परब्रह्मस्वरूप इत्यर्थः । इति ज्ञात्वा भो पुरुषसिंहामर्त्यसिंह, एवंविधः सिद्धो मनसा स्मरणीयो वचसा वक्तव्यः कायेन तदनुकूलमाचरणीयं शुभवता भवतेति भावार्थः ।।६७।।

अथ स एव सिद्धः पुनः कथम्भूतो भवतीति व्यक्तीकरोति सूत्रकर्ता । तद्यथा—

मूलगाथा—गमणागमणविहीणो फंदण-चलणेहि विरहिओ सिद्धो ।
अव्वाबाहसुहत्थो परमट्ठगुणेहिं संजुत्तो ।।६८।।

संस्कृतच्छाया—गमनागमनविहीनः स्पन्दन-चलनाभ्यां विरहितः सिद्धः ।
अव्याबाधसुखस्थः परमार्थगुणैः संयुक्तः ।।६८।।

टीका—'गमणागमणविहीणो' इत्यादि व्याख्यानं करोति वृत्तिकर्ता मुनिः । गमनागमनविहीना-गतिरग्रे आगमनं संसारे गमनागमनाभ्यां विहीनो रहितो भवतीति क्रियाध्याहारः क्रियते ।

वहुरि सिद्ध कैसा होय है ? सो कहैं हैं—

भा० व०—सिद्ध होय है । कैसा होय है ? गमन आगमन-रहित होय है । बहुरि चलनाचलन-रहित होय है, अकंप होय है, अव्याबाध सुखसहित है—बाधा-रहित सुख तन्मय होय है । अर परमार्थ गुण जे अनंत ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य केवलज्ञानादि परमार्थ गुण-संयुक्त होय है ।।६८।।

प्रश्न—पुनः क्या करके ?

उत्तर—'खविउ सेसाणि कम्मजालाणि' अर्थात् शेष कर्मोके जालको अर्थात् बारहवें गुणस्थानमें घात करनेसे शेष रहे जो चार अघातियाकर्म हैं, उन सबको क्षय करके ।

'जायइ अभूदपुव्वो' अर्थात् पूर्वकालमें जैसा कभी नहीं हुआ, ऐसा अभूतपूर्व होकर ।

प्रश्न—पुनः कैसा होता है ?

उत्तर—'लोयग्गणिवासिओ सिद्धो' अर्थात् लोकके अग्रभागमें—सिद्धालयमें निवास-स्थान है जिसका ऐसा लोकाग्र-निवासी कृतकृत्य परमब्रह्मस्वरूप सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

ऐसा जानकर हे पुरुषोंमें सिंहके समान श्रेष्ठ अमरसिंह ! भाग्यशाली आपके द्वारा उक्त प्रकारका सिद्ध परमात्मा मनसे सदा स्मरणीय, वचनसे कथनके योग्य और कायसे तदनुकूल आचरण करनेके योग्य है । यह इस गाथाका भावार्थ है ।।६७।।

अब वही सिद्ध परमात्मा कैसा होता है, यह सूत्रकार प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(गमणागमणविहीणो) गमन और आगमनसे रहित (फंदण-चलणेहि) परिस्पन्द और हलन-चलनसे रहित, (अव्वाबाहसुहत्थो) अव्याबाध सुखमें स्थित (परमट्ठगुणेहिं) परमार्थ या परम अष्टगुणोंसे (संजुत्तो) संयुक्त (सिद्धो) सिद्ध परमात्मा होता है ।

टीकार्थ—'गमणागमणविहीणो' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—वह सिद्ध परमात्मा गमन और आगमनसे रहित है । आगे जानेको गमन कहते हैं । संसारमें वापिस

पुनः किंविशिष्टः ? 'फदण-चलणेहि विरहिओ सिद्धो' परिस्पन्द-चलनाभ्यां विरहितो विरक्तः सिद्धो निष्पन्नो भवति। पुनश्च कथम्भूतोऽभूत् ? 'अव्वावाहसुहत्थो' अव्याबाधसुखस्थः अव्याबाधं बाधारहितं च तत्सुखं च अव्याबाधसुखम्, तस्मिन् स्थितो लीनस्तन्मयो भवतीत्यर्थः। पुनश्च किं विशिष्टः ? 'परमट्ठगुणेहिं संजुत्तो' परमार्थगुणैर्युक्तः,परमार्थाश्च ते केवलज्ञानादयो गुणाश्च परमार्थगुणास्तैर्युक्तः संयुक्तः परिणतः सन् सदा तिष्ठतीति मत्वा भो सविनयामरसिंहतनय लक्ष्मण ! तेषां सिद्धानां केवलज्ञानानन्तसुखाद्यनन्तगुणा भावनीया भवद्भिरिति भावार्थः ॥६८॥

अथानन्तरं पुनरपि सिद्धगुणानाविष्करोति सूत्रकृदिति--

मूलगाथा--लोयालोयं सव्वं जाणइ पेच्छइ करणकमरहियं।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणंतपज्जायगुणकलिए ॥६९॥

संस्कृतच्छाया—लोकालोकं सर्वं जानाति पश्यति करणक्रमरहितम्।
मूर्तामूर्तानि द्रव्याणि अनन्तपर्यायगुणकलितानि ॥६९॥

बहुरि सिद्ध कैसा होय है ?

भा० व०—समस्त लोकालोककूं करण-क्रम-रहित जानै है। जाकरि करिये सो तो करण कहिए। अर क्रम अनुक्रमतैं जानैं सो क्रम कहिए। सो सिद्ध करण-क्रम-रहित एकैकाल जानै है, देखै है मूर्तामूर्त द्रव्यनिकूं। मूर्त तो एक पुद्गल द्रव्य है, अर संसार-अपेक्षा जीव द्रव्य भी मूर्त है। अर द्रव्यार्थिक नयकरि अमूर्त है। बाकीके च्यारि धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य सर्वथा अमूर्त ही हैं। कैसे हैं द्रव्य ? अनंत पर्याय गुणनिकरि कलित कहिए व्याप्त ऐसे। तिनि सर्वनिकूं जानै है ॥६९॥

आनेको आगमन कहते हैं। यहां पर 'भवति' क्रियाका अध्याहार करना चाहिए। सिद्ध परमात्मा ऐसे गमन और आगमनसे रहित होता है।

प्रश्न—पुनः सिद्ध परमात्मा कैसा है ?

उत्तर—'फंदण-चलणेहि विरहिओ सिद्धो' अर्थात् परिस्पन्द और चलनसे सर्वथा रहित है। और सिद्ध है अर्थात् अपने सर्व कार्य सम्पन्न कर चुका है।

प्रश्न—पुनः कैसा है ?

उत्तर—'अव्वाबाहसुहत्थो' अर्थात् सर्व प्रकारकी बाधाओंसे रहित ऐसा जो अव्याबाध सुख है, उसमें स्थित है, लीन है अर्थात् तन्मय है।

प्रश्न—पुनः वह कैसा है ?

उत्तर—'परमट्ठगुणेहिं संजुत्तो' परमार्थ जो केवलज्ञानादि अनन्तगुण हैं, उनसे संयुक्त है, तद्रूप परिणत है।

ऐसे स्वरूपवाला परमात्मा सिद्धालयमें सदाकाल अवस्थित रहता है। ऐसा जानकर हे सविनय अमरसिंहके पुत्र लक्ष्मण ! आपको उन सिद्धोंके केवलज्ञान, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंकी भावना करनी चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६८॥

अब इसके पश्चात् सूत्रकार फिर भी सिद्धोंके गुणोंको प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(करणकमरहियं) इंद्रियोंके क्रमसे रहित एक साथ (सव्वं) सर्व (लोयालोयं)

टीका—'जाणइ पेच्छइ' इत्यादि, पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते टीकाकृता मुनिना। तद्यथा–जानाति पश्यति युगपदेककालम्। किं तत् ? 'लोयालोयं सव्वं' सर्वं लोकालोकम्। लोकश्चालोकश्च लोकालोकं द्वन्द्वैकत्वस्य स्मरणात्। कथं जानातीति ? 'करणकमरहियं' करणक्रमरहितम्, येन क्रियते तत्करणम्, क्रमोऽनुक्रमः, करणं च क्रमश्च करणक्रमौ, ताभ्यां रहितं यथा भवति तथा युगपज्जानाति पश्यति वेत्यर्थः। पुनः किं जानाति ? मुत्तामुत्ते दव्वे' मूर्तानि द्रव्याणि मूर्तपुद्गलद्रव्यमेकम्, संसारापेक्षया जीवद्रव्यमपि मूर्त्तम्, द्रव्यार्थिकनयेनामूर्तम्। शेषाणि चत्वारि धर्माधर्माकाशकालानि द्रव्याणि सर्वथाऽमूर्तानि। पुनः कथम्भूतानि ! 'अणंतपज्जायगुणकलिए' अनन्तपर्यायगुणकलितानि, पर्यायश्च गुणाश्च पर्यायगुणाः, अनन्ताश्च ते पर्यायगुणाश्च अनन्तपर्यायगुणास्तैः कलितानि संयुक्तानि सर्वाणि द्रव्याणि सर्वतो जानाति पश्यतीति भावार्थः ॥६९॥

लोक और अलोकको, तथा (अणंतपज्जायगुणकलिए) अनन्त पर्याय और अनन्त गुणोंसे संयुक्त सभी (मुत्तामुत्ते दव्वे) मूर्त और अमूर्त द्रव्योंको (जाणइ) जानता है और (पेच्छइ) देखता है।

टीकार्थ—'जाणइ पेच्छइ' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि अर्थ-व्याख्यान करते हैं—सिद्ध परमात्मा युगपद् एक ही कालमें जानते और देखते हैं।

प्रश्न--क्या जानते और देखते हैं ?

उत्तर--'लोयालोयं सव्वं' लोक और अलोकका द्वन्द्व समासरूप लोकालोकको जानते और देखते हैं।

प्रश्न—कैसे जानते-देखते हैं ?

उत्तर—'करणकमरहियं' अर्थात् करण और क्रमसे रहित जानते और देखते हैं। जिसके द्वारा कार्य किया जावे उसे करण कहते हैं और अनुक्रमको क्रम कहते हैं। इन करण और क्रमसे रहित एक साथ जानते-देखते हैं।

प्रश्न—पुनः किनको जानते-देखते हैं ?

उत्तर—'मुत्तामुत्ते दव्वे' अर्थात् मूर्त्त एक पुद्गल द्रव्यको, और संसारकी अपेक्षा मूर्त्त हो रहे जीवद्रव्यको भी, क्योंकि द्रव्यार्थिकनयसे जीव अमूर्त्त है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सर्वथा अमूर्त्त हैं, इन सबको जानते देखते हैं।

प्रश्न—पुनः ये सब द्रव्य कैसे हैं ?

उत्तर—'अणंतपज्जायगुणकलिए' अर्थात् अनन्त पर्यायोंसे और अनन्त गुणोंसे कलित या संयुक्त ये सब मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्य हैं।

उन सब मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्योंको उनके अनन्त गुण और पर्यायसे संयुक्त एक साथ सिद्ध परमात्मा जानते और देखते हैं। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥६९॥

अथानन्तरं स सिद्धः सिद्धालये कियन्तं कालं तिष्ठतीति कथयन्ति श्रीदेवसेनदेवाः—

मूलगाथा—धम्माभावे परदो गमणं णत्थि त्ति तस्स सिद्धस्स।
अच्छइ अणंतकालं लोयग्गणिवासिओ होउ ॥७०॥

संस्कृतच्छाया—धर्माभावे परतो गमनं नास्तीति तस्य सिद्धस्य।
तिष्ठत्यनन्तकालं लोकाग्रनिवासी भूत्वा ॥७०॥

टीका—'परदो गमणं णत्थि त्ति तस्स सिद्धस्स' इति विशेषेण विवृणोति टीकाकारः—तस्य पूर्वोक्तस्य सिद्धस्य परतो गमनं नास्तीति, परस्मिन् परस्माद् वा परतः। कस्मात्? लोकाग्रतः सकाशात्। कस्मिन् सति? 'धम्माभावे' धर्माभावे सति, धर्मद्रव्यस्याभावे। तर्हि किं करोतीति? 'अच्छइ अणंतकालं' तत्रैव कालमनन्तं तिष्ठति। किं कुर्वन् सन्? 'लोयग्गणिवासिओ होउ' लोकाग्रे निवासी भूत्वा, लोकाग्रे निवासोऽस्यास्तीति मत्वा लोकाग्रगमने यत्नः कर्तव्यो भव्यजनैरिति भावः ॥७०॥

आगे सिद्धनिके लोकका अग्रभाग विषैं तिष्ठनेका हेतु कहै हैं—

भा० व०—धर्मद्रव्यका अभावकूं होत संतैं तिस सिद्धकैं लोकाग्र जो सिद्धशिला तातैं अन्यत्र गमन नाहीं है। अर लोकाग्रनिवासी होय करि अनंतकाल सिद्धालय विषैं तिष्ठै है। हो भव्य हो? तुम भी लोकाग्र निवास होनेका यत्न करहु ॥७०॥

अब इसके पश्चात् वे सिद्ध परमात्मा सिद्धालयमें कितने काल तक रहते हैं, यह श्री देवसेनदेव प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(तस्स सिद्धस्स) उस सिद्ध परमात्माका (धम्माभावे) धर्मद्रव्यका अभाव होनेसे (परदो) लोकसे परे अलोकमें (गमणं णत्थि त्ति) गमन नहीं है, इस कारण (लोयग्गणिवासिओ होउ) लोकाग्र निवासी होकर वहाँ (अणंतकालं) अनंत काल तक (अच्छइ) रहते हैं।

टीकार्थ—'परदो गमणं णत्थि त्ति तस्स सिद्धस्स' इत्यादि गाथाका टीकाकार विवरण करते हैं—उस पूर्वोक्त सिद्ध जीवका परे अर्थात् लोकके अग्रभागसे आगे गमन नहीं है।

प्रश्न—क्यों गमन नहीं है?

उत्तर—'धम्माभावे' अर्थात् धर्मद्रव्यका अभाव होनेसे गमन नहीं है।

प्रश्न—तो फिर सिद्ध जीव क्या करते हैं?

उत्तर—'अच्छइ अणंतकालं' अर्थात् लोकाग्रमें वहीं अनन्तकाल तक रहते हैं।

प्रश्न—क्या करते हुए रहते हैं?

उत्तर—लोकाग्रके अर्थात् सिद्धालयके निवासी होकर रहते हैं। लोकके अग्रभागमें जिसका निवास हो उसे लोकाग्रनिवासी कहते हैं।

ऐसा जानकर लोकाग्रमें जानेका यत्न भव्यजनोंको करना चाहिए ॥७०॥

अथानन्तरं मुक्तजीवस्वरूपविशेषव्याख्यानं क्रियते श्रीदेवसेनदेवैरिति—

मूलगाथा—संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छेइ तह य तिरियं वा ।
उड्ढगमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ॥७१॥

संस्कृतच्छाया—सत्यपिधर्मद्रव्येऽधो न गच्छति तथैव तिर्यक् वा ।
ऊर्ध्वगमनस्वभावो मुक्तो जीवो भवेद् यस्मात् ॥७१॥

टीका—'संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छेइ तह य तिरियं वा' इत्यादि व्याख्यानं करोति टीकाकारो मुनिः । तद्यथा-धर्मद्रव्ये गमनहेतौ सति स सिद्धः सन् अधो न गच्छेत्, तथैव तिर्यग् न गच्छेन्नयातीति । कस्मात् ? 'उड्ढगमणसहावो मुक्को जीवो हवे जम्हा' यस्मात् कारणाद् ऊर्ध्वगतिस्वभावोऽयं जीवो यदा कर्मभ्यो मुक्तो भवेत्तदोर्ध्वमेव गच्छति । अथवा यतः प्रदेशान्मुक्तो भवेत्ततोऽधस्तात्तिर्यग्वा न गच्छतीति भावार्थः ॥७१॥

आगें ऊर्ध्वगमनका हेतु कहैं हैं—

भा० व०—धर्मद्रव्य गमनका हेतु होत संतें सो सिद्ध अधैं नांही गमन करै है, तैसें तिरछा हू गमन नांही करै है। याही कारणतें मुक्त जीव है सो ऊर्ध्वगमन स्वभाव होय है ॥७१॥

अब इससे अनन्तर श्री देवसेनदेव मुक्तजीवके स्वरूपका विशेष व्याख्यान करते हैं—

अन्वयार्थ—(मुक्को जीवो) कर्मोंसे मुक्त हुआ जीव (धम्म दव्वे संते वि) धर्म द्रव्यके होने पर भी (अहो ण गच्छेइ) नीचे नहीं जाता है, (तह य तिरियं वा) उसी प्रकार तिरछा भी नहीं जाता है। (जम्हा) क्योंकि मुक्त जीव (उड्ढगमणसहाओ) ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला (हवे) है।

टीकार्थ—'संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छेइ तह य तिरियं वा' इत्यादि गाथाका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं। यथा—गमनका हेतु धर्म द्रव्यके होने पर भी सिद्ध जीव न नीचे जाता है, उसी प्रकार न तिरछा जाता है।

प्रश्न—किस कारणसे ?

उत्तर—'उड्ढगमणसहावो मुक्को जीवो हवे जम्हा' अर्थात् जिस कारणसे कि यह जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है। जब यह कर्मोंसे मुक्त होता है, तब नियमसे ऊपर ही जाता है। अथवा आकाश-प्रदेशसे मुक्त होता है, उससे नीचे या तिरछे नहीं जाता है (किन्तु ऊपर लोकाग्र तक ही जाता है।) यह इस गाथाका भावार्थ है ॥७१॥

अथानन्तरं मुक्तजीवानां संख्याज्ञाने शङ्कायां सत्यां श्रीदेवसेनदेवा आहुरिति—

मूलगाथा—असरीरा जीव घणा चरमसरीरा हवंति किंचूणा ।
जम्मण-मरण-विमुक्का णमामि सव्वे पुणो सिद्धा ।।७२।।

संस्कृतच्छाया—अशरीरा जीवघनाश्चरमशरीरा भवन्ति किञ्चिदूनाः ।
जन्म-मरण विमुक्ता नमामि सर्वान् पुनः सिद्धान् ।।७२।।

टीका—'अशरीरा जीवघणा' इत्यादि व्याख्यानं क्रियते टीकाकर्त्रा मुनिना । 'अशरीरा जीवा' द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहिता अमूर्ता सिद्धा ये जातास्ते कतिसंख्योपेता ? घना बहवो जाताः । पुनश्च कथम्भूताः ? 'चरमसरीरा हवंति किंचूणा' किञ्चिदूनाकारा भवन्ति । कस्मात् ? चरमशरीरात्पूर्वभवगृहीतमनुष्यशरीराच्छकाशान्नूना भवन्ति मुखोदरकर्णघ्राणस्थानेषु रिक्ता भवन्तीति । पुनः किंविशिष्टाः ? 'जम्मण-मरण-विमुक्का' जन्म-मरण-विमुक्ता जन्म चोत्पत्तिः, मरणं च जन्ममरणे, ताभ्यां विमुक्ता रहिता ये सिद्धा अर्थाज्जरयापि त्यक्ताः । 'णमामि सव्वे

बहुरि सिद्ध कैसे हैं ?

भा० व०—'अशरीरा जीवा' द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म रहित अमूर्त ऐसे सिद्ध भये ते कितने हैं ? घने बहुत अनंत ऐसे । बहुरि कैसे हैं सिद्ध ? किंचित् ऊन आकार होय हैं ? काहे तैं ऊन होय हैं ? चरम शरीरतैं । पूर्वभव गृहीत मनुष्य शरीरतैं न्यून होय हैं, मुख, उदर, कर्ण, घ्राण स्थान तिनि विषैं रीता होय है । बहुरि कैसे होय हैं ? जन्म-मरण-रहित । ऐसे जे सिद्ध तिन सर्वनिकूं नमस्कार करूं हूं । इहां टीकाकार ऐसा लिखा है—जो संसार-भीरु **अमरसिंह**, तूं भी सिद्धनिकूं नमस्कार करि । अैसा आशय जाननां ।।७२।।

अब इसके अनन्तर मुक्त जीवोंकी संख्या सम्बन्धी ज्ञानमें शंका होने पर उसका समाधान करते हुए श्री देवसेनदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पुणो) पुनः (सिद्धा जीवा) वे सिद्ध जीव (असरीरा) शरीर रहित हैं, (घणा) अर्थात् बहुत घने हैं, (किंचूणा) कुछ कम (चरम सरीरा) चरम शरीर प्रमाण हैं, (जन्म-मरण-विमुक्का) जन्म और मरण से रहित हैं। ऐसे (सव्वे सिद्धा) सर्व सिद्धोंको (णमामि) मैं नमस्कार करता हूँ ।

टीकार्थ—'असरीरा जीवघणा' इत्यादि गाथाके अर्थका टीकाकार मुनि व्याख्यान करते हैं—'असरीरा जीवा' जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्मसे रहित अमूर्त सिद्ध हो गये हैं, वे कितने हैं ? घन अर्थात् बहुत हैं—अनन्त हैं ।

प्रश्न—पुनः कैसे हैं ?

उत्तर—'चरमसरीरा हवंति किंचूणा' अर्थात् कुछ कम आकार वाले होते हैं ।

प्रश्न—किससे कुछ कम आकार वाले होते हैं ?

उत्तर—चरम शरीरसे । पूर्व भवमें ग्रहण किये गये मनुष्य-शरीरसे न्यून होते हैं, क्योंकि वे मुख, उदर, कान और घ्राण स्थानोंमें जो पोल होती है उससे रहित हो जाते हैं ।

पुणो सिद्धा' पुनस्तानेवं विधान् सर्वान् सिद्धान् नमामि नमस्करोमि, भावनमस्कारेण नमस्करोति सूत्रकर्त्ता। तथाऽहमपि वृत्तिकर्ता प्रणमामि सिद्धान् सिद्धस्वरूपांस्तानिति भो संसारभीरो अमरसिंह ! त्वमपि नमस्कुरु मनसेति भावः ।।७२।।

अथानन्तरं श्रीदेवसेनदेवोऽस्य तत्त्वसारस्य कर्ता फलप्राप्तिपूर्वकमाशीर्वादं ब्रवीति—

मूलगाथा—जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरं विसमं ।
तं भव्वजीवसरणं णंदउ सग-परगयं तच्चं ।।७३।।

संस्कृतच्छाया—यदालीना जीवास्तरन्ति संसारसागरं विषमम् ।
तद्भव्यजीवशरणं नन्दतु स्वक-परगतं तत्त्वम् ।।७३।।

आगैं तत्त्वकौं आशीर्वाद देते कहैं हैं—

भा० व०—सो तत्त्व हैं सो 'नंदतु' निर्विघ्न जैसैं होय तैसैं चिरकाल स्थायी, चिरकाल तिष्ठने वाला होहु। कैसा है तत्त्व ? स्वगत परगत ऐसा पूर्वें वर्णन कीया स्वरूप ! तत्त्वज्ञान-लालश रूप श्री अमरसिंह कह्या-–भो भगवन् मुने, सो तत्त्व कहा स्वरूप ? या प्रकार कहै हैं सो तत्त्व कह्या स्वगत तत्त्व है स्वस्वरूप स्वात्मरूप, अर परगतरूप पंचपरमेष्ठिस्वरूप, या प्रकार है। बहुरि कैसा है ? भव्यजीवनि कैं शरण ऐसा तत्त्व हैं। सो जा तत्त्वमें तल्लीन ऐसे जे भव्य-जीव जे हैं ते संसार सो ही भया सागर समुद्र ताकूं तिरै हैं। कैसा हैं संसार सागर ? विषम है ।।।७३।।

प्रश्न—पुनः वे सिद्ध कैसे हैं ?

उत्तर—'जम्मण-मरण-विमुक्का' अर्थात् जन्म-नवीन भवकी उत्पत्ति और मरण इन दोनोंसे विमुक्त-रहित हो जाते हैं। जन्म और मरणके मध्य होनेवाली जरा-वृद्धावस्थासे भी वे रहित हो जाते हैं।

'णमामि सव्वे पुणो सिद्धा' अर्थात् उक्त प्रकारके सर्वसिद्धोंको मैं पुनः नमस्कार करता हूँ। जिस प्रकार सूत्रकार श्री देवसेन भाव नमस्कारसे सिद्धोंको नमस्कार कर रहे हैं, उसी प्रकार मैं टीकाकार कमलकीर्ति भी उन सर्वसिद्धोंको नमस्कार करता हूँ। तथा हे संसारभीरु अमरसिंह ! तुम भी उन सिद्धोंको मनसे नमस्कार करो। यह इस गाथाका भावार्थ है ।।७२।।

अब इसके अनन्तर इस तत्त्वसारके कर्ता श्री देवसेनदेव फल-प्राप्ति-पूर्वक आशीर्वाद कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जं अल्लीणा) जिसमें तल्लीन हुए (जीवा) जीव (विसमं) विषम (संसार-सायरं) संसार समुद्रको (तरंति) तिर जाते हैं (त) वह (भव्वजीवसरणं) भव्य जीवोंको शरणभूत (सग-परगयं) स्व और परगत (तच्चं) तत्त्व (णंदउ) सदा वृद्धिको प्राप्त हो।

टीका—'णंदउ सग-परगयं तच्चं' इत्यादि व्याख्यानं करोत्युत्तरोत्तरकर्ता भट्टारक श्रीकमलकीर्तिरिति–तत्तत्त्वं नन्दतु निर्विघ्नं यथा भवति तथा चिरकालस्थायी भूयादित्यर्थः। कथम्भूतं तत्त्वम्? स्वगत-परगतं स्वगततत्त्वं परगततत्त्वं च शास्त्रादावेवोक्तस्वरूपम्। इत्युक्ते तत्त्वपरिज्ञानलालसेन श्रीअमरसिंहेनोक्तम्–भो भगवन्मुने! तत्किंरूपम्? इत्याहतत्स्वगततत्त्वमात्मस्वरूपं परगततत्त्वं पंचपरमेष्ठिस्वरूपमिति। पुनश्च कथम्भूतम्? भव्यजीवशरणम्-भव्याश्च ते जीवाश्च भव्यजीवस्तेषामेव शरणीभूतं तत्त्वम्। पुनः कथम्भूतं तत्? 'जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरं विसमं' यत्तत्त्वमालीनाः–आ समन्ताल्लीनास्तन्मयाः सन्तो जीवा भव्यजीवास्तरन्ति संसारसागरं संसारश्चासौ सागरस्तम्। कथम्भूतम्? विषमम्, सर्वजनानन्दन भोः श्रीअमरसिंहनन्दन लक्ष्मण! दुस्तरत्वाद् विषम एव समो भवति यन्माहात्म्यात्तदेवोपादेय बुद्धया भावनीयं तत्त्वविदा पुरुषेण मनसि चिन्तनीयं वचसा वक्तव्यं कायेनाचरणीयमिति भावार्थः ॥७३॥

टीकार्थ—'णंदउ सग-परगयं तच्चं' इत्यादि गाथाका उत्तरोत्तर ग्रन्थकर्त्ता भट्टारक श्री कमलकीर्त्ति व्याख्यान करते हैं—वह तत्त्व 'नन्दतु' अर्थात् निर्विघ्न रहे, और चिरकाल तक स्थायी रहे।

प्रश्न—कैसा तत्त्व स्थायी रहे?

उत्तर—स्वगत तत्त्व और परगत तत्त्व, जिनका कि स्वरूप इस शास्त्रके आदिमें कहा गया है।

ऐसा कहने पर तत्त्व-परिज्ञान के अभिलाषी श्री अमरसिंहने कहा—हे भगवन् मुनि! वह तत्त्व किस रूप है? इसका उत्तर दिया कि स्वगततत्त्व आत्मस्वरूप है और परगततत्त्व पंच-परमेष्ठिस्वरूप है।

प्रश्न—पुनः वह तत्त्व कैसा है?

उत्तर—भव्य जो जीव हैं उनका शरणभूत है।

प्रश्न—पुनः वह तत्त्व कैसा है?

उत्तर—'जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरं विसमं' अर्थात् जिस तत्त्वमें सर्व प्रकारसे तल्लीन या तन्मय हुए भव्यजीव संसाररूप समुद्रको तिर जाते हैं।

प्रश्न—वह संसार-सागर कैसा है?

उत्तर—विषम है, दुस्तर एवं भयानक है।

हे सर्वजनोंको आनन्दित करने वाले श्री अमरसिंहके नन्दन लक्ष्मण! जिस तत्त्वके माहात्म्यसे दुस्तर और विषम भी संसार-सागर सुतर और सम हो जाता है, उसे ही तत्त्ववेत्ता पुरुषको उपादेयबुद्धिसे मनमें चिन्तन करना चाहिए, वचन कहना चाहिए और कायसे आचरण करना चाहिए। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥७३॥

अथानन्तरमेवाचार्यश्रीदेवसेनदेवास्तत्त्वसाराराधनाफलमाविष्कुर्वन्तीति। तद्यथा—

मूलगाथा—सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ।।७४।।

**संस्कृतच्छाया—श्रुत्वा तत्त्वसारं रचितं मुनिनाथ देवसेनेन।
यः सद्-दृष्टिः भावयति स प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यम् ।।७४।।**

टीका—'सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाहदेवसेणेण' इत्यादि व्याख्यानं क्रियते टीकाकारेण-'सोऊण' श्रुत्वा। कम् ? 'तच्चसारं' तस्य भावस्तत्त्वं जीवादि, तस्य सारो रहस्यस्तं तत्त्व-

---

आगैं ग्रन्थकर्ता ग्रन्थकूं समाप्त करता अपना नाम श्लेषालंकारकरि कहै हैं—

भा० व०—मुनिनिका नाथ देवसेन नाम आचार्य ताकरि, अथवा मुनिनिका नाथ होय सो तो मुनीनाथ कहिए देवसेन, 'दिवु क्रीड़ायां' दिवु धातु है सो क्रीडा अर्थ विषैं प्रवर्तै है, अपने स्वरूप विषैं रमैं हैं, सो देव जाननां। सेनः— सा लक्ष्मी केवलज्ञानादि ताका इन कहिए स्वामी सेन। ऐसा जो देवसेन कहिए मुनिका नाथ देवसेन, ता करि रच्या जो तत्त्व जीवादिक सप्त तत्त्व तिनका सार रहस्य सो तत्त्वसार कहिए। सो तत्त्वसारकूं सुनिकरि जो सम्यग्दृष्टि संशयादि-रहित समीचीन जो दृष्टि सो है विद्यमान जाकैं सो सम्यग्दृष्टि कहिए, भावना करै है, अनुभवै है, सो ही सम्यग्दृष्टि शाश्वत सुख जो अतीन्द्रिय मोक्षसुखकूं प्राप्त होय है ।।७४।।

दोहा

तत्त्वसारकी वचनिका भई भव्य सुखकार।
वांचै पढ़ै तिनिकैं सही हो है जय जयकार ।।१।।
वैशाख कृष्णा सप्तमी गुरुवार शुभ जान।
उगणीसैं इकतीस मित संवत्सर शुभ मान ।।२।।
लिखी वचनिका मंदमति पन्नालाल सुजान।
भविजन याकौं सोधियो क्षमा करहु बुधिवान ।।३।।

इति श्री देवसेनाचार्यकृत तत्त्वसार प्राकृतपाठ ताकी वचनिका पन्नालाल चौधरी कृता समाप्ता।

अब इसके पश्चात् आचार्य श्री देवसेनदेव तत्त्वसारकी आराधना का फल प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो सद्दिदट्ठी) जो सम्यग्दृष्टि (मुणिणाहदेवसेणेण) मुनिनाथ देवसेनके द्वारा (रइयं) रचित (तच्चसारं) इस तत्त्वसारको (सोऊण) सुनकर (भावइ) उसकी भावना करेगा, (सो) वह (सासयं सोक्खं) शाश्वत सुखको (पावइ) पावेगा।

टीकार्थ—'सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेणेण' इत्यादि गाथाका टीकाकार व्याख्यान करते हैं—जीवादि तत्त्वका सार जो रहस्य है, उसे सुनकर जो उसकी भावना करता है।

सारम्। कथम्भूतम्? 'रइयं' रचितं निर्मापितं ग्रथितम्। केन रचितम्? 'मुणिणाह देवसेणेण' मुनिनाथदेवसेनेन, मुनिनां नाथो मुनिनाथः। 'दिवु क्रीडायां' दीव्यति स्वरूपे देवः, सा लक्ष्मीः केवलज्ञानादिस्तस्या इनः स्वामी सेनः, देवश्चासौ सेनश्च देवसेनः, मुनिनाथश्चासौ देवसेनश्च मुनिनाथदेवसेनः। मुनिना अथशब्दो मङ्गलार्थमित्युक्तेऽत्र परमसुखामृतरसपिपासेन श्रीअमरसिंहेनोक्तम्—भो भट्टारक श्रीकमलकीर्तिमुने! अत्र मङ्गलस्यावसरः कः? इति पृष्टे सति उत्तरमाह—'आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुद्धैः' इतिन्यायाद् देवसेनेन मुनिना प्रोक्तमिति। 'जो सद्दिट्ठी भावइ' य एव सम्यग्दृष्टिः संशयादिता सती समीचीना दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः सन् भावयत्यनुभवति। 'सो पावइ सासयं सोक्खं' स एव सम्यग्दृष्टिः प्राप्नोति। किं तत्? सौख्यमतीन्द्रियम्। पुनश्च कथम्भूतम्? शाश्वतमविनश्वरं स्वाधीनं सुखं स्वरूपं प्राप्नोतीति भावार्थः ॥७४॥

●

प्रश्न—वह तत्त्वसार किसने रचा है?

उत्तर—मुनिनाथ देवसेनने रचा है, निर्माण किया है और ग्रथित किया है। मुनियोंके नाथ या स्वामीको मुनिनाथ कहते हैं 'दिवु' धातु क्रीड़ार्थक है, जो स्वरूपमें क्रीड़ा करता है, उसे देव कहते हैं। 'सा' नाम लक्ष्मीका है, जो केवलज्ञानादि रूप 'सा' लक्ष्मीका इन अर्थात् स्वामी है, वह सेन कहलाता है। इस प्रकार जो देव भी है और सेन भी है, तथा मुनिनाथ भी है, उस मुनिनाथ देवसेनने इस तत्त्वसार ग्रंथको रचा है।

'अथ' शब्द मंगलार्थक है, अतः 'मुनिना + अथ संधि करने पर देवसेन मुनिने इसे रचा है।

यहाँ पर परमसुखामृत रसके पिपासु श्री अमरसिंहने कहा—हे भट्टारक कमलकीर्त्ति मुनि! यहाँ मंगलका क्या अवसर है? ऐसा पूछनेपर टीकाकार उत्तर देते हैं—

'ज्ञानियोंने ग्रंथके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें मंगल करनेको कहा है' इस न्यायसे श्री देवसेन मुनिने ग्रंथके अन्तमें मंगलवाची 'अथ' शब्द कहा है।

'जो सद्दिट्ठी भावइ' अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि है, जिसकी दृष्टि संशयादिसे दूर होकर समीचीन हो गई है, ऐसा सम्यग्दृष्टि होकर जो इस तत्त्वसारकी भावना करता है, अनुभव करता है, 'सो पावइ सासयं सोक्खं' अर्थात् वही सम्यग्दृष्टि प्राप्त करता है।

प्रश्न—किसे प्राप्त करता है?

उत्तर—अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त करता है।

प्रश्न—पुनः कैसे सुखको प्राप्त करता है?

उत्तर—शाश्वत, अविनश्वर और स्वाधीन स्वरूपवाले सुखको प्राप्त करता है। यह इस गाथाका भावार्थ है ॥७४॥

●

टीकाकारकी प्रार्थना

ग्रन्थेऽस्मिन् भावनारूपे पुनरुक्तस्य दूषणम् ।
भावविद्भिर्न तद्‌ग्राह्यं ज्ञान-वैराग्यभूषणम् ॥१॥

इति तत्त्वं स्व-परगतं प्रोक्तं संक्षेपमात्रतोऽपि मया ।
सम्यग् यदि विस्तरतो ब्रूते जिनसन्मतिः सत्यम् ॥२॥

इति कतिपयवर्णैर्वर्णिताऽध्यात्मसारा परमसुखसहाया तत्त्वसारस्य टीका ।
अवगतपरमार्थाः शोध्य चैनां पठन्तु सुरमृगपतिकण्ठे हारभूतां सुरम्याम् ॥३॥

यावन्मेरु-मही-स्वर्ग-कुलाद्रि-गगनापगाः ।
तत्त्वसारस्य टीकेयं तावन्नन्दतु भूतले ॥४॥

इति तत्त्वसारविस्तारावतारेऽत्यासन्नभव्यजनानन्दकरे भट्टारकश्रीकमलकीर्तिदेव-विरचिते
कायस्थ माथुरान्वयशिरोमणीभूत-भव्यवरपुण्डरीकामरसिंहमानसारविन्ददिन-
करे सिद्धस्वरूपवर्णनं नाम षष्ठं पर्व समाप्तम् ।

सिद्धाः सिद्धिं प्रदास्ते स्युः प्रसिद्धाष्टगुणैर्युताः ।
भोऽमर्त्यसिंह भो शुद्धाः प्रसिद्धाः जगतां त्रये ॥५॥

(इत्याशीर्वादः)

भावनारूप इस ग्रन्थमें पुनरुक्तका दोष भाववेत्ता जनोंको ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि ग्राह्य तत्त्वका वार-वार कथन ज्ञान और वैराग्यका भूषण है ॥१॥

इस प्रकार स्वगत और परगत तत्त्वको मुझ टीकाकारने भी संक्षेपरूपसे कहा है। इस तत्त्वको तो विस्तारसे सत्यरूपमें श्री सन्मतिजिन ही कह सकते हैं ॥२॥

इस प्रकार अध्यात्मसारभूत और परम सुखमें सहायक, यह तत्त्वसारकी टीका मैंने कुछ वर्णोंके द्वारा वर्णनकी है। जो परमार्थके वेत्ता हैं, वे अमरसिंहके कण्ठमें हारभूत इस सुरम्य रचनाको यदि कहीं कोई अशुद्धि हो तो शोध करके पढ़ें ॥३॥

जब तक इस भूतलपर मेरुपर्वत, पृथ्वी, स्वर्ग कुलाचल, आकाश-गंगा हैं तब तक तत्त्वसार-की यह टीका स्थायी रहे ।।४।।

इस प्रकार अतिनिकट भव्यजनोंको आनन्दकारक, भट्टारक श्री कमलकीर्त्तिदेव-विरचित, कायस्थ माथुरान्वय शिरोमणिभूत, भव्यवर पुण्डरीक अमरसिंहके मानस-अरविन्दको विकसित करनेके लिए दिनकरके समान इस तत्त्वके विस्तारावतारमें सिद्धोंके स्वरूपका वर्णन करनेवाला यह छठा पर्व समाप्त हुआ।

हे अमरसिंह ! जो तीन जगत्में प्रसिद्ध हैं, प्रसिद्ध आठ गुणोंसे संयुक्त हैं ऐसे शुद्ध सिद्ध तुझे सिद्धि प्रदान करने वाले हों ॥५॥ (इति आशीर्वादः)

ग्रन्थके टीकाकारकी प्रशस्ति

श्रीमन्माथुरगच्छ पुष्करगणे श्रीकाष्ठसंघे मुनिः
सम्भूतो यतिसंघनायकमणिः श्रीक्षेमकीर्तिर्महान् ।
तत्पट्टाम्बरचन्द्रमा गुणगणी श्रीहेमकीर्तिर्गुरुः
श्रीमत्संयमकीर्तिपूरितदिशापूरो गरीयानभूत् ॥६॥
अभवदमलकीर्तिस्तत्पदाम्भोजभानु—
र्मुनिगणनुतकीर्तिर्विश्वविख्यातकीर्तिः ।
शम-यम-दममूर्त्तिः खण्डिताराति कीर्ति—
र्जगति कमलकीर्तिः प्रार्थितज्ञानमूर्तिः ॥७॥

(इति ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः)

●

श्रीमान् माथुरगच्छ, और पुष्करगणमें श्री काष्ठासंघके भीतर यति-संघके नायक-मणि श्री क्षेमकीर्ति नामके महामुनि हुए। उनके पट्टरूप गगनके चन्द्र, गुण-गणी श्री हेमकीर्ति गुरु हुए जिन्होंने अपने गरिमावाले संयमकी कीर्तिसे सर्वदिशाओंको पूरित कर दिया था ॥६॥

उनके चरण-कमलोंको भानु-सदृश विकसित करने वाले, जिनकी निर्मल कीर्त्ति मुनिगणसे स्तुत एवं विश्वविख्यात है, ऐसे शिष्य कमलकीर्त्ति हुए, जो शम, यम और दमकी मूर्त्ति हैं, शत्रुओंकी कीर्त्तिको खण्डित करनेवाले हैं और जगतमें जो ज्ञानमूर्त्तिरूपसे प्रार्थना किये जाते हैं ॥७॥

(इति ग्रन्थकार प्रशस्ति)

●

तत्त्वसार भाषा

भाषा छन्दोबद्धकारका मंगलाचरण

दोहा

आदिसुखी अन्तःसुखी, शुद्ध सिद्ध भगवान्।
निज प्रताप परताप विन, जगदर्पन जग आन ॥ १ ॥

ध्यान दहन विधि-काठ दहि, अमल सुद्ध लहि भाव।
परम जोतिपद वंदिकै, कहूँ तत्त्वकौ राव ॥ १ ॥

चौपाई

तत्त्व कहे नाना परकार, आचारज इस लोकमँझार।
भविक जीव प्रतिबोधन काज, धर्मप्रवर्तन श्रीजिनराज ॥ २ ॥
आतमतत्त्व कह्यौ गणधार, स्वपरभेदतैं दोइ प्रकार।
अपनौ जीव स्वतत्त्व वखानि, पर अरहंत आदि जिय जानि ॥ ३ ॥
अरहंतादिक अच्छर जेह, अरथ सहित ध्यावै धरि नेह।
विविध प्रकार पुन्य उपजाय, परंपराय होय सिवराय ॥ ४ ॥
आतमतत्त्वतने द्वै भेद, निरविकलप सविकलप निवेद।
निरविकलप संवरकौ मूल, विकलप आस्रव यह जिय भूल ॥ ५ ॥
जहां न व्यापै विषय विकार, ह्वै मन अचल चपलता डार।
सो अविकल्प कहावै तत्त, सोई आपरूप है सत्त ॥ ६ ॥
मन थिर होत विकल्पसमूह, नास होत न रहै कछु रूह।
सुद्ध स्वभावविषै ह्वै लीन, सो अविकल्प अचल परवीन ॥ ७ ॥
सुद्धभाव आतम दृग ग्यान, चारित सुद्ध चेतनावान।
इन्हैं आदि एकारथ वाच, इनमैं मगन होइकै राच ॥ ८ ॥
परिग्रह त्याग होय निरग्रन्थ, भजि अविकल्प तत्त्व सिवपंथ।
सार यही है और न कोय, जानै सुद्ध सुद्ध सो होय ॥ ९ ॥
अन्तर वाहिर परिग्रह जेह, मनवच तनसौं छांड़े नेह।
सुद्धभाव धारक जब होय, यथा ग्यान मुनिपद है सोय ॥ १० ॥

जीवन मरन लाभ अरु हान, सुखद मित्र रिपु गनै समान।
राग न रोष करै परकाज, ध्यान जोग सोई मुनिराज ॥११॥
काललब्धिबल सम्यक वरै, नूतन बंध न कारज करै।
पूरब उदै देह खिरि जाहि, जीवन मुकत भविक जगमाहि ॥१२॥
जैसै चरनरहित नर पंग, चढ़न सकत गिरि मेरु उतंग।
त्यौं बिन साधु ध्यान अभ्यास, चाहै करौ करमकौ नास ॥१३॥
संकितचित्त सुमारग नाहिं, विषैलीन बांछा उरमाहिं।
ऐसैं आप्त कहैं निरवान, पंचमकाल विषैं नहिं जान ॥१४॥
आतमग्यान दृग[1] चारितवान, आतम ध्याय लहै सुरथान।
मनुज होय पावै निरवान, तातैं यहां मुकति मग जान ॥१५॥
यह उपदेस जानि रे जीव, करि इतनौ अभ्यास सदीव।
रागादिक तजि आतम ध्याय, अटल होय सुख दुख मिटि जाय ॥१६॥
आप प्रमान प्रकास प्रमान, लोक प्रमान, सरीर समान।
दरसन ग्यानवान परधान, परतैं आन आतमा जान ॥१७॥
राग विरोध मोह तजि वीर, तजि विकलप मन वचन सरीर।
ह्वै निचिंत चिंता सब हारि, सुद्ध निरंजन आप निहारि ॥१८॥
क्रोध मान माया नहिं लोभ, लेस्या सल्य जहाँ नहिं सोभ।
जन्म जरा मृतुकौ नहिं लेस, सो मैं सुद्ध निरंजन भेस ॥१९॥
बंध उदै हिय लब्धि न कोय, जीवथान संठान न होय।
चौदह मारगना गुनथान, काल न कोय चेतना ठान ॥२०॥
फरस वरन रस सुर नहि गंध, वरग[2] वरगना[3] जास न खंध[4]।
नहिं पुदगल नहिं जीवविभाव, सो मैं सुद्ध निरंजन राव ॥२१॥
विविध भाँति पुदगल परजाय, देह आदि भाषी जिनराय।
चेतनकी कहियै व्योहार, निहचैं भिन्न-भिन्न निरधार ॥२२॥
जैसैं एकमेक जल खीर, तैसैं आनौ जीव सरीर।
मिलैं एक पै जुदे त्रिकाल, तजै न कोऊ अपनी चाल ॥२३॥

---

१. सम्यग्दर्शन। २. समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्मपरमाणुको वर्ग कहते हैं।
३. वर्गके समूहको वर्गणा कहते हैं। ४. स्कन्ध।

नीर खीरसौं न्यारौ होय, छांछिमाहिं डारै जो कोय।
त्यौं ग्यानी अनुभौ अनुसरै, चेतन जड़सौं न्यारौ करै ॥२४॥

दोहा

चेतन जड़ न्यारौ करै, सम्यकदृष्टी भूप।
जड़ तजिकैं चेतन गहै, परमहंसचिद्रूप ॥२५॥
ज्ञानवान अमलान प्रभु, जो सिवखेतमँझार।
सो आतम मम घट बसै, निहचै फेर न सार ॥२६॥
सिद्ध सुद्ध नित एक मैं, ¹ग्यान आदि गुणखान।
अगन प्रदेस अमूरती, तन प्रमान तन आन ॥२७॥
सिद्ध सुद्ध नित एक मैं, निरालम्ब भगवान्।
करमरहित आनंदमय, अभै² अखै³ जग जान ॥२८॥
मनथिर होत विषै घटै, आतमतत्त्व अनूप।
ज्ञान ध्यान बल साधिकै, प्रगटै ब्रह्मसरूप ॥२९॥
अंबर घन फट प्रगट रवि, भूपर करै उदोत।
विषय कषाय घटावतैं, जिय प्रकास जग होत ॥३०॥
मन वच काय विकार तजि, निरविकारता धार।
प्रगट होय निज आतमा, परमातमपद सार ॥३१॥
मौनगहित आसन सहित, चित्त चलाचल खोय।
पूरब सत्तामैं गलैं, नये रुकैं सिव होय ॥३२॥
भव्य करैं चिरकाल तप, लहैं न शिव विन ग्यान।
ग्यानवान ततकाल ही, पावैं पद निरवान ॥३३॥
देह आदि परद्रव्यमैं, ममता करै गँवार।
भयौ परसमैं लीन सो, बांधै कर्म अपार ॥३४॥
इंद्रीविषै मगन रहै, राग दोष घटमाहिं।
क्रोध मान कलुषित कुधी, ग्यानी ऐसौ नाहिं ॥३५॥
देखौ सो चेतन नहीं, चेतन देखौ नाहिं।
राग दोष किहिसौं करौं, हौं मैं समतामाहिं ॥३६॥

---

१. निर्भय। २. अक्षय। ३. आकाशमें।

थावर जंगम मित्र रिपु, देखै आप समान।
राग विरोध करै नहीं, सोई समतावान ॥३७॥
सब असंखपरदेसजुत, जनमै मरै न कोय।
गुणअनंत चेतनमई, दिव्यदृष्टि धरि जोय ॥३८॥
निहचै रूप अभेद है, भेदरूप ब्योहार।
स्यादवाद मानै सदा, तजि रागादि विकार ॥३९॥
राग दोष कल्लोलबिन, जो मन जल थिर होय।
सो देखै निजरूपकौं, और न देखै कोय ॥४०॥
अमल सुथिर सरवर भयैं, दीसै रतनभण्डार।
त्यौं मन निरमल थिरविषैं, दीसै चेतन सार ॥४१॥
देखौं विमलसरूपकौं, इन्द्रियविषै विसार।
होय मुकति खिन आधमैं, तजि नरभौ अवतार ॥४२॥
ग्यानरूप निज आतमा, जड़सरूप पर[1] मान।
जड़तजि चेतन ध्याइयै, सुद्धभाव सुखदान ॥४३॥
निरमल रत्नत्रय धरैं, सहित भाव वैराग।
चेतन लखि अनुभौ करैं, वीतरागपद जाग ॥४४॥
देखै जानै अनुसरै, आपविषैं जब आप।
निरमल रत्नत्रय तहां जहां न पुन्य न पाप ॥४५॥
थिर समाधि वैरागजुत, होय न ध्यावै आप।
भागहीन कैसैं करै, रतन विसुद्ध मिलाप ॥४६॥
विषयसुखनमैं मगन जो, लहै न सुद्ध विचार।
ध्यानवान विषयनि तजै लहै तत्त्व अविकार ॥४७॥
अथिर अचेतन जड़मई, देह महादुखदान।
जो यासौं ममता करै, सो वहिरातम जान ॥४८॥
सरै परै आमय[2] धरै, जरै मरै तन एह।
हरि ममता समता करै, सो न वरै पन-देह ॥४९॥
पापउदैकौं साधि, तप, करै विविध परकार।
सो आवै जो सहज ही, बड़ो लाभ है सार ॥५०॥

१. पर अर्थात् शरीरादि पुद्गल। २. रोग।

करमउदय फल भोगतें, करै न राग विरोध।
सो नासै पूरव करम, आगैं करै निरोध[1] ॥५१॥

चौपाई (१५ मात्रा)

कर्मउदै सुख दुख संजोग, भोगत करैं सुभासुभ लोग।
तातैं बांधैं करम अपार, ग्यानावरनादिक अनिवार ॥५२॥
जबलौं परमानूसम राग, तबलौं करम सकैं नहिं त्याग।
परमारथ ग्यायक मुनि सोय, राग तजैं बिनु काज न होय ॥५३॥
सुख दुख सहै करम वस साध, करै न राग विरोध उपाध।
ग्यानध्यानमैं थिर तपवंत, सो मुनि करै कर्मको अन्त ॥५४॥
गहै नहीं पर तजै न आप, करै निरन्तर आतमजाप।
ताकैं संवर निर्जर होय, आस्रव बंध विनासै सोय ॥५५॥
तजि परभाव चित्त थिर कीन, आप-स्वभावविषैं ह्वै लीन।
सोई ग्यानवान दृगवान, सोई चारितवान प्रधान ॥५६॥
आतमचारित दरसन ग्यान, सुद्धचेतना विमल सुजान।
कथन भेद है वस्तु अभेद, सुखी अभेद भेदमैं खेद ॥५७॥
जो मुनि थिर करि मनवचकाय, त्यागै राग दोष समुदाय।
धरै ध्यान निज सुद्धसरूप, विलसै परमानंद अनूप ॥५८॥
जिह जोगी मन थिर नहिं कीन, जाकी सकति करम आधीन।
करइ कहा न फुरे बल तास, लहै न चेतन सुखकी रास ॥५९॥
जोग दियौ मुनि मनवचकाय, मन किंचित चलि बाहिर जाय।
परमानंद परम सुखकंद, प्रगट न होय घटामैं[2] चंद ॥६०॥
सब संकल्प विकल्प विहंड, प्रगटै आतमजोति अखण्ड।
अविनासी सिवको अंकूर, सो लखि साध करमदल चूर ॥६१॥
विषय कषाय भाव करि नास, सुद्धसुभाव देखि जिनपास।
ताहि जानि परसौं[3] तजि काज, तहां लीन हूजै मुनिराज ॥६२॥
विषय भोगसेती उचटाइ, सुद्धतत्त्वमैं चित्त लगाइ।
होय निरास आस सब हरै, एक ध्यानअसिसौं[4] मन मरै ॥६३॥

---

१. संवर। २. बादलोंकी घटामें। ३. परसौं—परपदार्थोंसे। ४. ध्यानरूपी तलवारसे।

मरै न मन जो जीवै मोह, मोह मरैं मन जनमन होय ।
ज्ञानदर्श आवर्न पलाय, अन्तरायकी सत्ता जाय ।।६४।।
जैसैं भूप नसैं सब सैन, भाग जाइ न दिखावै नैन ।
तैसैं मोह नास जब होय, कर्मघातिया रहै न कोय ।।६५।।
कीनैं चारिघातिया हान, उपजै निरमल केवलग्यान ।
लोकालोक त्रिकाल प्रकास, एक समैंमैं सुखकी रास ।।६६।।
त्रिभुवन इन्द्र नमैं कर जोर, भाजैं दोषचोर लखि भोर ।
आवँ जु नाम गोत वेदनी, नासि भयैं नूतन सिवधनी ।।६७।।
आवागमनरहित निरबंध, अरस अरूप अफास अगंध ।
अचल अबाधित सुख विलसंत, सम्यकआदि अष्टगुणवंत ।।६८।।
मूरतिवंत अमूरतिवंत, गुण अनंत परजाय अनंत ।
लोक अलोक त्रिकाल विथार, देखै जानै एकहि वार ।।६९।।

सोरठा

लोकसिखर तनुवात, कालअनंत तहां बसै ।
धरमद्रव्य विख्यात, जहां तहां लौं थिर रहै ।।७०।।
ऊरधगमन सुभाव, तातैं वंक चलै नहीं ।
लोकअंत ठहराव, आगैं धर्मदरव नहीं ।।७१।।
रहित जन्म मृति एह, चरमदेहतैं कछु कमी ।
जीव अनंत विदेहैं, सिद्ध सकल वंदौं सदा ।।७२।।
ते हैं भव्य सहाय, जे दुस्तर भवदधि तरैं ।
तत्त्वसार यह गाय, जैवंतौ प्रगटौ सदा ।।७३।।
देवसेन मुनिराज, तत्त्वसार आगम कह्यौ ।
जो ध्यावै हितकाज, सो ग्याता सिवसुख लहै ।।७४।।

---

१. राजाके मर जानेपर ।
२. आयुःकर्म ।
३. अनंतज्ञान वीर्य सुख दर्श सूक्ष्म अव्याबाध अवगाहन अगुरुलघु ।
४. अन्तिम शरीरसे ।
५. शरीररहित ।
६. मूलग्रन्थ (७४ गाथा) देवसेनसूरिका प्राकृतमें है, उसका यह अनुवाद है ।

भाषा छन्दकारकी प्रार्थना

सम्यकदरसन ग्यान, चारित सिवकारन कहे।
नय व्यवहार प्रमान, निहचैं तिहुमैं आतमा ।।७५।।
लाख बातकी बात, कोटि ग्रन्थकौ सार है।
जो सुख चाहौ भ्रात, तो आतम अनुभौ करौ ।।७६।।
लीजौ पंच सुधारि, अरथ छंद अच्छर अमिल।
मो मति तुच्छ निहारि, छिमा धारियौ उरविषैं ।।७७।।
द्यानत तत्त्व जु सात, सार सकलमैं आतमा।
ग्रन्थ अर्थ यह भ्रात, देखौ जानौ अनुभवौ ।।७८।।

इति तत्त्वसार

■

परिशिष्ट

गाथानुक्रमणिका

संस्कृत टीकागत अवतरण गाथादि अनुक्रमणिका

टीकागत-ग्रन्थ-नाम सूची

एकत्वसप्तति	गा० ५८ टीका
तत्वार्थवृत्ति	गा० ५४ टीका
त्रैलोक्यदीपक	गा० ६० टीका

•

टीकाकार-रचित श्लोक सूची

		श्लोक
अभवदमलकीर्त्ति	प्रशस्ति	७
इति कतिपयवर्णैः	,,	३
इति तत्त्वं स्व-परगतं प्रोक्तं	,,	२
गुरूणां पादपद्मं च	मंगलाचरण	३
ग्रन्थेऽस्मिन् भावनारूपे	प्रशस्ति	१
जिनमतमतसारं	पर्व ४ प्रारंभ	१
पुनः श्रीगौतमादीनां	मंगलाचरण	४
यज्ज्ञानं विश्वभावार्थं	,,	१
यावन्मेरु-मही-स्वर्ग	प्रशस्ति	४
रत्नत्रयात्मक सुनिर्मल	पर्व ५ प्रारम्भ	१
श्रीमन्माथुरगच्छ	प्रशस्ति	६
श्रीशुद्धभावोऽमरसिंहके	पर्व २ प्रारम्भ	१
सर्वज्ञभावसंसिद्धि	पर्व ६ प्रारम्भ	१
सर्वविद्-हिमवद्-वक्त्र	मंगलाचरण	२
सिद्धाःसिद्धि प्रदास्ते स्युः	प्रशस्ति	५
स्वगततत्त्वमिदं शिवसौख्यदं	पर्व ३ प्रारम्भ	१

•

टीका-गत-विशिष्ट-नाम-सूची

अमरसिंह	पर्व २	श्लोक १
	गाथा ७३	टीका
अमलकीर्त्ति	प्रशस्ति	श्लोक ७
क्षेमकीर्त्ति	,,	श्लोक ६
लक्ष्मण	गाथा ७३	टीका
शिवकुमार	गाथा ७३	टीका
श्रीपूज्यपाददेव	गाथा ५४	टीका
संयमकीर्त्ति	प्रशस्ति	श्लोक ६
हेमकीर्ति	,,	श्लोक ६

•

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	३	य बोहणट्ठं	पबोहणट्ठं
२९	५	विकलपो	अविकलपो
३२	७	सुक्खकारणं	मोक्खकारणं
३२	२५	प्रयोजभूत	प्रयोजनभूत
३८	६	मणु स्सो	मणुस्सो
४२	३	मोहे	मोहो
४२	१०	मोहे	मोहो
४५	१७	(बहिरंतर-उहवियप्प)	(बहिरंतर-उहयवियप्प)
५०	१४	९९९३	९९९३५
६४	३	मुक्तिसुखेप्तितम्	मुक्तिसुखेप्सितम्
६५	२८-२९	मिलियाणं	मिलियाणां
१०२	११	परत्मायं	परात्मायं
१०२	१७	शुरू	शुद्ध

■

તત્ત્વસાર

ગુજરાતી અનુવાદની પ્રસ્તાવના

શુદ્ધ આત્માના ધ્યાનની સાધનામાં વિશિષ્ટપણે પ્રેરણા આપનારો, તત્ત્વજ્ઞાનનો આ એક મહાન પ્રાચીન ગ્રંથ છે, જેની રચના એક હજારથી પણ વધારે વર્ષો પૂર્વે થયેલી છે.

આ ગ્રંથમાં પ્રતિપાદિત થયેલા વિષયોનું સવિસ્તર વર્ણન તો હિંદી વિભાગની અનુક્રમણિકામાં આપ્યું છે ત્યાંથી અવલોકવું. ગુજરાતી વાચકવર્ગને માટે અહીં તો માત્ર મુખ્ય-મુખ્ય વિષયોનું સંક્ષિપ્ત દિશાસૂચન કર્યું છે.

આ ગ્રંથમાં કુલ ૭૪ ગાથાઓ છે. મંગળાચરણપૂર્વક પહેલી નવ ગાથાઓમાં આત્મતત્ત્વને મુખ્ય કરીને સાત તત્ત્વોનું સંક્ષિપ્ત વર્ણન છે. પછીથી ચૌદ ગાથાઓમાં નિર્ગ્રંથનું સ્વરૂપ, મોક્ષની સામગ્રી, પ્રમાદનો ત્યાગ અને આત્મધ્યાન કરવાની પ્રેરણા કરીને ગુણસ્થાન-માર્ગણાસ્થાનનું વર્ણન કર્યું છે. પછીથી દસ ગાથાઓમાં ભેદજ્ઞાનનું-વિવેકજ્ઞાનનું માહાત્મ્ય, મનોજય અને ઇન્દ્રિયજયની આવશ્યકતા તથા દેહદેવળમાં આત્મદેવનાં દર્શન કરવા માટે રાગદ્વેષ ઘટાડવાની જરૂરિયાત દર્શાવી છે. પછીની ઓગણીસ ગાથાઓમાં ધ્યાનની સિદ્ધિમાં તત્ત્વજ્ઞાનપ્રાપ્તિની ઉપયોગિતા, નિર્મળ-સ્થિર ચિત્તથી આત્મદર્શનનો લાભ, અને વારંવાર આત્મભાવના કરવાથી અને સમતાભાવનો અભ્યાસ કરવાથી શુદ્ધ આત્માના અનુભવ પ્રત્યે વળી શકાય છે, એમ પ્રતિપાદન કર્યું છે. પછીથી છ ગાથાઓમાં, આત્માના અનુભવ વડે વર્તમાન જીવનમાં પણ અતીન્દ્રિય આનંદનો અનુભવ થઈ શકે છે, માટે ધ્યાનરૂપી શસ્ત્ર વડે મનને સ્થિર કરીને નિર્વિકલ્પ થવું, એવી પ્રેરણા કરી છે. છેલ્લી તેર ગાથાઓમાં, કર્મોના સેનાપતિ મોહનો નાશ થતાં, જ્ઞાનાવરણીય કર્મોનો પણ નાશ થાય છે જેથી પ્રથમ દેહસહિત પરમાત્મપદ (અરિહંતપદ) અને પછી દેહરહિત પરમાત્મપદ (સિદ્ધપદ) પ્રગટે છે જેથી સાધક પરમ જ્ઞાનાનંદદશાનો અનુભવ કરે છે, એમ પ્રતિપાદન કર્યું છે. સમાપ્તિમાં, સિદ્ધ પરમાત્માને નમસ્કાર કરી, ફરીથી શુદ્ધ-આત્માનું અને પંચ પરમગુરુઓનું ધ્યાન કરવામાં ઉત્સાહ અને પ્રેરણા આપી આશીર્વાદ આપ્યા છે.

આ ગ્રંથનો ગુજરાતી અનુવાદ કરવામાં બા. બ્ર. શ્રી હિંમતભાઈ ચીનુભાઈ શાહે ખૂબ પ્રેમપરિશ્રમ લીધો છે, તથા તેને સાંગોપાંગ તપાસી યોગ્ય સૂચનો પંડિત શ્રી બાબુભાઈ જૈને કરેલ છે, જેથી તે બન્ને ધર્મપ્રેમી ભાઈઓનો અમે આભાર માનીએ છીએ.

તત્ત્વજ્ઞાનના અને અધ્યાત્મના પ્રાચીન ગ્રંથોનો પદ્ધતિસર અને અર્વાચીન વૈજ્ઞાનિક ઢબથી સંપાદન-અનુવાદ કરવાનો આ અમારો પ્રથમ પ્રયત્ન છે. આશા છે કે મુમુક્ષુઓ, સ્વાધ્યાયપ્રેમીઓ અને વિદ્વદ્વર્ગ આ ગ્રંથનો યથાયોગ્ય આદર કરી, તેમાં રહી ગયેલી ક્ષતિઓ પ્રત્યે અમારું ધ્યાન દોરી યોગ્ય સૂચનો કરશે. સંસ્થા તરફથી આવા સૂચનોનો સત્કાર કરીશું, જેથી પ્રકાશન વધારે ઉપયોગી અને ઉપકારક થઈ શકે.

અંતમાં, જ્ઞાનદાનમાં જેઓએ ઉદાર ફાળો આપ્યો છે તેઓનો આભાર માની, સૌ કોઈને ગ્રંથનો સ્વ-પરકલ્યાણ અર્થે ઉપયોગ કરવા વિનંતી કરીએ છીએ.

નિવેદક : સાહિત્ય પ્રકાશન સમિતિ
સત્શ્રુતસેવા-સાધના કેન્દ્ર, અમદાવાદ.

ॐ

શ્રી દેવસેનાચાર્ય–વિરચિત

તત્ત્વસાર

(બ્રા. બ્ર. શ્રી હિંમતભાઈ ચીનુભાઈ શાહ (માંડળવાળા) કૃત ગુજરાતી ભાષાંતર)

(૧) આત્મધ્યાનરૂપ અગ્નિવડે જ્ઞાનાવરણાદિ સર્વ કર્મોને ભસ્મ કરનાર તથા પોતાના વીતરાગ પરમ–શુદ્ધસ્વભાવને પ્રાપ્ત કરનાર એવા સિદ્ધ પરમાત્માઓને નમસ્કાર કરીને (હું દેવસેનાચાર્ય) સુંદર 'તત્ત્વસાર'ને કહીશ. ૧.

(૨) આ લોકમાં પૂર્વે થયેલા આચાર્યોએ ધર્મની પ્રવૃત્તિ કરવા માટે અને ભવ્ય-જીવોને સમજાવવા માટે બહુ ભેદરૂપે તત્ત્વને કહ્યું છે. ૨

(૩) વળી એક સ્વગત-તત્ત્વ છે તથા બીજું પરગત-તત્ત્વ કહેવામાં આવ્યું છે. સ્વગત-તત્ત્વ એ પોતાનો આત્મા છે, બીજું પરગત-તત્ત્વ પાંચેય પરમેષ્ઠી છે. ૩

(૪) તે પંચપરમેષ્ઠીઓના વાચક અક્ષરરૂપ મંત્રોનું ધ્યાન કરવાથી ભવ્ય મનુષ્યોને બહુ અધિક પુણ્ય બંધાય છે, અને પરમ્પરાથી મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે. ૪

(૫) ફરી જે સ્વગત-તત્ત્વ છે, તે સવિકલ્પ તથા અવિકલ્પના ભેદથી બે પ્રકારનું છે. સવિકલ્પ સ્વતત્ત્વ આસ્રવસહિત છે, તથા નિર્વિકલ્પ સ્વતત્ત્વ આસ્રવરહિત છે. ૫

(૬) જ્યારે ઇન્દ્રિયોના વિષયોની ઇચ્છાઓ વિરામ પામી જાય છે, ત્યારે મનના વિચાર રહેતા નથી (સંકલ્પ-વિકલ્પ બંધ થાય છે); તે સમયે અવિકલ્પ સ્વતત્ત્વ પ્રગટ થાય છે, અને આ આત્મા સ્વભાવમાં તન્મય હોય છે. ૬

(૭) જ્યારે પોતાનું મન નિશ્ચળ થાય છે અને સર્વ ભેદરૂપ વિચારોના વિકલ્પસમૂહ નાશ પામે છે, ત્યારે વિકલ્પરહિત, અભેદ નિશ્ચલ, નિત્ય, આત્માનો શુદ્ધ સ્વભાવ સ્થિર થાય છે. ૭

(૮) નિશ્ચયથી જે આત્માનો શુદ્ધ વીતરાગભાવ છે, તે જ આત્મા છે, તેને સમ્યક્‌દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન અને સમ્યક્‌ચારિત્ર પણ કહેવાય છે; અથવા તે શુદ્ધ ચેતનારૂપ છે. ૮

(૯) જે આ અવિકલ્પ સ્વતત્ત્વ છે તે જ સાર છે, તે જ મોક્ષનું કારણ છે. તે શુદ્ધ તત્ત્વને સમ્યક્‌પ્રકારે જાણીને, નિર્ગ્રન્થ બનીને (તેનું) ધ્યાન કરો. ૯

(૧૦) આ લોકમાં જેણે મન વચન કાય એ ત્રણે યોગોથી બાહ્યાંતર પરિગ્રહોને ત્યાગી દીધા છે તે જિનેન્દ્રના વેષને ધારણ કરનારા શ્રમણ અથવા નિર્ગ્રંથમુનિ કહેવાય છે. ૧૦

(૧૧) જે, લાભ તથા અલાભમાં, સુખ તથા દુઃખમાં, તે જ પ્રમાણે જીવન તથા

મરણમાં સમાનભાવ રાખે છે તથા બંધુ તેમ જ શત્રુમાં સમભાવધારી છે, તે જ યોગી ધ્યાન કરવાની શક્તિ ધરાવે છે. ૧૧

(૧૨) ભવ્યપુરુષને, જેમ-જેમ કાળાદિ લબ્ધિઓ નિકટ આવતી જાય છે, તેમ-તેમ મોક્ષ માટેની સર્વ ઉત્તમ સામગ્રીઓ નિશ્ચયથી પ્રાપ્ત થતી જાય છે. ૧૨

(૧૩) જેમ બંને પગરહિત મનુષ્ય મેરુપર્વતના શિખર પર ચઢવાનું ચાહે છે, તે જ પ્રમાણે ધ્યાનથી રહિત સાધુ કર્મોનો ક્ષય કરવા ચાહે છે. ૧૩

(૧૪) કેટલાય શંકાશીલ તથા વિષયસુખના અભિલાષી, ઇન્દ્રિય-વિષયોમાં આસક્ત (વિષયભોગમાં પોતાનું હિત માનવાવાળા), સન્માર્ગ જે રત્નત્રયધર્મ છે તેનાથી તદ્દન ભ્રષ્ટ છે. તે એ પ્રકારે કહે છે કે 'આ આત્મધ્યાન કરવાનો કાળ નથી' (અર્થાત્ વર્તમાનકાળ ધ્યાન કરવાને યોગ્ય નથી). ૧૪

(૧૫) આજે પણ (આ પંચમકાળમાં) રત્નત્રયના ધારક મનુષ્યો આત્માનું ધ્યાન કરીને સ્વર્ગલોકમાં જાય છે. ત્યાંથી ચ્યવીને મનુષ્યકુળમાં ઉત્પન્ન થઈ મોક્ષને પામે છે. ૧૫

(૧૬) માટે, જો શાશ્વત (અતીન્દ્રિય-) સુખને ચાહો છો તો રાગ-દ્વેષ અને મોહને ત્યાગી સદા ધ્યાનનો અભ્યાસ કરો, પોતાના જ આત્માનું ધ્યાન કરો. ૧૬

(૧૭) નિશ્ચયથી આત્મા દર્શન અને જ્ઞાનગુણ-પ્રધાન છે. ક્ષેત્રની અપેક્ષાએ અસંખ્યાત પ્રદેશોને ધારણ કરવાવાળો છે (લોકમાં વ્યાપી શકે છે), અમૂર્તિક (સ્પર્શ, રસ, ગંધ અને વર્ણરહિત) છે, વર્તમાનમાં પોતાના શરીરપ્રમાણ આકારધારી છે (પોતાના શરીરમાં વ્યાપક છે); એ પ્રમાણે આત્મા જાણવા યોગ્ય છે. ૧૭

(૧૮) રાગાદિ વિભાવોને તથા બહિરંતર બંને પ્રકારના વિકલ્પો (વિચારો–)ને છોડીને, મનને એકાગ્ર કરી પોતાના આત્માને સર્વમલથી રહિત નિરંજન શુદ્ધરૂપ ધ્યાવવો. ૧૮

(૧૯) જેને ક્રોધ નથી, માન નથી, માયા નથી તથા લોભ નથી, કોઈ શલ્ય નથી, છ પ્રકારની લેશ્યાઓ નથી, અને જેને જન્મ-જરા-મરણ નથી તે નિરંજન હું છું, એમ કહેવામાં આવ્યું છે. ૧૯

(૨૦) તે નિરંજન આત્માને (બોંતેર કલાઓમાંની) ન કોઈ કલા છે, ન કોઈ (છ સંસ્થાનોમાંનું) સંસ્થાન છે, ન કોઈ માર્ગણા કે ગુણસ્થાન છે, ન કોઈ જીવસમાસ કે ન કોઈ સંયમલબ્ધિનાં સ્થાન છે, ન કોઈ બંધનાં સ્થાન કે ન કોઈ ઉદયનાં સ્થાન છે. ૨૦

(૨૧) વળી જેને ન કોઈ સ્પર્શ, રસ, રૂપ, ગંધ કે શબ્દાદિક છે, તે શુદ્ધ ચૈતન્યભાવધારી નિરંજન હું છું, એમ કહ્યું છે. ૨૧

(૨૨) પરંતુ, વ્યવહારનયથી આ સર્વ નાના પ્રકારના ભેદોવાળી નોકર્મ તથા કર્મજનિત પર્યાયો જીવની છે, એમ કહેવામાં આવ્યું છે. ૨૨

(૨૩) દૂધ અને પાણીના ન્યાયની જેમ પોતપોતાના સ્વભાવમાં રહીને એમનો (જીવ અને કર્મ-નોકર્મનો) મેળાપ-સંબંધ એક જેવો જાણવા યોગ્ય છે. ૨૩

(૨૪) જેમ કોઈ પુરુષ તર્કબુદ્ધિથી પાણી અને દૂધને ભિન્ન-ભિન્ન સ્વભાવવાળા જાણી લે છે, તેમ સમ્યગ્જ્ઞાની પુરુષ પણ ઉત્તમ ધ્યાન વડે જીવ અને અજીવનો ભેદ (ચેતન-અચેતનનો ભિન્ન-ભિન્ન સ્વભાવ) જાણી લે છે. ૨૪

(૨૫) ધ્યાન વડે કરીને પુદ્ગલ અને જીવનો તથા કર્મોનો ભેદ કરો. (પુદ્ગલ તથા કર્મ-નોકર્મથી ભિન્ન એવો–) સિદ્ધસ્વભાવી પરબ્રહ્મસ્વરૂપ પોતાનો આત્મા ગ્રહણ કરવા યોગ્ય છે. ૨૫

(૨૬) સિદ્ધગતિમાં જેવા સર્વમલરહિત જ્ઞાનસ્વરૂપી સિદ્ધ ભગવાન બિરાજમાન છે, તેવો જ દેહની અંદર બિરાજમાન પરમબ્રહ્મસ્વરૂપ પોતાનો આત્મા જાણવો જોઈએ. ૨૬

(૨૭) જે સિદ્ધભગવાન દ્રવ્યકર્મ, ભાવકર્મ અને નોકર્મથી રહિત છે, કેવલજ્ઞાનાદિ અનંતગુણોથી પૂર્ણ છે તે જ હું સિદ્ધ છું, શુદ્ધ છું, નિત્ય છું, એક છું અને નિરાવલંબી છું. ૨૭

(૨૮) હું સિદ્ધ છું, શુદ્ધ છું, અનંતજ્ઞાનાદિ ગુણોથી સમૃદ્ધ છું, દેહ-પ્રમાણ છું, નિત્ય છું, અસંખ્યાતપ્રદેશી છું અને અમૂર્ત છું, (એવી ભાવના કરવી). ૨૮

(૨૯) મનના સંકલ્પો બંધ થઈ ગયા પછી અને ઇન્દ્રિય-વિષયોના વ્યાપાર રોકાઈ ગયા પછી, યોગીઓને ધ્યાનવડે પરમબ્રહ્મસ્વરૂપ એવો આત્મા પ્રગટ થઈ જાય છે (પ્રગટે છે). ૨૯

(૩૦) જેમ-જેમ મનનું ભ્રમણ અને પાંચે ઇન્દ્રિયોના વિષયોની ઇચ્છાઓ મંદ થતી જાય છે, તેમ-તેમ આત્મા આત્માને (–પોતાના શુદ્ધસ્વરૂપને) પ્રગટ કરતો જાય છે; આકાશમાં સૂર્યની જેમ. ૩૦

(૩૧) યતિના મન-વચન-કાયાના યોગો જો નિર્વિકારભાવને પ્રાપ્ત થઈ જાય છે, તો આત્મા પોતાના પરમાત્મસ્વરૂપને પ્રગટ કરી લે છે. ૩૧

(૩૨) મન-વચન-કાયાના યોગો રોકાઈ જવાથી યોગીને નિશ્ચયથી કર્મનો આસ્રવ રોકાઈ જાય છે, તથા ચિરકાળનાં બાંધેલાં કર્મો ફળ આપ્યા વિના સ્વયં નિર્જરી જાય છે. ૩૨

(૩૩) જ્યાં સુધી મન પર-પદાર્થોમાં વિહ્વળ છે (આસક્ત છે), ત્યાં સુધી ઘોર તપશ્ચર્યા કરતાં છતાં પણ ભવ્યજીવ મોક્ષને પામી શકતો નથી; પરંતુ શુદ્ધ ભાવોમાં રત (લીન) થવાથી શીઘ્ર જ મોક્ષને પામે છે. ૩૩

(૩૪) દેહાદિ સર્વ પરદ્રવ્યો (આત્માથી ભિન્ન) છે. જ્યાં સુધી (જીવ) તેના પર મમત્વ (રાગ-દ્વેષ-મોહ) કરે છે, ત્યાં સુધી તે પરસમયરત (પરપદાર્થમાં આસક્ત એવો) છે, તેથી નાના પ્રકારનાં કર્મોને બાંધે છે. ૩૪

(૩૫) ઇન્દ્રિયના વિષયોમાં આસક્ત મૂઢ, કષાયસંયુક્ત અજ્ઞાની જીવ સદાય કોઈમાં રોષ (દ્વેષ, ક્રોધ) કરે છે ને કોઈમાં સંતોષ માને છે (પ્રસન્ન થાય છે), પરંતુ જ્ઞાનીપુરુષ એથી વિપરીત સ્વભાવવાળા હોય છે. ૩૫

(૩૬) આત્મધ્યાની યોગી વિચારે છે કે, અહીં (આ જગતમાં) ચેતનારહિત પદાર્થ (સ્થૂલ પુદ્‌ગલ શરીરાદિ) દેખાય છે, ચેતનાવાળો પદાર્થ દેખાતો નથી; તેથી હું મધ્યસ્થ કોના પ્રત્યે રોષ કરું ને કોનામાં સંતોષ પામું (રાજી થાઉં) ? ૩૬

(૩૭) ત્રણે ભુવનમાં રહેલા બધા જીવો પોતાના જેવા જ દેખાય છે. તેથી તે મધ્યસ્થ યોગી કોઈમાં ન તો રોષ કરે છે, ન તો કોઈમાં સંતોષ પામે છે. ૩૭

(૩૮) નિશ્ચયનયથી સર્વ જીવો જન્મ-મરણથી રહિત, આત્મપ્રદેશોની અપેક્ષાએ (લોકાકાશના પ્રદેશપ્રમાણ અસંખ્યાત આત્મપ્રદેશોની અપેક્ષાએ) સર્વ સમાન તથા આત્મીય ગુણોમાં બધા સરખા અને જ્ઞાનમય છે. ૩૮

(૩૯) જે કોઈ જ્ઞાની બંને (નિશ્ચય અને વ્યવહાર અથવા દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક) નય વડે આ પ્રકારે વસ્તુના સ્વભાવને સમજે છે, તેનું મન રાગ-દ્વેષ-મોહના ભાવોથી ડોલાયમાન (ડોલંડોલા) થતું નથી. ૩૯

(૪૦) જેનું મનરૂપી જળ રાગ-દ્વેષાદિ વિકારોથી ચલાયમાન થતું નથી, તે યોગી નિજતત્ત્વને (શુદ્ધ આત્મસ્વરૂપને) દેખે છે—અનુભવે છે; તેનાથી વિપરીત પુરુષ (અર્થાત્ જે રાગી-દ્વેષી-મોહી છે તે) નિશ્ચયથી દેખી શકતો નથી. ૪૦

(૪૧) જેવી રીતે સરોવરનું જળ સ્થિર થવાથી અંદર પડેલું રત્ન નિશ્ચયથી દેખાય છે, તેવી રીતે મનરૂપી જળ સ્થિર થવાથી નિર્મલભાવમાં પોતાનો આત્મા દેખાય છે (અનુભવમાં આવે છે). ૪૧

(૪૨) ઇન્દ્રિયોના વિષયોથી રહિત નિર્મળ વીતરાગ-સ્વભાવવાળું એવું પોતાનું આત્મતત્ત્વ દેખવામાં (અનુભવવામાં) આવે છે ત્યારે ક્ષણાર્દ્ધમાં (અડધી ક્ષણમાં) યોગીને દેવત્વ—સર્વજ્ઞત્વ પ્રગટ થાય છે. ૪૨

(૪૩) જ્ઞાનમયી નિજતત્ત્વ સિવાય અન્ય સર્વ ભાવો પરગત છે, (માટે) તેમને છોડીને શુદ્ધ-સ્વભાવવાળા પોતાના આત્માની જ ભાવના કરવી જોઈએ. ૪૩

(૪૪) જે કોઈ યોગી સ્વસંવેદનજ્ઞાનમાં ઉપયુક્ત થઈને પોતાના આત્માને ધ્યાવે છે, તે નિર્મલ રત્નત્રયના ધારક સાધુ વીતરાગ બની જાય છે. ૪૪

(૪૫) જે યોગી સચેતન અને શુદ્ધભાવમાં સ્થિત આત્માને ધ્યાવે છે, તેને આ લોકમાં (અથવા આ કલિકાલમાં) નિશ્ચય સમ્યક્‌દર્શન-જ્ઞાન-ચારિત્ર કહેવામાં આવે છે. ૪૫

(૪૬) ધ્યાનમાં સ્થિત યોગી જો પોતાના જ આત્માનો અનુભવ (સ્વ-સંવેદન) ન કરે, તો જેમ ભાગ્યહીન પ્રાણી રત્નને પામી શકતો નથી, તેમ તે શુદ્ધ આત્માને પામી શકતો નથી. ૪૬

(૪૭) જે, શરીરનાં સુખમાં રાગી છે, એવો વિચાર-રહિત જીવ નિત્ય ધ્યાન કરવા છતાં પણ વિકાર-રહિત શુદ્ધાત્મતત્ત્વને પામી શકતો નથી. (અથવા શરીર-સુખનો રાગી જીવ વગર વિચાર્યે—જડ-ચેતનનો યથાર્થ વિચાર–વિવેક કર્યા વિના તત્ત્વને ધ્યાવવા છતાં સ્વરૂપની પ્રાપ્તિ કરી શકતો નથી). ૪૭

(૪૮) શરીર સદાકાળ મૂર્ખ (જડ) છે, વિનાશરૂપ છે, ચેતનાથી રહિત છે. જે તેની (આવા શરીરની) મમતા કરે છે તે બહિરાત્મા છે. ૪૮

(૪૯) આ શરીરના રોગ-સડન-પડન-જરા તથા મરણરૂપ સ્વભાવને દેખીને જે ભવ્ય જીવ આત્માને ધ્યાવે છે, તે (ઔદારિકાદિ-) પાંચ પ્રકારનાં શરીરોથી મુક્ત થઈ જાય છે. ૪૯

(૫૦) જે કર્મ તપ દ્વારા ઉદયમાં લાવીને ભોગવવા યોગ્ય હોય છે, તે જ કર્મ જો સ્વયં ઉદયમાં આવી જાય તો તે મોટો લાભ છે એમાં કોઈ સંદેહ નથી. (સમભાવી ભવ્યજીવ ઉદયમાં આવેલાં શુભાશુભ કર્મોને ભોગવતાં રાગદ્વેષ કરતો નથી, પણ તે તેવા ઉદયને મોટો લાભ ગણે છે). ૫૦

(૫૧) કર્મોનાં ફળને ભોગવતાં જે રાગદ્વેષ કરતા નથી, તેવા જ્ઞાનીપુરુષ પૂર્વે બાંધેલાં કર્મોનો ક્ષય કરે છે, અને નવીન કર્મો બાંધતા નથી. ૫૧

(૫૨) જો (તે ધ્યાન કરનાર યોગી) કર્મનાં ફળને ભોગવતાં મોહને વશીભૂત થઈ (રાગ-દ્વેષરૂપ-) શુભાશુભ ભાવ કરવા લાગે તો તે જીવ ફરીથી જ્ઞાનાવરણાદિ આઠ કર્મોને બાંધે છે. ૫૨

(૫૩) જ્યાં સુધી યોગી પોતાના મનમાં પરમાણુમાત્ર પણ રાગ રાખે છે (અણુમાત્ર પણ રાગનો ત્યાગ ન કરે), ત્યાં સુધી તે પરમાર્થજ્ઞાતા શ્રમણ પણ કર્મોથી છૂટી શકતો નથી. ૫૩

(૫૪) (પૂર્વોપાર્જિત શુભાશુભકર્મનાં ફળરૂપ એવાં-) સુખ-દુઃખને (સમભાવથી) સહન કરતો જ્ઞાનીપુરુષ જ્યારે ધ્યાનમાં દૃઢચિત્ત હોય છે, ત્યારે તેનું તપ કર્મોની નિર્જરાનું કારણ હોય છે—એમ કહેવામાં આવ્યું છે. ૫૪

(૫૫) જે જ્ઞાની જીવ પોતાના સ્વભાવને છોડતો નથી, અને પરભાવોમાં પરિણમતો નથી, પરંતુ પોતે પોતાના સ્વરૂપને ધ્યાવે છે, તે (ધ્યાતા–)ને પ્રગટરૂપથી સંવર તથા નિર્જરારૂપ કહ્યો છે. ૫૫

(૫૬) જે જીવ ચિત્તને સ્થિર કરી, સર્વ પરભાવોનો ત્યાગ કરીને પોતાના આત્મ-સ્વભાવનો અનુભવ કરે છે, ભવ્યજીવ જ સમ્યક્દર્શન-જ્ઞાન-ચારિત્ર જાણવા યોગ્ય છે. ૫૬

(૫૭) જે જીવ નિશ્ચયનયનો આશ્રય લે છે, તેનો જે આત્મા છે તે જ જ્ઞાન છે અને જે જ્ઞાન છે તે જ સમ્યગ્દર્શન છે, તે જ સમ્યક્ચારિત્ર છે અને શુદ્ધ જ્ઞાનચેતના પણ તે જ છે. ૫૭

(૫૮) (રાગ-દ્વેષરૂપ–) બંને ભાવોનો નાશ થતાં પોતાના શુદ્ધ વીતરાગ આત્મિક સ્વભાવની પ્રાપ્તિ થવાથી યોગીની અંદર યોગની શક્તિથી પરમ આનંદ પ્રગટ થાય છે. ૫૮

(૫૯) એવા યોગાભ્યાસથી શું લાભ કે જે યોગમાં એવી શક્તિ નથી કે આત્માનુભવથી પ્રાપ્ત સુખકારી પરમાનંદ પ્રગટાવી શકે? (જે યોગ, આત્માનુભવથી પ્રગટ થતો સુખકારી પરમાનંદ પ્રગટાવી ન શકે તેવા યોગ-સાધનથી શો લાભ?) ૫૯

(૬૦) જ્યાં સુધી યોગના ધારક એવા યોગીનું મન સહેજ પણ ચંચળ રહે છે, ત્યાં સુધી પરમ સુખકારી પરમાનંદ ઉત્પન્ન થતો નથી. ૬૦

(૬૧) સર્વ વિકલ્પો બંધ થઈ જવાથી કોઈ એક એવો અવિનાશી ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે કે, જે આત્માનો સ્વભાવ છે. નિશ્ચયથી તે જ ભાવ મોક્ષનું કારણ છે. ૬૧

(૬૨) આત્મસ્વભાવમાં સ્થિત એવા યોગી ઉદયમાં આવેલા ઇન્દ્રિયોના વિષયોને જાણતા (અનુભવતા) નથી, પરંતુ પોતાના આત્માને જ જાણે છે અને તે (રાગાદિ-રહિત) સુવિશુદ્ધ આત્માને જ દેખે છે. ૬૨

(૬૩) જે યોગીએ શુદ્ધ આત્મિક તત્ત્વની ઉપલબ્ધિ કરી લીધી છે, તે યોગીનું મન પાંચ ઇન્દ્રિયોના વિષયોમાં રમતું નથી, પરંતુ સર્વ આશા-તૃષ્ણાથી રહિત થઈ (તે મન) આત્માની સાથે એકમેક થઈ જાય છે અને ધ્યાનરૂપી શસ્ત્રથી મરી જાય છે. ૬૩

(૬૪) જ્યાં સુધી સર્વ મોહનો ક્ષય થતો નથી, ત્યાં સુધી આ મન મરતું નથી. મોહનો ક્ષય થતાં બાકીનાં ઘાતિયાકર્મ પણ નષ્ટ થઈ જાય છે. ૬૪

(૬૫) જેમ રાજાનો ઘાત થવાથી પ્રભાવરહિત સેના સ્વયં નષ્ટ થઈ જાય છે, તેમ મોહરાજાનો નાશ થવાથી સમસ્ત ઘાતી કર્મોનો નાશ થઈ જાય છે. ૬૫

(૬૬) ચારે ઘાતીકર્મોનો ક્ષય થઈ જવાથી લોકાલોકને પ્રકાશિત કરવાવાળું અને ત્રણે કાળની પર્યાયોને જાણવાવાળું એવું પરમ નિર્મલ કેવળજ્ઞાન પ્રગટ થાય છે. ૬૬

(૬૭) (કેવળજ્ઞાન ઉત્પન્ન થયા પછી) અરિહંત અવસ્થામાં ત્રણે જગતનાં પ્રાણીઓથી પૂજિત બનીને, શેષ કર્મજાળનો (અઘાતિયા કર્મોનો પણ) ક્ષય કરીને અભૂતપૂર્વ લોકાગ્રનિવાસી સિદ્ધ ભગવાન બની જાય છે. ૬૭

(૬૮) સિદ્ધ પરમાત્મા ગમનાગમનથી રહિત, પરિસ્પંદ અને હલન-ચલનથી રહિત છે; તથા અવ્યાબાધ સુખમાં લીન અને અનંતજ્ઞાનાદિ પરમાર્થ ગુણ અથવા મુખ્ય આઠ ગુણ સહિત છે. ૬૮

(૬૯) (સિદ્ધ પરમાત્મા) ઇન્દ્રિયોના ક્રમથી રહિત, એકી સાથે સર્વ લોકાલોકને તથા અનંત પર્યાય અને ગુણુથી સંયુક્ત એવાં સર્વ મૂર્ત્ત-અમૂર્ત્ત દ્રવ્યોને જાણે છે અને દેખે છે. ૬૯

(૭૦) (અલોકમાં) ધર્મદ્રવ્યને અભાવ હોવાથી તે સિદ્ધપરમાત્માનું લોકથી આગળ અલોકમાં ગમન થતું નથી, તેથી તેઓ લોકાગ્રનિવાસી થઈ ત્યાં અનંતકાળ બિરાજમાન રહે છે. ૭૦

(૭૧) મુક્તજીવ ઊર્ધ્વગમન-સ્વભાવી હોય છે, તે માટે ધર્મદ્રવ્ય હોવા છતાં તે (મુક્તજીવ) નીચે અથવા તીરછે જતા નથી. ૭૧

(૭૨) વળી શરીરથી રહિત, અનંત, ચરમશરીરથી કિંચિત્ ઓછા આકારવાળા, જન્મ તથા મરણથી વિમુક્ત એવા સર્વ સિદ્ધોને હું (દેવસેનાચાર્ય) નમસ્કાર કરું છું. ૭૨

(૭૩) જે તત્ત્વમાં લીન બનીને જીવો ભયાનક સંસારરૂપી સમુદ્રને તરી જાય છે, તે ભવ્યજીવોને શરણભૂત સ્વગત અને પરગત તત્ત્વ સદા વૃદ્ધિને પ્રાપ્ત થાઓ, જયવંત વર્તો! ૭૩

(૭૪) મુનિનાથ શ્રી દેવસેનાચાર્ય-રચિત આ 'તત્ત્વસાર'ને સાંભળીને જે કોઈ સમ્યગ્દષ્ટિ જીવ તેની ભાવના કરે છે, તે અવિનાશી સુખને પામે છે. ૭૪

*

શ્રી સત્શ્રુતસેવા-સાધના કેન્દ્રનાં પ્રકાશનો

મુદ્રક : મધુ પ્રિન્ટરી દૂધવાળી પોળ, ઘીકાંટા રોડ અમદાવાદ.